श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचिता:

भक्तिहेतुनिर्णय:

भक्तिहंस:

षड्विंशतिपत्राणि

श्रीरामनवमीनिर्णय:

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचिता:

भक्तिहेतुनिर्णय:

भक्तिहंस:

षड्विंशतिपत्राणि

श्रीरामनवमीनिर्णय:

प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट,
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पुणे-बेंगलोर रोड़, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र. ४१६००८.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
जुहु चौथा रस्ता, विलेपार्ले,
मुम्बई.

प्रथमसंस्करण : श्रीप्रभुचरणप्राकट्योत्सव वि.सं.२०७८,
श्रीवल्लभाब्द ५४४. ई.व. २०२१

प्रति : ५००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : पूर्वी प्रेस,
१, लोहनगर, गोंडल रोड़,
राजकोट.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	१०	प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी)	निःशुल्क	पुष्टिप्रवेश १–२ ले. : गो.शरद् (गुज)	२०
पुष्टिप्रवेश–१–२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	१०	पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	२०	प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	५०
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद्	६५		

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा	अप्राप्य	साधनाप्रणाली संगोष्ठी	अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा	दुर्लभ	पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी	अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी	५०	सेवा–समर्पण विचारगोष्ठी	५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध	१००	जघन्याधिकार विचारगोष्ठी	८०
पुष्टिफलमीमांसा	१००		
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिबिर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच	२५		
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत–संक्षिप्तविवरण)	१००		

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा	२००	अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी	२००	प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	२००		
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क		

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	२०	पुष्टिपाठावली (गुजराती)	२०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ	१०		
पुरुषोत्तमसहस्रनाम–त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद)	२०		

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका	१०		
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद	१५		
अमृत वचनावली (गुजराती)	निःशुल्क	अमृत वचनावली (हिन्दी)	निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्–२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका पदच्छेद–अन्वय– शब्दपरिचय–वृत्तिपरिचय	१००
पुष्टिविधानम्–३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ–श्लोकार्थ–विवेचन–पादानुक्रमणिका	१५०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण	५०/७०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण	८०/१००

श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री	५००
श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित	५०
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत)	१०
गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	अप्राप्य
सेवा^हिन्दी (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
सेवा^गुज. (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती)	अप्राप्य
श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी	अप्राप्य
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
सेवाकौमुदी^(हिन्दी),विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म.	अप्राप्य
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया	अप्राप्य
षोडशग्रन्थगतउपदेशोअनेतेमनी६४वार्ताओ,लेखक:श्रीभूपेन्द्रभाटीया	अप्राप्य
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद	अप्राप्य
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद.	७०
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी)	१००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत	२००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत	२००

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी)	२५
आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव^गुज., लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव^हिन्दी, लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध	१००	द्वितीयस्कन्ध	१००
तृतीयस्कन्ध (१-२)	४००	दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण)	१५०

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य	निःशुल्क	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण	निःशुल्क
महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण	निःशुल्क		

गोशाला : मांडवी–कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण–कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज.

पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल,
गुजरात–३८९३५०. फोन : 02676-225171

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

☎ **टेलि कोन्फरन्स्–पुष्टिस्वाध्याय :** सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल–वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

पुष्टिविद्या
Pushti Vidya

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :** आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसुक्तियां, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
    खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
    खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
    खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्
ष. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
    खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
    खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
    खंड ३. द्वितीयाध्याय
    खंड ४. तृतीयाध्याय
    खंड ५. चतुर्थाध्याय
३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
    खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १-८)
        तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.
    खंड ४. जन्मप्रकरण
    खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
    खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
    खंड ७. तामसफलप्रकरण
    खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
    खंड ९. राजससाधन-फलप्रकरण
    खंड १०. सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण
    खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध
४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
    खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
    खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
    खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१ष
५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका
७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्
८. प्रस्थानरत्नाकर
९. विद्वन्मण्डनम्
१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली
११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि
१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी-गुजराती)
१३. वल्लभाख्यान (ससटीकोपेत) (हिन्दी)

१४. पुष्टिविधानम् गुजरातीपदावली, व्रज तथा संस्कृत संस्करण

१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृति-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्डः. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.

२१. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रवज्ञप्तयः.

२२. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.

२३. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२४. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) २५. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)

२६. विवेक (हिन्दी-गुजराती) २७. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)

२८. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी) २९. नवरत्नम् (गुजराती)

३०. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)

३१. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती) ३२. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)

३३. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती) ३४. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)

३५. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी) ३६. चतुःश्लोकी(हिन्दी)

३७. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)३८. गृहसेवा और व्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)

३९. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)

४०. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय) ४१. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)

४२. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज) ४३. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य

४४. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)

४५. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

४६. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४७. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४८. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४९. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५०. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५२. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५३. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५४. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५५. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५६. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५७. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५८. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
५९. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६०. अमृतका आचमन
६१. कृष्णएव तात्पर्यम्
६२. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६३. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६४. षोडशग्रन्थ परिचय
६५. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)
६६. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)
६७. सिद्धान्तवचनावली
६८. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)
६९. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक
७०. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो
७१. आत्मकथा : श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी.
७२. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा (लघु नाटक)
७३. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)
७४. शिक्षाश्लोका (गुजराती)
७५. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)
७६. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)
७७. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)
७७. भक्तिरस
७८. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति : राणाव्यास
७९. सुबोधिन्या (प्रथम स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध)

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-५६
विडियो/ओडियो प्रवचन और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे : पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र,
२१४, अमरदिप कोम्पलेक्ष, २-रजपुतपरा, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

प्रकाशकीय

श्रीमद्विठ्ठलनाथ प्रभुचरण विरचित मौलिक साहित्यके प्रकाशनके अन्तर्गत सर्वप्रथम [१]विद्वन्मण्डन [२]श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि [३]पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार [४]स्तोत्रविज्ञप्तयः [५]लघुग्रन्थाः के पुनर्मुद्रण-प्रकाशनके बाद [६-७-८]भक्तिहेतुनिर्णय भक्तिहंस तथा प्रभुचरणानां स्वकीयेभ्यः पत्राणि का नूतन प्रकाश्यमान संस्करण अतीव अभिनन्दनीय सौभाग्यका विषय है.

इनमें आद्य ग्रन्थद्वयी सर्वप्रथम हमारे पितामह गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी (बड़ा मन्दिर मुंबई) शुद्धाद्वैतसिद्धान्तकार्यालय द्वारा अपने विद्वान् बहनोई भट्ट श्रीबलभद्र शर्माजी द्वारा सम्पादित करके वि.सं.१९७१ में प्रकाशित करवाई थी. इन्हें उपलब्ध जो मातृकायें थी उसका विवरण यहां परिशिष्टमें संलग्न कर रहे हैं. बादमें द्वितीयावृत्ति हमारे पितृचरण गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज द्वारा पुष्टिमार्गीय युवक परिषद्के माध्यमसे वि.सं.२०१६-१७ में प्रकाशित करवाई गयी. तृतीय आवृत्ति वि.सं.२०३५ में इन दोनों ग्रन्थोंकी अतीव परिश्रमपूर्वक सुव्यवस्थित सम्पादन तथा गवेषणापूर्ण सम्पादकीयके साथ बनारस हिन्दु विश्वविद्यालयके दर्शनाध्यापक विद्वान श्रीकेदारनाथ मिश्रजी द्वारा स्वयं मैंने, अन्य भी कतिपय भगवदीयोंके सहयोगसे प्रकाशित करवाई थी. जैसा कि यहां परिशिष्टमें अवलोकन करनेसे देखा जा सकता है विद्वान् भट्ट श्रीबलभद्र शर्माजीको तो विभिन्न स्रोतोंसे भक्तिहंसकी ३ मातृकायें भक्तितरंगिणीकी ४ मातृकायें तरंगिणीतीर्थकी २ मातृकायें तथा विवेककी ३ मातृकायें प्राप्त हुयी थी. इन प्राचीन हस्तलिखित मातृकाओंके प्राप्तिस्रोतोंका विवरण यथामुद्रित परिशिष्टतया परखा जा सकता है. बादके सभी संस्करण उसी मुद्रित संस्करणके आधारपर प्रकाशित हुवे थे जिसमें प्रस्तुत चतुर्थ संस्करण भी अपवाद नहीं है.

इस ग्रंथकी विशेषता ये है कि जैसे 'नवरत्न'ग्रन्थ हमको आचार्यचरणने

गोविन्ददूबेको लिखे पत्रके रूपसे प्राप्त है वैसे भक्तिहंस और भक्तिहेतुनिर्णय ग्रन्थका प्रणयन भी मुरारी ब्राह्मणको (वै.बा.२५२।२।१३०) लिखे पत्रके रूपमें हुआ है. ऐसे हि श्रीगुसांईजीने स्वपरिवार एवं वैष्णवोंको पत्र लिखे हैं, जो यहाँ संकलित किये है.

श्रीमत्प्रभुचरणानां स्वकीयेभ्यः पत्राणि मातृकार्ये :

१. मुद्रित : पुष्टिभक्तिसुधा अंक.४ वि.सं.१९७१ २. श्रीगट्टूलालाजी संग्रह. ३. श्री के.का.शास्त्री द्वारा प्रदत्त. ४. किशनगढसंग्रह

महाप्रभु तथा प्रभुचरण की असीम अनुकम्पाके अनुभावतया इसके पुनःप्रकाशन तथा सम्पादन का सारा परिश्रमश्रेय मेरे प्रिय विद्यार्थी श्रीमती मनीषा-श्रीपरेश शाहको, सुश्री अल्पा मांडवियाको, श्रीअनिल भाटियाको तथा श्रीमती पद्मिनी-श्रीधर्मेन्द्रसिंह झालाको जाता है. और इनके सहयोगी श्रीजगदीश शेठको भी. केवल औपचारिकताके निर्वाहके कारण मेरा नाम सम्पादनके साथ जुड़ा है. ये सभी अत्यन्त धन्यवादार्ह हैं, क्योंकि इतना उत्तरदायित्वका वहन मेरेसे अब सुकर नहीं है. तदुपरान्त, इस ग्रन्थमें संकलित तेलुगु पत्र १८का (मातृका) अनुवाद प्रो.वेतुरी आनन्दमूर्ति और प्रो.डॉ.एलचुरी मुरलीधरराव ने किया है. मैं इन दोनोंके प्रति कृतज्ञ हुं. गो.श्रीपद्मावहुजी जिन्होंने तेलुगु पत्र ५का हिन्दीमें भावानुवाद और गो. सुश्री मैत्रीने मेरे प्रवचनका सारांश किया है उनके प्रति भी कृतज्ञ हुं. साथ ही साथ मेरे पितृचरणद्वारा स्थापित श्रीवल्लभविद्यापीठ-विठ्ठलेश प्रभुचरण आ.हो. ट्रस्टके तत्त्वावधानमें यह प्रकाशित हो रहा होनेसे इस ट्रस्टकी व्यवस्थाका देखरेख करनेवाले श्रीहंसराज वेद आदि न्यासीमण्डल भी अभिनन्दनीय है. आवरकचित्र निर्मितिके हेतु श्रीमति ख्याति भुल्ला तथा मुद्रणोपयोगी उत्तरदायित्व श्रीप्रवीण डढाणिया और श्रीपीयूष गोंधिया ने वहन किया है. उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूं.

पौषशुक्ला द्वितीया
वि.सं.२०७८

गोस्वामी श्याम मनोहर
पार्ले-मुंबई

भूमिका

भक्तिहेतुनिर्णय शुद्धाद्वैत वेदान्तके प्रतिष्ठापक और पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यके द्वितीयपुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथकी कृति है. गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ और उनकी कृतिओंका महत्त्व वल्लभसम्प्रदायमें श्रीवल्लभाचार्य और उनकी कृतियोंके ही बराबर है. परम्परा श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथ दोनोंको ही पुष्टिमार्गका मूल [१]आचार्य मानती आयी है और आज भी वाल्लभविद्वान यही मानते हैं कि “[२]शुद्धाद्वैतदर्शनके दो मूल आचार्य हैं श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथजी”. पुष्टिमार्गका प्रवर्तन श्रीवल्लभाचार्यने किया और उसका विकास विस्तार एवं प्रचार [३]श्रीविट्ठलनाथने.

दो सो बावन वैष्णवनकी वार्तामें [४]नागजी भट्ट, [५]मानिकचन्द और [६]बीरबलकी बेटी आदिकी वार्ताओंमें स्पष्टरूपसे गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथको ‘साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम’, [७]‘आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि’ कहा गया है और भावप्रकाशमें उन्हें [८]“कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थः” बताये हुए उनके पूर्णपुरुषोत्तम होनेका अनेकशः उल्लेख किया गया है. इसी कृतिमें कृष्णदासको गो.विट्ठलनाथके रोम-रोममें भगवान् श्रीनवनीतप्रियके [९]दर्शन होने, [१०]बीरबल एवं टोडरमल के श्रीविट्ठलनाथको सम्मान्य मान कर समादृत करने तथा सम्राट [११]अकबर द्वारा बिरबलको

---

१. “फलम् अतः उपपत्तेः” (ब्र.सू.३।२।३८) इत्यारभ्य भाष्यकर्तृत्वेन आचार्यत्वम् अतएव अस्मिन् मार्गे आचार्यद्वयम्. (श्रीद्वारकेशकृता सि.मु.टिप्पणी), आचार्यरत्नं सर्वानुग्रहकृन्मन्त्रवित्तमः (नामरत्नाख्यस्तोत्रम् २३) २. वल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप. ३. पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः (नामरत्नाख्यस्तोत्रम् १२), “पुष्टिमार्गके विस्तार करनहारे आप ही हैं.” (वै.वार्ता.२५२।१।१.भा.प्र.) ४. वै.वार्ता.२५२।१।१. ५. वै.वार्ता.२५२।१।१२ ६. वै.वार्ता.२५२।१।७५ ७. वै.वार्ता.२५२।१।१२ ८. वै.वार्ता.२५२।१।२४. भा.प्र. ९. वै.वार्ता.२५२।३।१. १०. वै.वार्ता.२५२।१।१९ ११. वै.वार्ता.२५२।३।२४४

समझानेका उल्लेख है कि "[1]दीक्षितजी तो साक्षाद् ईश्वर है, यामें कछु सन्देह नाही". श्रीविट्ठलनाथके भगवान् श्रीनाथजीसे वार्तालाप करने और अपने भक्तों—कृष्णभट्ट कुनबी अलीखान पठान एवं उनकी पुत्री पीरजादी आदि—को भगवान्‌का दर्शन करा देनेके उल्लेखोंसे दो सो बावन वैष्णवन्‌की वार्ता भरी पड़ी है. भगवान् श्रीरणछोड़ और गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ के परस्पर [2]ताम्बूलसमर्पण, भगवान् श्रीनवनीतप्रिय तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ के एक-दूसरेको [3]झूला झूलाने तथा भगवान् और गो.श्रीविट्ठलनाथ के एक-दूसरेको [4]माल्यार्पण करने आदिका उल्लेख साम्प्रदायिक साहित्यमें अत्यन्त स्वाभाविक मान कर किया गया है. इन सब उल्लेखोंसे यह सूचित होता है कि साम्प्रदायिक परम्पराकी दृष्टिसे श्रीविट्ठलनाथ और उनकी कृतियोंका कितना अधिक महत्त्व है!

महाप्रभु वल्लभाचार्य एवं श्रीमति [5]महालक्ष्मी के द्वितीय आत्मज श्रीविट्ठलनाथका जन्म शुक्रवार [6]पौषकृष्णनवकी विक्रमसंवत् १५७२ (ईस्वी सन् १५१५) के [7]दिन आधुनिक उत्तरप्रदेशके मिर्जापुर ज़िलेके अन्तर्गत चुनार (चरणाद्रि)में हुआ था.

---

१. वै.वार्ता.२५२।३।२४४ २. वै.वार्ता.२५२।१।१ ३. वै.वार्ता.२५२।३।२३३. ४. विविध कुसुमावली ग्रथित हाथे करी, एक-एकने कण्ठे आरोपे हार. (वल्लभाख्यान ७।१२) ५. महालक्ष्मीगर्भरत्नम्. (नामरत्नाख्यस्तोत्रम् ९) ६. वंशावली पृष्ठ ३३ तथा २०५ के अनुसार गुजराती मार्गशीर्षकृष्ण नवमी. ७. वर्षे नेत्राश्वभूतद्विजपतिगणिते पौषकृष्णे नवम्याम्, हस्तर्क्षे तैतिलेऽहन्यधिकृतभृगुजे शोभने गोविलग्ने, रन्ध्रस्थेऽर्के सचान्द्रे, कवि-कुज-शनिषु द्यू नगेष्वात्मजस्थे, सोमे, जीवे धनस्थे, तमसि सहजगे विट्ठलः प्रादुरासीत्, शुक्रारार्किषु सप्तमेषु, धनगे जीवे च कर्के तमस्यर्के धन्विनी चान्द्रिणा सह सहस्याशुक्लपक्षे वृषे अब्दे नेत्रमुनीषु चन्द्रगणिते हस्ते नवम्यां भृगौ, विश्वोद्धारकृते स्फुटोऽभवदिह श्रीविट्ठलेशो हरिः. (भृ.स.पृष्ठ २२६-२२७)

उनका बचपन त्रिवेणीसंगमके पास स्थित अड़ेल ग्राममें—जहाँ रह कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अपनी सुबोधिनीटीका लिख रहे थे—बीता. आचार्यचरणने “**अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत तम् अध्यापयीत**” (   )की वैदिक विधिके अनुरूप आठवें वर्षमें (वि.सं.१५८०में) उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न कराया. कहते है कि महाप्रभुने उन्हें अध्ययनके लिये प्रयागके पंडित श्रीमाधव सरस्वतीके पास भेजा था पर वे अपना अधिकांश समय श्रीमद्भागवतके अध्ययनमें ही व्यतीत करते थे. वे एक तेजस्वी विद्यार्थी थे. प्रसिद्ध है कि उन्होंने दस वर्षकी वयमें ही “**व्रजराज-विराजित-घोषवरे...**” (राजभोगारार्तिकार्या) इत्यादि पद्यकी रचना कर अपने पिताको सुनाया था और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया था. उनकी संगीतमें भी बहुत रुची थी. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण कर इहलोकत्याग करनेके समय (वि.सं.१५८७में) उनकी वय केवल १५ वर्षकी थी और उनके अग्रज श्रीगोपीनाथ उनसे केवल पांच वर्ष बड़े थे. बादमें वे अपने बड़ेभाईके संरक्षकत्वमें कुछ दिन अड़ेलमें रहे किन्तु यह कह सकना कठिन है कि उनके शैक्षणिक जीवनमें श्रीगोपीनाथका कितना योगदान रहा होगा. वार्तासाहित्यसे तो यह प्रतीत होता है कि कुल मिला कर श्रीविट्ठलनाथके प्रथमाश्रमका बहुत समय “[१]हँसत खेलत मसकरी करत बहुत ही प्रसन्नतामें” निर्द्वन्द्व मन:स्थितिमें बीता.

महाप्रभुके अनन्य सेवक श्रीदामोदरदास हरसानीने उनके जीवनमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की. आचार्यचरणके निरन्तर सान्निध्यका सौभाग्य और उनके सिद्धान्तोंका परिचय जितना दामोदरदासको प्राप्त था उतना किसी अन्यको नहीं. वार्ताके अनुसार “[२]श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप दामोदरदासकों ‘दमला’ कहते थे और कहते जो दमला! यह मार्ग तेरे लिये प्रकट कियो है”. श्रीआचार्यजीने श्रीठाकोरजीके पास तीन बार यह मांग्यो जो मेरे आगे दामोदरदासकी देह न छूटे. ताको

---

[१] वै.वार्ता.८४।१।४ [२] वै.वार्ता.८४।१।१

हेतु यह है जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप संन्यास ग्रहण करिवेको विचार मनमें करें. तो ता समय श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीगुसांईजी दोऊ बालक हतें. तातें मारगकी वार्ता श्रीआचार्यजी महाप्रभु दामोदरदासकों समझाइके थापी. दामोदरदाससों कछु गोप्य न राख्यो. [१]मारगको सब सिद्धान्त भगवल्लीलारहस्य श्रीआचार्यजीने दामोदरदासके हृदयविषे स्थाप्यो. श्रीहरिरायजीके शब्दोंमें “[२]श्रीआचार्यजी महाप्रभुन्ने श्रीगोपीनाथजी श्रीगुसांईजी को मार्गकी शिक्षा देवेको अपनी पाछें दामोदरदास हरसानीको राखे हैं. महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट दायित्वका निर्वाह करते हुए दामोदरदासने श्रीविट्ठलनाथसे कहा था “[३]महाराज! अपनो मारग निश्चिंतताको नाहीं. और श्रीविट्ठलनाथजी चेत गये थे. उनका उत्तर था “[४]हमकों यह वार्ता श्रीआचार्यजी महाप्रभु तुम द्वारा कहे जो तुम न कहोजे तो और कौन कहेगो”? उन्होंने प्रसन्न हो कर उनकी शिक्षा मान ली थी[५] और आचार्यत्वके दायित्वको सम्भालनेकी तैयारी शुरू कर दी थी. उनके “[६]हम तो कछु जानत नाहीं” कह कर श्रीवल्लभलचार्य प्रकटित मार्गकी प्रणालीकी जिज्ञासा करनेपर उनकी पूजनीया माताने (अक्काजी) उनसे कहा था कि महाप्रभुने “[७]मार्ग तथा उत्सव को प्रकार सब दामोदरदाससों कह्यो है, सो उनसों तुम पूछो, तुमसों दामोदरदास सब कहेंगे”. श्रीविट्ठलनाथजीने दामोदरदासजीके घर जा कर उनसे सब पूछा-समझा था[८]. वार्ताके अनुसार जब श्रीविट्ठलनाथने पिताका श्राद्ध करवाया था तो दामोदरदासने उन्हें दक्षिणामें महाप्रभुकृत सिद्धान्तरहस्यकी व्याख्या सुनायी थी[९]. “[१०]पाछें दामोदरदासने मारगकी प्रणालिका कही. श्रीभागवतकी टीका श्रीसुबोधिनीजी, श्रीआचार्यजी महाप्रभुन्के ग्रन्थन्की टीका और रहस्यवार्ता श्रीगुसांईजीके आगे सब कहें”. “और

---

१. वै.वार्ता.८४।१।२ २. वै.वार्ता.२५२।१।३ भा.प्र. ३. वै.वार्ता.८४।१।४ ४. वै.वार्ता.८४।१।४ ५. वै.वार्ता.८४।१।४ ६. वै.वार्ता.८४।१।२ ७. वै.वार्ता.८४।१।२ ८. वै.वार्ता.८४।१।२ ९. वै.वार्ता.८४।१।५ १०. वै.वार्ता.८४।१।५.

ता पाछें दामोदरदासकी सहायतासों आपने 'शृंगाररसमण्डन' ग्रन्थ कियो[१]. स्पष्ट है कि स्वमार्गीय सिद्धान्तों एवं रीतियों को आत्मसात करनेमें उन्हें दामोदरदाससे बहुत सहायता मिली थी और इस दृष्टिसे दामोदरदासका उनके जीवनमें और सम्प्रदायमें बहुत महत्त्व है.

श्रीविट्ठलनाथजीकी अभिरुचि बचपनसे ही रागभोगशृंगारपूर्ण भगवत्सेवामें थी और उन्होंने आचार्यासनपर बैठनेपर सम्प्रदायकी सेवाप्रणालीको विकसित किया. उन्होंने श्रीनाथजीके आठ मुख्य शृंगारोंका प्रचलन किया था तथा संगीत चित्रकला पाककला एवम् अन्य विविध कलाओंका भगवत्सेवामें उपयुक्त विनियोग कर भगवद्भक्तोंके जीवनको भगवन्मय कर लेनेकी प्रणाली बताई. सम्प्रदायमें दीक्षित पञ्चद्राविड ब्राह्मणोंको श्रीनाथजीकी अन्तरंग सेवामें अधिकृत कर, अन्य पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको विविध सेवाओंमें नियुक्त कर एवं शाकघर खासाभंडार दूधघर पानघर फूलघर आदिको व्यवस्थित कर उन्होंने सेवामर्यादाको एक निश्चित दिशा प्रदान की. श्रीवल्लभाचार्यने चार और अपने चार सेवकोंको अष्टछापके रूपमें संगठित कर उन्हें अष्टयाम सेवामें नियुक्त कर, सेवाको अधिक भावमय तथा अनुभूतिप्रवण बनानेके साथ ही हिन्दी साहित्यमें कृष्णभक्तिको प्रतिष्ठित करने एवं तेलुगुभाषी होते हुए भी कृष्णभूमिकी व्रजभाषाको 'पुरुषोत्तमभाषा' कह कर प्रतिष्ठित एवं समृद्ध करनेमें उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है.

वे अपने पिताकी ही भातिं सच्चे अर्थोंमें जगद्गुरु अर्थात् गतिशील गुरु थे और उन्होंने अनेक यात्राएं कर भगवदीय जीवोंकों पुष्टिमार्गमें दीक्षित कर आध्यात्मिक कल्याणका मार्ग बताया था. पश्चिममें गुजरात काठियावाड़ एवं द्वारकापुरी तक पूर्वमें मगध गौड़देश एवं जगन्नापुरी तक तथा उत्तरमें बदरिकाश्रम तक यात्रा कर उन्होंने अपने सम्प्रदायका प्रचार-प्रसार किया था. दो सौ बावन वैष्णवन्‌की वार्ताके अनुसार

---

[१] वै.वार्ता.८४।१।८ भा.प्र.

वे प्रतिदिन किसी एक नवीन व्यक्तिको दीक्षा दे कर ही अन्न ग्रहण करते थें[१]. गुजरात प्रदेशको वैष्णवधर्मका महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना देनेका श्रेय उन्हें ही है. उन्होंने वि.सं.१६०० से १६३८ के बीच छः बार गुजरात-काठियावाड़ क्षेत्रकी यात्रा कर अनेक लोगोंको पुष्टिमार्गकी दीक्षा दी थी. इस कार्यमें उन्हें पटनाके अपने एक क्षत्रिय शिष्य चाचा हरिवंशसे बड़ी सहायता मिली थी. उन्होंने हरिवंशजीको अष्टाक्षरमन्त्रकी दीक्षा देनेका अधिकार दे रखा था और वे वैष्णव बनानेके कार्यमें इतने कुशल थे कि गुजरातके एक ग्राममें पड़ाव डाले श्रीविट्ठलनाथको यह पता चला कि इस ग्राममें कोई वैष्णव नहीं है तो उन्होंने कहा था कि "या मारग हरिवंशजी कब हू आये न होयेंगे, जो हरिवंशजी या मारग कबहू आवते तो कोई एक तो वैष्णव होतो[२]". श्रीविट्ठलनाथ उन्हें अपने नेत्रोंकी पुतली कहते थे[३] और अपने पुत्रोंके मार्गनिर्देशनका दायित्व उन्हें सोंप गये थे[४]. भावप्रकाशके अनुसार "चाचाजी...श्रीगोकुलनाथजीसों श्रीघनश्यामजीसों कहे जो बावा! और वार्ता कहा करत हो, अब अपनी पोथी सम्हारो. सो ए दोऊ भाई चाचा हरिवंशके वचन उपदेश करी मानत भये[५].

सम्राट अकबरके आमन्त्रणपर श्रीविट्ठलनाथ दो बार (वि.सं.१६३४ एवं १६३८ में) आग्रा गये थे. अकबर उनसे काफी प्रभावित हुए थे और उन्होंने उन्हें न्यायाधीशके अधिकार गोस्वामीकी (गुसांई) उपाधि तथा जतीपुराकी गोचरभूमि दे रखी थी. वे कई बार श्रीविट्ठलनाथसे मिलने गोकुल भी आये थे. सम्राटके परिकरोंमें ताजबीबी राय पुरुषोत्तमदास राजा बीरबल और टोडरमल तानसेन तथा बीरबलकी पुत्री शोभावती को साम्प्रदायिक साहित्यमें श्रीविट्ठलनाथका सेवक अर्थात् शिष्य बताया गया है.

---

१. वै.वार्ता.२५२।३।१७८ २. वै.वार्ता.२५२।१।३ ३. वै.वार्ता.२५२।१।३ ४. "श्रीगुसांईजीने ७ बालकनूको मार्गको रहस्य समझाइवेके तांई चाचाजीकों भूतल राखे". वै.वार्ता.२५२।१।३ भा.प्र. ५. वै.वार्ता.२५२।१।३ भा.प्र.

वार्तासाहित्यमें उनकी अगाध धर्मनिष्ठा भगवत्प्रेम सर्वात्मभाव सदाशयता उदारता परोपकारपरायणता दयालुता त्याग संयम और भक्तिभावप्रवणता की निदर्शक अनेक कथाएं मिलती हैं. उन्होंने भगवद्भक्तिके द्वार सभीके लिये खोल दिये थे. श्रीगोकुनाथजी द्वारा दिये गये विवरणके अनुसार उन्होंने रसखान[१] और अलीखान[२] के समान पठानों, अलीखानकी पुत्री पीरजादी[३] तथा अन्य पठानवंशजों[४] एवं धोंधी[५] आदि अन्य मुसलमानों को भी भगवन्नामकी दीक्षा दे कर कृष्णभक्त बना दिया था. नाई[६] कुंजड़िन[७] मोची[८] धीवर[९] व्याध[१०] (पारधी) भीलों[११] और वेश्यापुत्री[१२] को भी वैष्णवधर्ममें दीक्षित कर उन्होंने सर्वोद्धारार्थ प्रयत्नशील धर्माचार्यकी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी. उनकी प्रेरणासे अनेक ठग[१३] चोर[१४] और बटमार[१५] भी दुष्कर्म छोड़ कर भगवद्भक्त बन गये थे. इसीलिये उन्हें **'महापतितपावनः'** (नामरत्नाख्यस्तोत्रम् १७) कहा गया है.

श्रीविट्ठलनाथने वि.सं. १६१६में जगन्नाथपुरीकी यात्रा की थी और वहाँ वे महाप्रभु चैतन्यके साक्षात् शिष्योंके सम्पर्कमें आये थे. उन्होंने श्रीजगन्नाथजीकी सेवा-प्रणाली तथा श्रीचैतन्यके कीर्तनप्रकारको हृदयंगम किया था. स्वाभाविक है कि स्वमार्गीय सेवा-प्रणालीका विस्तार करते समय उन्होंने अपने इन अनुभवोंका उपयोग किया होगा. पुरीयात्रामें वे अपने साथ 'रासा' नामके एक बढ़ईको भी ले गये थे जिससे उन्होंने वहाँसे लौटनेपर जगन्नाथजीके रथके अनुरूप रथ बनवा कर अड़ेलमें और बादमें गढ़ामें रथयात्रोत्सव किये थे. बहुत सम्भव है कि चैतन्यानुयायियोंके इस सम्पर्कके समय ही उन्होंने राधाभावप्रधान

---

१. वै.वार्ता.२५२।३।२४५ २. वै.वार्ता.२५२।१।३७ ३. वै.वार्ता.२५२।१।३७ ४. वै.वार्ता.२५२।२।१४७ ५. वै.वार्ता.२५२।३।२४३ ६. वै.वार्ता.२५२।२।१४६ ७. वै.वार्ता.२५२।१।६९ ८. वै.वार्ता.२५२।२।१२४ ९. वै.वार्ता.२५२।२।१३६ १०. वै.वार्ता.२५२।३।१८९ ११. वै.वार्ता.२५२।२।१२० १२. वै.वार्ता.२५२।१।७३ १३. वै.वार्ता.२५२।३।१९६ १४. वै.वार्ता.२५२।२।११२ १५. वै.वार्ता.२५२।३।२००.

स्वामिन्यष्टक स्वामिनीस्तोत्र एवं श्रीकृष्णप्रेमामृतं—जिस चैतन्यकी कृति माना जाता है—की विवरण नामक व्याख्याकी रचना की हो.

श्रीविट्ठलनाथका विवाह १७वर्षकी वयमें वि.सं.१५८९में काशीके श्रीविश्वनाथ भट्ट एवं श्रीमती भवानी की दुहिता कुमारी रुक्मिणीसे हुआ था. वे वि.सं.१६१९ तक अड़ेलमें ही रहे, यद्यपि इस बीच उन्होंने अनेक यात्राओंमें काफी समय प्रवासमें बिताया. वि.सं.१६१९में उन्होंने अड़ेल छोड़ दिया और कुछ दिन विभिन्न स्थानपर रहनेके बाद अपनी शिष्या सेविका रानी दुर्गावतीके अनुरोधपर मध्यप्रदेशके 'गढ़ा' नामक स्थानपर जा बसे. यहीं श्रीमती रुक्मिणीका देहावसान हो जानेपर रानी दुर्गावतीके आग्रहसे वि.सं.१६२०की अक्षयतृतीयाको उन्होंने श्रीकृष्णराय भट्टकी दुहिता कुमारी पद्मावतीसे विवाह किया. प्राय: तीन वर्ष वहाँ रहनेके बाद वे कुछ दिन प्रयाग एवं गोकुल में रह कर मथुरामें सतघरामें—जिसका निर्माण उनके निवासके लिये रानी दुर्गावतीने करा दिया था—आ गये. छ: वर्ष वहाँ रहनेके बाद उन्होंने वि.सं.१६२८के फाल्गुन मासमें गोकुल—जिसे बादमें वि.सं.१६३४ में अकबरने उन्हें एक शाही फरमान जारी कर दे दिया था—को अपना स्थायी निवास बनाया और अन्त तक वहीं रहे. उनके प्रथम पत्नीसे शोभा यमुना कमला देवका नामकी चार पुत्रीयाँ एवं गिरिधर गोविन्दराय बालकृष्ण गोकुलनाथ रघुनाथ तथा यदुनाथ नामक छ: पुत्र थे. द्वितीय पत्नीकी एकमात्र सन्तान उनके कनिष्ठ पुत्र घनश्याम थे. इन सातों पुत्रोंके घर ही सम्प्रदायमें सात गादीके रूपमें प्रसिद्ध हैं. उन्होंने सातों पुत्रोंको एक-एक सेव्यस्वरूप दिया था और ज्येष्ठ पुत्र श्रीगिरिधरको श्रीनाथजीका स्वरूप दे कर सभी पुत्रोंको उनकी सेवामें अधिकृत किया था. पूर्वोक्त सातस्वरूप सम्प्रदायमें सात निधिके रूपमें प्रतिष्ठित हैं. दीर्घकालतक भावुक भक्तोंको भक्तिरसमें अवगाहन करा कर सत्तरवर्षसे कुछ अधिक वयमें[१] उन्होंने माघकृष्ण षष्ठी[२] वि.सं.१६४२में

---

[१] सप्तति: किल वर्षाणि दिनान्यष्टौ च विंशतिम्. वसुधायां व्यराजन्त श्रीमद्विट्ठलदीक्षिता: [२] द्र.गो.श्री.वि.

अपनी जीवनलीला समाप्त की.

श्रीविट्ठलनाथने अपने पिताके महान् कार्यको आगे बढ़ानेके उत्तरदायित्वका निर्वाह बड़ी योग्यताके साथ किया. उन्होंने उनके अधूरे ग्रन्थोंको पूरा करनेकी ओर भी ध्यान दिया और अणुभाष्यको पूरा किया. इसीलिये कहीं-कहीं अणुभाष्यके ब्रह्मसूत्र ३।२।३३ परके बादके अंशको श्रीविट्ठलनाथकी 'अणुभाष्यशेष'[1] या 'अणुभाष्यपूर्ति' नामक कृति—जिसे डॉ.दासगुप्त भ्रमवश अणुभाष्यकी टीका या व्याख्या बताते हैं[2]—कहा गया है. इसकी पुष्टिके लिये अधोलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं.

श्रीकृष्णचन्द्रकी ब्रह्मभावप्रकाशिकावृत्तिके "**इतः आरभ्य प्रभूणां लेखः इति प्रतिभाति**" (भावप्र. ३।२।३४) इस वाक्यके अनुसार अणुभाष्यका ३।२।३४से ले कर अन्त तकका अंश श्रीविट्ठलनाथकी कृति है. अपने गुरुका अनुसरण करते हुए पूर्वोल्लिखित "**स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्**" (ब्र.सू.३।२।३४) इस सूत्रके अणुभाष्यकी प्रकाश व्याख्यामें श्रीपुरुषोत्तम लिखते हैं "**इतः आरभ्य प्रभूणाम् इति प्रतिभाति**" अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमके अनुसार भी इस सूत्रके भाष्यसे ले कर अन्तिम सूत्र तकके भाष्यके लेखक गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ ही है. श्रीपुरुषोत्तमके इस वाक्यकी व्याख्या रश्मिकार श्रीगोपेश्वर अधोलिखित प्रकारसे करते हैं.

प्रभ्वाज्ञात्रयभाविनीं गतिमिहोद्भाव्यशु तत्त्वानुगः
सार्ध्याध्याययुगं चकार रहितं[3] स्वाचार्यवर्यः स्वयम्
शेषं सूचितमित्यतोऽन्यदपि निर्मातुं प्रवृत्तस्ततः
तन्न्यूनप्रतिपूरको विजयते श्रीविट्ठलो दीक्षितः

इत्थं च अनवगाह्याभिप्रायाणां सूत्राणां भाष्यम् उक्त्वा सुगमानां

---

[1] दृ.गो.श्रीवि. [2] "His other works were...anubhashyapurtti (A commentary on the anubhashya) A history of ind.phil.vol.4.
[3] सूत्राष्टक (ब्र.सू.३।२।३४-४१) रहितम्.

स्थापितवन्त:. तदेतत्पूरयितुं श्रीविट्ठलदीक्षिता: 'स्थानविशेषात् प्रकाशादिवद्' इति सूत्राद् आरभ्य भाष्यम् आरभन्त: इति आहु: "इत: आरभ्य" इत्यादि. "श्रीप्रभूणां गोस्वामिनाम्." प्रतिभाति इति. समाप्तौ 'श्रीवल्लभदीक्षितविरचित:' इति शब्दात्. (ब्र.सू.भा.प्र.र.३।२।३४)

अणुभाष्यके अन्तिम श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोतम पुन: कहते हैं "**गुणोपसंहारपादम् आरभ्य सार्धाध्यायस्य स्वयं करणात् तदाचार्येषु निवेदयन्त: समाप्तौ मंगलं कर्तव्यम् इति शिष्टाचारं च शिक्षयन्त: आचार्याणां प्रसादम् आशासते भाष्य इत्यादि. अर्थस्तु श्लोकानां स्फुट: इति शुभम्.**" (ब्र.सू.भा.प्र.४।४।२२(५))

प्रकाशके उपर्युक्त अन्तिम वाक्यमें आये 'स्फुट:' इस पदकी व्याख्या करते हुए श्रीगोपेश्वर लिखते हैं "**स्फुट: इति 'श्रीमदाचार्य:' इति. श्रीमन्त: आचार्या: श्रीमदाचार्या: व्यासचरणा: आचार्यभाष्यपक्षे. श्रीमद्गोस्वामिभाष्यपक्षे श्रीमदाचार्या: श्रीवल्लभाचार्या: इति सर्वं शुभम्**" (ब्र.सू.भा.प्र.र.४।४।२२)

इसी प्रकार "**स्थानविशेषात् प्रकाशादिवद्**" (ब्र.सू.३।२।३४) के अणुभाष्यकी व्याख्या प्रारम्भ करते हुए प्रदीपकार श्रीइच्छाराम लिखते हैं "**इत: आरभ्य श्रीमद्गोस्वामिचरणानां लेखो बोध्य:**" (ब्र.सू.भा.प्रदीप ३।२।३४). इसीलिये इसके पूर्ववर्ती "**बुद्ध्यर्थ: पादवत्**" (ब्र.सू.३।२।३३) इस सूत्रके भाष्यके अन्तिम वाक्यकी अपनी टिप्पणीमें श्रीमगनलाल शास्त्री स्पष्ट कहते हैं "**अत्र श्रीमदाचार्यचरणकृति: समाप्ता**" (प्रदीपसंस्करण)

अणुभाष्यके अन्तिम श्लोक[१] की प्रदीपव्याख्यामें श्रीइच्छाराम लिखते हैं "**ग्रन्थान्ते मंगलम् आचरन्ति 'भाष्य' इत्यादिना. तथा च**

---

[१] भाष्यपुष्पाञ्जलि: श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे निवेदित: तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा.

तृतीयाध्यायद्वितीयचरणनवमाधिकरणस्य ‘स्थानविशेषात् प्रकाशादिवद्’ (ब्र.सू.३।२।३४) इति सूत्रम् आरभ्य चतुर्थाध्यायसमाप्तिपर्यन्तं श्रीमद्गोस्वामिनां कृतिः इति श्रीमदाचार्यचरणार्पणं तस्याः स्वयं कृतत्वम् इति बोध्यम्’’ (ब्र.सू.भा.प्रदीप ४।४।२२)

इस वाक्यमें आये ‘कृतत्वं’ पदपर टिप्पणी लिखते हुए श्रीमगनलाल शास्त्री कहते हैं **‘‘भाष्ये अन्तिम श्लोकः ‘आचार्यचरण’ इति पदस्य श्रीमद्वल्लभाधीश्वरपरत्वाद् एषा सार्धाध्यायभाष्यकृतिः श्रीमत्प्रभुचरणविट्ठलेश्वराख्याग्निकुमाराणामेव नतु श्रीमद्वल्लभाचार्याणां श्रीमदाचार्यचरणैः स्वस्य कृतेः स्वपदाम्बुजे निवेदनस्य अनुपपन्नत्वात् सूत्रकाराणां श्रीमत्त्वेन श्रीमदाचार्यचरणैः क्वापि अनुपन्यासाच्च इति प्रदीपकारहृदयम्’’** (प्रदीपसंस्करणम्)

उपयुक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि अणुभाष्यके **‘‘स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्’’** सूत्रसे प्रारम्भ होनेवाले अंशको श्रीविट्ठलनाथकृत माननेमें श्रीकृष्णचन्द्र श्रीपुरुषोत्तम श्रीगोपेश्वर श्रीइच्छाराम आदि प्राचीन टीकाकारों तथा श्रीमगनलाल शास्त्री आदि आधुनिक विद्वानोंमें सहमति है. स्वयम् अणुभाष्यके उत्तरार्धके **‘‘मन्त्राधिष्ठानरूपाणितु विभूतिरूपाणि. एतच्च यथा तथा भक्तिहंसे प्रपञ्चितम्’’** (ब्र.सू.भा.३।३।३) **‘‘एतच्च उपपादितं पूर्वं विद्वन्मण्डने च’’** (ब्र.सू.भा.३।३।५४) तथा **‘‘एतच्च श्रीभागवतदशमस्कन्धविवृत्तौ प्रपञ्चितम् अस्माभिः’’** (ब्र.सू.भा.३।३।२८) इत्यादि वाक्योंसे प्रतीत होता है कि अणुभाष्यका यह अंश भक्तिहंस विद्वन्मण्डन और दशमस्कन्ध सुबोधिनीकी विवृत्तिके (टिप्पणी) लेखक श्रीविट्ठलनाथकी कृति है. इस सम्बन्धमें श्रीद्वारकेशके **‘‘यद्वा ‘फलम् अतः उपपत्तेः’** (ब्र.सू.भा.३।२।३८) **इत्यारभ्य भाष्यकर्तृत्वेन आचार्यत्वम् अतएव अस्मिन् मार्गे आचार्यद्वयम्’’** (सि.मु.टि.) इत्यादि कथनसे ज्ञात होता है कि उनके अनुसार श्रीविट्ठलनाथकृत अणुभाष्यका प्रारम्भ **‘‘स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्’’** सूत्रसे नहीं प्रत्युत **‘‘फलम् अतः उपपत्तेः’’** सूत्रसे होता है.

अणुभाष्यके इस श्रीविट्ठलनाथकृत अंशके "**एतद् यथा तथा आनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितम् अस्माभिः**" (ब्र.सू.भा.३।३।४७) तथा "**एतच्च उपपादितं पूर्वं विद्वन्मण्डने च**" (ब्र.सू.भा.३।३।५४) इत्यादि वाक्योंसे ज्ञात होता है कि अणुभाष्यको पूरा करनेके साथ ही श्रीविट्ठलनाथने उसके श्रीवल्लभाचार्यकृत अंशमें भी कहीं कहीं कुछ अनुच्छेद अपनी ओरसे जोड़े हैं. उदाहरणार्थ श्रीकृष्णचन्द्र श्रीपुरुषोत्तम और श्रीगोपेश्वर के अनुसार "**आनन्दमयो अभ्यासात्**" (ब्र.सू.भा.१।१।११) सूत्रके अणुभाष्यका '**अथवा**'से प्रारम्भ कर अन्त तकका अंश श्रीविट्ठलनाथकृत है. श्रीकृष्णचन्द्र अपनी वृत्तिमें लिखते हैं "**इति आचार्याणाम् आशयः, प्रभुचरणास्तु...तेभ्यो भेदं वर्णकान्तरेण साधयन्ति**" (भावप्रकाशिका १।१।११). इस द्वितीय वर्णकके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेके श्रीकृष्णचन्द्रके मतकी पुष्टि स्वयम् अणुभाष्यकार श्रीविट्ठलनाथके "**एतद् यथा तथा आनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितम् अस्माभिः**" (ब्र.सू.भा.३।३।४७) इत्यादि वाक्यसे होती है. श्रीपुरुषोत्तमके "**साम्प्रतन्तु प्रभुचरणैः... साध्यते**" (ब्र.सू.भा.प्र.१।१।११) इत्यादि वाक्य तथा इसका श्रीगोपेश्वरकृत व्याख्याके "**प्रभुचरणैः इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरदीक्षितैः इति अर्थः**" (ब्र.सू.भा.प्र.र.१।१।११) इत्यादि वाक्य एवं श्रीपुरुषोत्तमके "**एवम् अस्मिन् वर्णके... प्रभुचरणैः व्यवस्थापितम्**" (ब्र.सू.भा.प्र.१।१।११) इत्यादि वाक्य तथा इसकी गोपेश्वरकृत व्याख्याके "**अग्रे आचार्याणां ग्रन्थः इति सूचयन्ति**" (ब्र.सू.भा.प्र.र.१।१।११) इत्यादि वाक्योंसे यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है.

इसी प्रकार श्रीवल्लभाचार्यकृत तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणकी स्वोपज्ञ प्रकाश व्याख्यामें भी श्रीविट्ठलनाथने कुछ अनुच्छेद जोड़े हैं. उदाहरणार्थ [तत्त्वार्थदीपनिबन्धके मेरेद्वारा सम्पादित संस्करणके पृष्ठ २३९से २४४ तकका प्रकाशक अंश श्रीविट्ठलनाथकृत है.] इसकी पुष्टि ७५वीं कारिकाके प्रकाशकके पूर्वोक्त अंशकी श्रीपुरुषोत्तमकृत आवरणभंग टीकाके "**अत्र 'एव' पदेन या प्रतीतिः आचार्यैः संगृहीता तामेव स्फुटीकर्तुं प्रभुचरणाः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति 'यद्वा' इत्यादि**" वाक्य तथा श्रीबालकृष्णभट्टकृत

योजना टीकाके ''**एवं सम्यक् विमर्शेतु न सिद्धान्तविरोधो न वा श्रीमदाचार्यचरणप्रभुचरणलेखयो: कोऽपि विरोधादिरूपो दोष: प्रतिभातीति**'' इत्यादि वाक्यसे होती है. तत्त्वार्थदीपनिबन्धके भागवतार्थ प्रकरणकी प्रकाशटीका भी श्रीवल्लभाचार्य पूरी नहीं लिख पाये थे. उसे भी श्रीविट्ठलनाथने (चतुर्थ स्कन्धकी ३३वीं कारिकाकी प्रकाशटीकाके बादसे) लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु दैवदुर्विपाकसे उसे वे भी पूरी न कर सकें और पञ्चमस्कन्धकी १३६ कारिकाओं तक लिख कर ही छोड़ गये. इस प्रकार भागवतार्थ प्रकरणके चतुर्थस्कन्धकी ३४वीं कारिकासे पञ्चमस्कन्धकी १३६वीं कारिका तककी प्रकाशटीका श्रीवल्लभाचार्यकी कृति न हो कर श्रीविट्ठलनाथकी कृति है, इसे हम तत्त्वार्थदीपनिबन्धके अपने उपोद्घातमें प्रमाणित कर चुके है.

'षोडशग्रन्थ' नामसे प्रसिद्ध श्रीवल्लभाचार्यकी सोलह कृतियोंमेंसे कुछपर श्रीविट्ठलनाथकृत टीकाएँ मिलती हैं. उनकी यमुनाष्टकविवृति, सिद्धान्तमुक्तावलीविवृति और नवरत्नप्रकाश टीकाएँ क्रमश: श्रीबलभद्र शर्मा द्वारा संशोधित एवं शुद्धाद्वैत सिद्धान्त कार्यालय बम्बईसे सन् १९१६ ई.में प्रकाशित श्रीयमुनाष्टकम्, श्रीधैर्यलाल सांकलीया द्वारा संशोधित एवं श्रीमानिकलाल महेता द्वारा बम्बईसे वि.सं.१९७८में प्रकाशित सिद्धान्तमुक्तावली तथा श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला और श्रीधैर्यलाल सांकलीया द्वारा संशोधित, श्रीकेशवराम शास्त्री द्वारा पुन: संस्कृत और श्रीपुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियादसे प्रकाशित नवरत्नम् के सन् १९४२ ई.के संस्करणमें मुद्रित रूपसे उपलब्ध है. श्रीधैर्यलाल सांकलीया और पो.कण्ठमणि शास्त्री यह मानते प्रतीत होते हैं कि श्रीविट्ठलनाथने बालबोधकी 'विवरण' नामसे व्याख्या लिखी थी जो अब उपलब्ध नहीं है[1]. पो.कण्ठमणि शास्त्रीने उनकी अप्रकाशित कृति सिद्धान्तरहस्यविवृतिकी पाण्डुलिपिका उल्लेख किया है[2]. किन्तु श्रीविट्ठलेश्वरकृत सिद्धान्तरहस्यविवृतिको प्रकाशित कृति कहा है. सम्भव है इन विट्ठलेश्वरसे उनका

---

[1] द्र.शु.पु.सं.वा.खण्ड [2] वहीं.

अभिप्राय प्रभुचरणसे भिन्न किसी अन्य विट्ठलेश्वरसे हो. श्रीगोपालनारायण बहुराने जयपुरनरेशके पोथीखानामें श्रीविट्ठलेश्वरकृत पुष्टिप्रवाहमर्यादाटीका भक्तिवर्धिनीव्याख्या एवं अन्तःकरणप्रबोधटीका की पाण्डुलिपियोंके होनेका उल्लेख किया है[1]. श्रीदासगुप्तके अनुसार षोडशग्रन्थके अन्तर्गत आनेवाली अन्य कृतियोंमेंसे पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद विवेकधैर्याश्रय तथा जलभेद पर भी श्रीविट्ठलनाथकृत टीकाएँ हैं. श्रीविट्ठलेशचरितामृतमें सिद्धान्तरहस्य तथा डॉ.दासगुप्तकी कृतिमें संन्यासनिर्णयपर भी उनकी 'विवरण' नाम्नी टीकाके होनेका उल्लेख है. षोडशग्रन्थके अन्तर्गत आनेवाली अन्य कृतियोंपर श्रीविट्ठलनाथकृत टीकाके कहीं उल्लिखित और उपलब्ध न होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने षोडशग्रन्थके सभी सोलहों ग्रन्थोंपर टीका लिखी थी. स्पष्ट है कि अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदायके पृ.७६-७७ पर श्रीविट्ठलनाथके ग्रन्थोंकी सूचीमें 'षोडश ग्रन्थपर टीका'के उल्लेख तथा श्रीवल्लभवंशवृक्ष तथा उत्तर भारतीय आन्ध्र (तैलंग) भट्ट वंशवृक्षके पृ.दसपर श्रीविट्ठलनाथकी रचनाओंके अन्तर्गत 'षोडशग्रन्थटीका'के उल्लेखसे यह समझ लेना भूल होगी कि डॉ.दीनदयालुगुप्त या श्रीद्वारकादास परीख को षोडशग्रन्थकी सभी कृतियोंपर श्रीविट्ठलनाथकी टीका उपलब्ध हुई है.

श्रीवल्लभाचार्यकृत मधुराष्टकम्पर भी श्रीविट्ठलनाथने विवृति लिखी थी जो पुष्टिमार्गीय युवक परिषद् बम्बई द्वारा वि.सं.२०१८में प्रकाशित मधुराष्टकमें मुद्रित मिलती है.

श्रीविट्ठलनाथकृत अष्टाक्षरनिरूपणम् बृ.स.(पृ.१६१-१६३)में मुद्रित साढे सत्रह कारिकाओंकी पद्यबद्ध कृति है जिसमें अष्टाक्षरमन्त्रके अर्थ और महत्त्वका निरूपण किया गया है.

1.Literary Heritage of the Rulers of Amber and Jaipur with an Index to the Register of Manuscripts in the Pothikhana of Jaipur. (Khasmohor Collection)

श्रीमद्भागवतकी श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीकाके एक अंशपर श्रीविट्ठलनाथने टिप्पणी लिखी है. दशमस्कन्धसुबोधिनीके प्रथम एवं द्वितीय प्रकरण (अर्थात् जन्मप्रकरण और तामसप्रकरण), तथा तृतीय प्रकरण (अर्थात् राजसप्रकरण)के एक अध्याय (सुबोधिनीके अनुसार दशमस्कन्धके चवालीसवें अध्याय)पर उनकी टिप्पणी उपलब्ध है और श्रीधीरजलाल सांकलियाद्वारा संवत् २००७में बम्बईसे श्रीमतीटिप्पणीके नामसे प्रकाशित की जा चुकी है. इस कृतिका उल्लेख गो.श्रीवि. (पृ.८)में सुबोधिनी-टिप्पणी, डॉ.दासगुप्तकी कृतिमें 'संन्यासावच्छेदा'परनाम्नीसुबोधिनी टिप्पणी[1] और श्रीवि.च. (पृ.५०)में श्रीमतीटिप्पणीजीके नामसे हुआ है. डॉ.दासगुप्तकी पूर्वोक्त कृतिमें (पृ.३७७) श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उल्लिखित भागवतदशमस्कन्धविवृति सम्भवतः इसी भागवतदशमस्कन्ध-सुबोधिनीविवृतिका भूलसे लिखा गया नाम हो क्योंकि भागवतपर श्रीविट्ठलनाथकी न तो कोई स्वतन्त्र टीका मिलती है और न ऐसी किसी कृतिका प्राचीन ग्रन्थों या परम्परा में कोई उल्लेख ही मिलता है. श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीकाके होते हुए और स्वयं उसकी टिप्पणीके लेखक होते हुए भी श्रीविट्ठलनाथ भागवतके दशमस्कन्धकी स्वतन्त्र टीका या विवृति लिखते यह सम्भव भी नहीं लगता क्योंकि यदि उन्हें श्रीमद्भागवतकी टीका लिखनी होती तो वे दशमस्कन्धके बजाय उस अंशपर टीका लिख कर (अणुभाष्यकी ही भांति) श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनीको ही पूरा करते जिस अंशपर सुबोधिनी नहीं है.

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीकामें भी अनेक स्थलोंमें श्रीविट्ठलनाथके अनेक वाक्य सन्निविष्ट मिलते

---

1. "His other works were........., Subodhini-tippani (a commentary on the Subodhini), otherwise called Sannyasavaccheda". A History of Ind. Phil. Vol.IV., p. 379.

हैं[1]. अवधेय है कि सुबोधिनीपर टिप्पणी लिखनेके बावजूद श्रीविट्ठलनाथने मूलमें ही कुछ अंश जोड़ना उचित समझा. इसके साथ ही उन्होंने भागवतके कुछ श्लोकोंपर स्वतन्त्र लेख भी लिखे हैं. इस प्रकारका एक स्वतन्त्र लेख "**तासाम् आविः अभूत् शौरिः**" (भाग.पुरा.१०।३२।२) इत्यादि श्लोकपर है जो तामस-फल-प्रकरण सुबोधिनीमें परिशिष्टके रूपमें (पृ.४०-४४) मुद्रित मिलता है. इसी प्रकार "**भगवानपि ता रात्रीः**" (भाग.पुरा.१०।२९।१) तथा "**कथा इमास्ते कथिता महीयसाम्**" (भाग.पुरा.१२।३।१४) श्लोकोंका उन्होंने कारिकाबद्ध विवरण लिखा है. इनमेंसे प्रथम तामसफल-प्रकरणकी सुबोधिनीके परिशिष्टमें (श्रीगोपेश्वरकृतव्याख्यासहित) तथा द्वितीय सप्रकाश एकादशस्कन्धसुबोधिनीके परिशिष्टमें (श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसहित) प्रकाशित हुआ है. इसी प्रकार "**कायेन वाचा मनसा इन्द्रियैः वा**" (भाग.पुरा.११।२।३६) इत्यादि श्लोकका श्रीविट्ठलनाथकृत तात्पर्यनिरूपण भी सप्रकाश एकादशस्कन्धसुबोधिनीमें (चतुर्थ परिशिष्टके रूपमें) मुद्रित है. पो.कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीमद्भागवतके "**शृंग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विज...**" (भाग.पुरा.१०।८।२५) इत्यादि पद्यपर श्रीविट्ठलनाथके एक अप्रकाशित लेख, वेदस्तुति (भाग.पुरा. १०।८७।१४-४१)पर उनकी 'श्रुतिगीतार्थ' नामक एक अप्रकाशित कृति तथा भागवतके एक अन्य श्लोकपर उनके एक स्वतन्त्र लेखके

---

[1] द्रष्टव्य, जन्मप्रकरणसुबोधिनी १०।३।७, तामस-साधन-प्रकरणसुबोधिनी १०।१९।२१, तामस-फल-प्रकरणसुबोधिनी १०।२६।३, १०।२६।८, १०।२६।१२-१६, १०।२६।३१, १०।२६।३३, १०।२६।३५, १०।२६।३६, १०।२६।३८, १०।२६।४०, १०।२७।२, १०।२७।२१, १०।२८।१२, १०।२९।२४, १०।२९।२१, १०।३०।१६, १०।३२।९, १०।३२।१०, १०।३२।२३, राजसप्रमेयप्रकरणसुबोधिनी १०।४४।१, १०।४४।३८, तथा १०।४४।६० तामसप्रमेयप्रकरणसुबोधिनी १०।१८।५, १०।१८।९, १०।१८।१४, १०।१८।१९, तामससाधनप्रकरणसुबोधिनी १०।१९।१४, १०।२५।१२, तामसफलप्रकरणसुबोधिनी १०।२६।३२, १०।२९।२, १०।२९।३ तथा १०।३०।१७.

कांकरोलीके सरस्वती भण्डारमें होनेका उल्लेख किया है[१]. डॉ.दासगुप्तकी पूर्वोक्त कृतिमें (पृ.३७७में) उल्लिखित स्वतन्त्रालेखनसे सम्भव है श्रीविट्ठलनाथके इस प्रकारके स्वतन्त्र लेख ही अभिप्रेत हों. उनकी भागवत सम्बन्धी एक अन्य कृति भागवततत्त्वदीपिकाका उल्लेख भी डॉ.दासगुप्तने पूर्वोल्लिखित पृष्ठपर (आफ्रेख्तकी सूचीके आधारपर ही) किया है.

श्रीमद्भागवतके षष्ठस्कन्धके ग्यारहवें अध्यायके वृत्रप्रोक्त अन्तिम चार श्लोक (भाग.पुरा.६।११।२४-२७) चतुःश्लोकीके नामसे प्रसिद्ध हैं. षष्ठ स्कन्धपर श्रीवल्लभाचार्यकी सुबोधिनी व्याख्या न होनेके कारण श्रीविट्ठलनाथने इस महत्त्वपूर्ण चतुःश्लोकीपर व्याख्या लिखी थी जो सेठ नारायणदास जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट बम्बईसे सन् १९३७में प्रकाशित वृत्रासुरचतुःश्लोकीमें श्रीसुबोधिनी व्याख्याके नामसे मुद्रित हो चुकी है. शु.स.पृ.१९७पर '**अथाद्या (वृत्त) चतुःश्लोकी**' शीर्षकसे मुद्रित चतुःश्लोकी कोई स्वतन्त्र कृति नहीं प्रत्युत इसी टीकाके प्रारम्भिक चार श्लोकोंका संकलनमात्र है. उनकी यह श्लोकच्चतुष्टयी 'वृत्रचतुःश्लोकीकारिकाः'के नामसे और यह गद्यमयी व्याख्या 'वृत्रचतुःश्लोकीव्याख्या'के नामसे प्रसिद्ध है.

श्रीविट्ठलनाथकृत 'गीतातात्पर्य' नामक निबन्ध—जिसकी रचना श्रीवि.च.(पृ.५६)के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने वि.सं.१६२०में वडनगरमें दामोदर झाके लिए की थी—श्रीरमानाथ भट्टद्वारा अनूदित तथा भट्ट श्रीगौरगोपाल शर्माद्वारा बम्बईसे १९३४ ई.में प्रकाशित हो चुका है. इसकी प्रस्तावनामें (पृ.३पर) श्रीरमानाथ भट्ट लिखते हैं कि "श्रीवल्लभाचार्य अथवा उनके पुत्रकी निर्मित कोई गीताकी टीका नहीं मिलती. हां, श्रीविट्ठलेशप्रभुकृत गीताकी टीकाका एक अध्यायमात्र मिलता है."

---

[१] द्रष्टव्य, शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय, खण्ड १, पृ.१९३, २०४ तथा २१२

यहां उल्लिखित गीताकी टीकाके एक अध्यायका उल्लेख श्रीविट्ठलेशचरितामृतमें (पृ.५०पर) भी किया गया है. यह टीका गीतार्थविवरणम् नामसे श्रीमगनलालशास्त्रीद्वारा बम्बईसे प्रकाशित गीतातत्त्वदीपिकाके साथ छपी थी. इसकी अन्तिम पंक्तिसे स्पष्ट है[१] कि यह गीताके प्रथम अध्यायके बीसवें श्लोकपर[२] ही समाप्त हो जाती है यद्यपि पो.कण्ठमणिशास्त्रीकी धारणा है कि अनुपलब्ध अंशपर भी विवरण लिखा गया था[३]. इसे श्रीविट्ठलनाथकृत माना जाता है किन्तु इसमें गो.पुरुषोत्तमकृत गीताटीकाका उल्लेख[४] मिलनेसे अनुमान होता है कि यह किसी परवर्तीकी अधूरी कृति है. श्रीगोपालनारायण बहुराके अनुसार जयपुरनरेशके पोथीखानामें श्रीविट्ठलेश्वरकृत किसी सप्तश्लोकीगीताविवरणम् तथा ''सर्वधर्मान् परित्यज्य'' पद-टीकाकी पाण्डुलिपि है[५]. श्रीपरीखने[६] 'गीताहेतु' और डॉ.दासगुप्तने[७] 'भगवद्गीता हेतुनिर्णय:' नामसे श्रीविट्ठलनाथके गीतासम्बन्धी एक अन्य ग्रन्थका उल्लेख किया है, इसे श्रीपरीखने या डॉ.दासगुप्तने भी देखा था या नहीं यह कह सकना कठिन है.

श्रीविट्ठलनाथकृत गायत्री व्याख्या—जिसका उल्लेख गो.श्रीवि.(पृ.-९)में गायत्र्यर्थकारिका और श्रीवि.च. (पृ.५०)में गायत्रीकारिका नामसे हुआ है—चौंतीस[८] कारिकाओंकी एक पद्यात्मक कृति है जो बृ.स.में (पृ.१०९-११३)पर मुद्रित मिलती है. यह बम्बईसे श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा

---

[१] कपिध्वज: इति शस्त्रलाघवं सूचितम्. [२] अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः. (भग.गीता १।२०) [३] शु.पु.सं.वा. खण्ड १, पृ.७९ [४] यावद् न दृश्यते विज्ञैः गीतामृततरंगिणी. [५] Literary Heritage of the Rulers etc. p.268 [६] श्रीविट्ठलेशचरितामृत पृ.५०,५६. [७] क्त द्वष्ठ्ठ्ठ्मनड़ मङ्ग्य द्वक्त्व. रुष्ठ्ष्ठ्ज. ध्रम्ज. द्व्रथ., ड्ढ. ३७७ [८] पो.कण्ठमणिशास्त्रीने इसे शु.पु.सं.वा. खण्ड १, पृ.६३ में ३५ कारिकाओं वाली कृति कहा है. वस्तुतः पैंतीसवीं कारिका समझा जानेवाला श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।३)का अन्तिम मन्त्र है जिसे उपसंहारके लिए सन्निविष्ट कर लिया गया है.

प्रकाशित श्रीमद्वल्लभाचार्य ग्रन्थरत्नमालाके प्रथम पुष्प—श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितं श्रीमद्गायत्रीभाष्यम्—में श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरण-सहित मुद्रित मिलती है. वहां इसे 'श्रीगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाः' कहा गया है. डॉ.दासगुप्तने अपनी पूर्वोक्त कृतिमें लिखा है कि श्रीपुरुषोत्तमने श्रीविट्ठलनाथकृत गायत्रीभाष्यकी टीका भी लिखी थी[१]. स्पष्ट है कि वे गायत्रीभाष्यको श्रीविट्ठलनाथकृत समझते हैं किन्तु वल्लभ-सम्प्रदायमें इसे स्वयं श्रीवल्लभाचार्यकृत माना जाता है. श्रीवल्लभाचार्यकी यह गद्यात्मककृति गोस्वामी श्रीगोकुलेश्वरकृत स्वतन्त्र लेख सहित उपर्युक्त ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पके रूपमें श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा प्रकाशित की गयी थी. यह बृ.स. (पृ.१०३-१०९)में भी मुद्रित मिलती है और वहां भी इसे श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत ही कहा गया है. डॉ.दासगुप्तका यह समझना भी भूल है कि श्रीपुरुषोत्तमका विवरण 'गायत्रीभाष्य' नामक गद्यात्मककृतिकी व्याख्या है. वस्तुतः यह विवरण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है श्रीविट्ठलनाथकी पद्यात्मककृति श्रीगायत्रीव्याख्या या श्रीगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाः की व्याख्या है और स्वयं श्रीपुरुषोत्तमने इसे श्रीमत्प्रभुचरणकृतगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाविवरण कहा है.

श्रीजयदेवकृत गीतगोविन्दपर भी श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृ.१०)में गीतगोविन्दटीका और गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी (पृ.६)में गीतगोविन्दार्थकि नामसे श्रीविट्ठलनाथकृत एक टीकाके होनेका उल्लेख मिलता है. श्रीविट्ठलनाथको पो. कण्ठमणि शास्त्रीकी कृति (शु.पु.सं.वा. खण्ड १, पृ.२४४)में अप्रकाशित गीतगोविन्दविवृतिका, डॉ.दासगुप्तकी कृतिमें (पृ.३७७पर) गीतगोविन्दप्रथमाष्टपदीविवृतिका, श्रीविट्ठलेशचरितामृत (पृ.५१)में गीतगोविन्दप्रथमाष्टपदीटीका तथा श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृ.१०)में अष्टपदीटीकाका कर्ता कहा गया है किन्तु वाल्लभ-साहित्यके अधीती

---

[१] "He (पुरुषोत्तम) also wrote a sub-commentary on Vitthala's Bhasya on the Gayatri." A History of Ind. Phil. Vol. IV., p. 380.

विद्वान् पं.हरिशंकरशास्त्री गीतगोविन्दार्थका अध्ययन कर इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि "गीतगोविन्दार्थ...के अनुसार गीतगोविन्दमें एक भी वाक्य ऐसा अवशिष्ट नहीं रह सकता जिसका शृंगारवर्णनमें उपयोग न हो. '...**म्लेच्छान् मूर्च्छयते**' इस पदका अर्थ है '**सुरते मणितादिवर्द्धयते**' और भी जहां तहां कई प्रकारके सुरत-विशेषोंका वर्णन किया है, व्याख्या सरस है, परन्तु इसे श्रीप्रभुचरणोंकी कृति कहनेमें संकोच अवश्य है, क्योंकि '**म्लेच्छान् मूर्च्छयते**' इस पदका '**सुरते मणितादिवर्द्धयते**' जैसा **अप्रसिद्ध अर्थ श्रीप्रभुचरण लिखें यह कम सम्भव है. तथापि यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक अवश्य है.**" (गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी, पृ.१०).

श्रीवेदान्तदेशिककृत न्यासादेशके एक श्लोककी श्रीविट्ठलनाथकृत विवृतिका उल्लेख गीता (१८।६६)की अपनी टीकाओंमें श्रीवल्लभ तथा श्रीपुरुषोत्तम ने किया है. इस व्याख्याका श्रीवि.च.(पृ.५०) मेंन्यासादेशविवृति, श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृ.१०)में न्यासादेशविवरण, डॉ.दासगुप्तकी पूर्वोक्त कृतिमें (पृ.३७७ पर) न्यासादेशविवरणप्रबोध तथा गो.श्रीवि. (पृ.६)में न्यासादेशटीकाके नामसे उल्लेख मिलता है. इसे श्रीरमानाथ शर्माने बड़ा मन्दिर बम्बईसे सन् १९१६ ई.में हिन्दीभाषान्तर सहित प्रकाशित किया था. इसके पृ.छः पर आये "**भक्तिमार्गीयन्यासो घोषभूषणसीमन्तिनीष्वेव इति पितृचरणैः संन्यासःकरणे निरूपितम्**". इस वाक्य तथा उपसंहार के "**इति पितृचरणकृपातो गोपीपतिचरणरेणुधनिना यः. श्रीविट्ठलेन विवृतः**" इत्यादि श्लोकसे इसके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेकी पुष्टि होती है.

बृ.स.में (पृ.८४-८८)पर मुद्रित श्रीकृष्णके नामोंका निरूपण करनेवाली पेंतीस श्लोकोंकी कृति श्रीकृष्णप्रेमामृतम् को पुष्पिकामें 'श्रीवल्लभाचार्यविरचितं प्रेमामृतम्' कहा गया है. डॉ.दासगुप्तने कृष्णप्रेमामृतको श्रीविट्ठलनाथकी कृति माना है[1]. श्रीवि.च.(पृ.५५)के अनुसार "**इस ग्रंथको स्वामिनीजीने**

---

[1]. A History of Indian Philosophy, Vol IV., P.377

कृष्णके विरहमें अपने नखोंसे श्रीगिरिराजजीकी शिलापर लिखा था. बैठकचरित्रमें इसका उल्लेख हुआ है. इसको आचार्यचरणने लिख लिया था और जगदीशकी आज्ञा होनेपर उसकी एक यानि (?प्रति) चैतन्यको दे दिया था.'' इसकी विभिन्न प्राचीन पाण्डुलिपियोंमें इसे 'श्रीकृष्णचैतन्यमुखपद्मविनिर्गत' कहा गया है[१]. श्रीविट्ठलनाथने इसकी विवरण नामक विशद व्याख्या लिखी है. इस व्याख्यामें ग्रन्थकारके लिए 'इत्याह' इत्यादि एकवचन शब्दोंके प्रयोगसे तथा इस ग्रन्थकी अन्य व्याख्याओंसे असहमति[२] प्रकट करनेसे यह अनुमान होता है कि यह श्रीवल्लभाचार्य या श्रीविट्ठलनाथ की कृति न हो कर सम्भवतः श्रीचैतन्य या किसी अन्यकी कृति है, किन्तु इसकी विवरण व्याख्या निस्सन्देह श्रीविट्ठलनाथकृत है.

श्रीविट्ठलनाथकी स्वतन्त्र कृतियोंमें दार्शनिक दृष्टिकोणसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विद्वन्मण्डनम् है. इसकी प्रस्तावनामें इसे श्रुतिसूत्रादिकी मणियोंसे जटित और युक्तिमौक्तिकोंसे ग्रथित[३] बताते हुए उपसंहारमें कहा गया है कि श्रुतियों एवं व्यासवचनो में श्रद्धा रखनेवाले विद्वान् इसके अर्थकी हृदयंगम कर अथवा इसे तोतेकी तरह रट कर भी प्रतिपक्षियोंको परास्त कर सकते हैं[४]. इसे ही डॉ.दासगुप्तकी कृतिमें प्रमादवश पृ.३७७ पर दो बार 'विद्यामण्डन' और पृ.३८१ पर 'विद्वानमण्डन' कहा गया है.

---

१. चैतन्यसम्प्रदायके श्रीगोपालभट्टगोस्वामी द्वारा विरचित 'श्रीकृष्णप्रेमामृतम्' नामक गद्यपद्यमयी कृति, जो कृष्णदास बाबाजी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थरत्नषट्कम्में मुद्रित मिलती है, इससे भिन्न है. २. अहःशब्दः क्षणोपलक्षकएव इति केचित्, तद् न, मुख्यार्थोपपत्तौ गौणस्य अयुक्तत्वात्.(प्रेमामृतविवरणम् ३). ३. श्रुतिसूत्रादिमणिभिः जटितं युक्तिमौक्तिकैः, ग्रथितं कुरुते विद्वन्मण्डनं विट्ठलःसुधीः. (विद्वन्म.३ पृ.१०) ४.वरीवर्ति श्रद्धा श्रुतिषु यदि वा व्यासवचने तदा विद्वांसो अस्मद् विरचितम् इदं मण्डनवरं, यथोक्तं कण्ठे वा शुकवद् अथवा अर्थं च हृदये मुदा कृत्वा आयत्तं धुनुत रिपुपक्षाभिधतमः (विद्वन्म.पृ.३५४)

अणुभाष्यके श्रीविट्ठलनाथकृत अंशके अनेक वाक्यों[1] में तथा सुबोधिनीकी टिप्पणीमें 'विद्वन्मण्डन'का नामोल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि श्रीविट्ठलनाथने अणुभाष्यकी पूर्ति तथा टिप्पणी की रचना करनेके पहले ही विद्वन्मण्डनका प्रणयन पूरा कर लिया था[2]. इस सम्बन्धमें विद्वन्मण्डनकी प्रस्तावनामें श्रीबलभद्रशर्मा द्वारा उद्धृत कुछ प्राचीन पद्यो[3] पर विचार करनेसे यह ज्ञात होता है कि विद्वानोंकी एक परम्परा यह भी मानती आयी है कि श्रीविट्ठलनाथने विद्वन्मण्डनकी रचना अणुभाष्यके शेषांशको पूरा करनेके पहले ही कर ली थी किन्तु उसका संशोधन अणुभाष्य पूरा कर लेनेके बाद किया. श्रीबलभद्रशर्मा[4]के अनुसार इस धारणाकी पुष्टि स्वयं विद्वन्मण्डनके "इदं तु यथा तथा परात्तु तच्छ्रुतेः" (ब्र.सू.२।३।४१) इत्यधिकरणे निरूपयिष्यामः (विद्वन्मण्डनम्, पृ.११४) इत्यादि वाक्योंसे भी होती है. विद्वन्मण्डनकी सिद्धान्तशोभा टीकासे ज्ञात होता है कि अपनी इस कृतिको अन्तिम रूप देनेके समय तक श्रीविट्ठलनाथ अपने विद्वान् पुत्र-पौत्रों एवं शिष्यों से विचार-विमर्श करते हुए सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेकी प्रक्रिया अपनाने लगे थे. इससे स्पष्ट है कि विद्वन्मण्डनको अन्तिम रूप उन्होंने वय अधिक

---

[1] कार्यवैचित्र्यञ्च कथम् इत्यादिचोद्यं "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः" (ब्र.सू.२।३।४२) इत्यत्र निरस्तं, विद्वन्मण्डने श्रीविट्ठलेन च (ब्र.सू.भा. ३।२।४१). एतच्च उपपादितं पूर्वं विद्वन्मण्डने च (ब्र.सू.भा.३।३।५४). एतद् यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम् (ब्र.सू.भा.४।२।१६). [2] साम्प्रदायिकसुधीभिः भाष्यशेषे सुबोधिनीटिप्पण्याञ्च विद्वन्मण्डननामोपलब्धमेव स्यात्, तेन भाष्यशेषटिप्पणी-प्रणयनतः पूर्वम् एतद् निर्मितिः इति शक्यं प्रतिपत्तुम्. (विद्वन्मण्डनप्रस्तावना पृ.८). [3] व्याख्यातं विट्ठलेशार्यैः सूत्राध्यायद्वयं तथा. निबन्धतुर्यस्कन्धार्थटीकाऽग्रेतन-पद्धतिः समारब्धा सामिकृता हरिवंशानुशासनात्. स्वभेदैकसमाम्नायो अभिप्रायो विट्ठलेशितुः तत्सामिरचितग्रन्थत्वाद् न तत्र स्वनामभृत्. पूर्वं विद्वन्मण्डनं तु कृतं तैः विसमञ्जसम्. सूत्रभाष्यानन्तरं शोधितम् इति अविरोधि तत्. अतः तदीयग्रन्थेषु न विरोधो अस्ति कश्चन इति इन्दिरेशदासस्य कृतिपुष्पाञ्जलिः हरौ. [4] विद्वन्मण्डनप्रस्तावना, पृ.८-९.

हो जानेपर ही दिया होगा. इससे भी पूर्वोक्त अनुमानकी ही पुष्टि होती है. विद्वन्मण्डनका संस्कार करनेके समय पुत्र-पौत्रोंके वर्तमान होनेके सम्बन्धमें सम्प्रदायमें परम्परया यह माना जाता रहा है कि विद्वन्मण्डनमें उपन्यस्त अधिकांश पूर्वपक्ष श्रीविट्ठलनाथके श्रीरघुनाथ आदि पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा किये जाते थे और श्रीविट्ठलनाथ उनका खण्डन कर सिद्धान्तका प्रतिपादन करते थे. सिद्धान्तशोभा टीकाके वाक्यों[1]से इसकी पुष्टि होती है. श्रीगोविन्दप्रभुकृत नित्यकृत्यसंग्रहके विद्वन्मण्डनप्रस्तावना (पृ.९)में उद्धृत वाक्यों[2]से भी यही सिद्ध होता है कि पुत्र-पौत्रादिकोंको किसी भी प्रकारका सन्देह होनेपर वे सभीको सन्तुष्ट कर देनेवाला समाधान दे कर ही आगे बढ़ते थे.

विद्वन्मण्डनकी अपनी प्रस्तावनामें सिद्धान्तशोभा नामक टीकाके **"इति प्रभुचरणाविष्कृताधिकरणमीमांसासंचारी भाष्यार्थः प्रसंगाद् दर्शितः"** (सिद्धान्त शोभा. पृ.१०) इस वाक्यके आधारपर श्रीबलभद्र शर्माने श्रीविट्ठलनाथके 'अधिकरणमीमांसा' नामक निबन्ध—जो अब उपलब्ध नहीं है—के होनेका अनुमान किया है.[3]

---

[1] परमतभाषया प्रभुप्रौढतनयाः प्रत्यवतिष्ठन्ते 'निर्विशेषं निरूप्यते' इति. (सिद्धान्तशोभा, पृ.३), 'तर्हि' इत्यारभ्यैव रघुनाथवर्याणां पूर्वपक्षावतारः 'चेद्' इति पर्यन्तम् इति आहुः (वही,पृ.४०), अधुना श्रीमदाचार्यसिद्धान्तं सिद्धाञ्जनेन संगोप्य वदतां श्रीगोकुलनाथानामुक्तिमुपदर्शयन्ति 'यागादिकरणस्य' इति. 'समाधानार्थ' इति पर्यन्तम्. (सिद्धान्तशोभा, पृ.४५) अत्रासिधाराव्यूहे निवेशिताः केचित् स्वपक्षीयाः पौत्रप्रभृतयः तएव प्रतिवादिनं पर्यनुयुञ्जते (सिद्धान्तशोभा, पृ.४८)

[2] विद्वन्मण्डनप्राकट्ये श्रीगोस्वामिमुखाद् एकः शब्दो व्याकरणासिद्धइव निःसृतः, तदा श्रीगिरिधरैः विज्ञप्तिः कृता, शब्दो अयम् अशुद्धइव भाति इति, तदा श्रीगोविन्दरायानाकार्योक्तं, कथम् अयं शब्दः सिद्धयेत्? तदा यद् व्याकरणे सिद्धः तद्रीत्या साधितः

[3] कतिपये च कालेन कवलितकलेवराः इति क्वचन केवलं नाम्ना परिचीयन्ते. एष्वेव सिद्धान्तशोभापरिचायितः 'अधिकरणमीमांसा' नाम्ना निबन्धः स्याद् इति तर्कये. (विद्वन्मण्डनप्रस्तावना पृ.५-६)

भक्तिहंस और भक्तिहेतुनिर्णय ग्रन्थोंका प्रणयन दो सौ बावन वैष्णवन्‌की वार्ता[1]के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने खंभाइचके शास्त्रज्ञ ब्राह्मण मुरारी आचार्यके आग्रहपर वादग्रन्थके रूपमें किया था. भक्तिहंसमें भक्तिके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसकी उपासना आदि मार्गोसे विशिष्टताका प्रभावशाली ढंगसे प्रतिपादन किया गया है. इसका हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित एक संस्करण इसी ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पके रूपमें प्रकाशित किया जा चुका है. भक्तिहेतुनिर्णयमें भक्तिके हेतुका विचार करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि यह हेतु भगवदनुग्रह ही है, कर्म आदि नहीं. इसके विवेच्य विषयका विश्लेषण हम इसी भूमिकाके अन्तमें करेंगे. इसे ही कभी-कभी भक्तिहेतु भी कह दिया जाता है[2] अतः श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंकी विभिन्न सूचियोंमें उल्लिखित भक्तिहेतुको इस कृतिसे पृथक् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न समझना चाहिए. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय तथा श्रीवि.च.में श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उल्लिखित भक्तिनिर्णयके मुद्रित या अमुद्रित रूपमें किसीके दृष्टिपथमें आनेकी जानकारी स्वयं दीनदयालुगुप्त और श्रीपरीख को भी होनेका कोई प्रमाण नहीं है. श्रीविट्ठलनाथके भक्तिसम्बन्धी एक अन्य चौवीस श्लोकोंवाले 'भक्तिजीवनम्' नामक ग्रन्थका—जो पुष्टिभक्तिसुधा पत्रिकामें प्रकाशित भी हो चुका है—उल्लेख पो.कण्ठमणि शास्त्रीने अपनी कृति (शु.पु.सं.वा.खण्ड १,पृ.१६५)में किया है. श्रीहरिशंकर शास्त्रीने उनकी 'भक्तिमार्गमर्यादा' नामक एक कृतिका उल्लेख गो.श्रीवि.(पृ.८)में किया है किन्तु इसके कहीं उपलब्ध होनेकी चर्चा नहीं की है.

गो.श्रीवि. (पृ.६)के अनुसार मुक्तितारतम्यनिर्णयको भी श्रीविट्ठलनाथकी कृति माना जाता है. किन्तु पं.हरिशंकर शास्त्री इसे पढ़ कर

---

[1] दो.वार्ता, खण्ड २, पृ.२२९. [2] निर्णीतवान् भक्तिहेतुं निगूढाशयविट्ठलः (भक्तिहेतुनिर्णय, उपसंहार) कृतवान् रघुनाथो अहं भक्तिहेतुप्रकाशनम् (भक्तिहेतुविवृति,उपसंहार)

इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि “इसके तो साम्प्रदायिक होनेमें भी सन्देह है... अनुमान होता है कि यह ग्रन्थ...किसी मध्वसम्प्रदायी विद्वान्का है. इसमें मुक्तितारम्य विवेचनके सिवा और किसी प्रकारकी सिद्धान्तचर्चा नहीं है और इतिश्रीमें विट्ठलेशप्रभुका नाम बहुत स्पष्ट है, इसलिये यह अनुमानसे काम लिया है.” (गो.श्रीवि.पृ.१०-११). यह कहना कठिन है कि श्रीपो.कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीविट्ठलनाथ विरचित जिस अप्रकाशित भक्तितारतम्यनिर्णयके कांकरोलीके सरस्वती भण्डारमें होनेका उल्लेख [1] किया है वह पूर्वोक्त मुक्तितारतम्यनिर्णय ही है या इससे भिन्न कोई स्वतन्त्र कृति.

डॉ.दासगुप्तने उनकी कृतियोंमें अवतारतारतम्यस्तोत्रका उल्लेख किया है [2] और जयपुरनरेशके संग्रहमें उनकी तारतम्यरत्नमालाप्रदीपिका (अवतारविचारात्मिका) की पाण्डुलिपि मिलती है. इसके साथ ही उनकी ‘आचार्यसिद्धान्तवाङ्माला’ (टीकासहिता)की पाण्डुलिपि भी वहां सुरक्षित है [3]

‘शृंगाररसमण्डनम्’ श्रीविट्ठलनाथकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है. श्रीहरिरायके अनुसार उन्होंने इसकी रचना चाचा हरिवंशके आग्रहसे की थी [4]. यह रससर्वस्व या व्रतचर्या, दानलीला और उल्लास नामक तीन विभागोंमें विभक्त है. इसका प्रकाशन श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने बम्बईसे वि.सं.१९७५में किया था. श्रीविट्ठलेशचरितामृत (पृ.५२)के अनुसार इसके प्रथम विभाग व्रतचर्याकी रचना चीरघाटपर हुई थी, द्वितीय विभाग दानलीलाका प्रारम्भ रीठौरामें और समापन असारवामें हुआ था तथा तृतीय विभाग बेलवनमें लिखा गया था.

श्रीहरिशंकर शास्त्रीकी सूची [5] में पृ.९पर तथा डॉ.दासगुप्तकी सूचीमें

---

१. शु.पु. सं. वा., खण्ड २, पृ.२२२. २. A History of Ind. Phil. Vol.IV., p.377 ३. LiteraryHeritage of the Rulers etc., p.268. ४. दो. वार्ता, खण्ड १, भावप्रकाश, पृ.६३. ५. गो.श्रीवि., पृ.८-९.

पृ.३७७पर श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उल्लिखित और बृ.स. (पृ.१८१-१८२)में मुद्रित रससर्वस्व स्वतन्त्र कृति न हो कर इसी शृंगाररसमण्डनके ‘रससर्वस्व’ नामक प्रथम विभागके प्रथम ग्यारह श्लोकोंका संग्रह ही है. यह विभाग ‘व्रतचर्या’के नामसे भी प्रसिद्ध है और श्रीशास्त्रीकी पूर्वोक्त सूचीमें उल्लिखित ‘व्रतचर्याष्टपदी’से अभिप्राय इसी विभागके अन्तर्गत आनेवाली (पृ.५-६पर मुद्रित) अष्टपदीसे है. यही अष्टपदी बृ.स.में पृ.१७३-१७४पर व्रजचर्याष्टिपदीके नामसे मुद्रित मिलती है. स्पष्ट है कि व्रतचर्याष्टपदी या व्रजचर्याष्टपदी को शृंगाररसमण्डनसे भिन्न स्वतन्त्र कृति मानना भूल है. इसी प्रकार शास्त्रीजीकी पूर्वोक्त सूचीमें उल्लिखित और बृ.स.पृ.१७९-१८०में मुद्रित दानलीलाष्टक भी स्वतन्त्र कृति न हो कर शृंगाररसमण्डनके ‘दानलीला’ नामक द्वितीय विभागके प्रथम आठ श्लोकोंका संग्रह ही है. शास्त्रीजीकी सूचीमें पृ.८पर उल्लिखित और बृ.स.में पृ.१८२-१८६पर मुद्रित शृंगाररस भी स्वतन्त्र कृति न हो कर शृंगाररसमण्डनके तृतीय विभागका प्रथम उल्लास मात्र है.

श्रीविट्ठलनाथको गृहकलहके कारण वि.सं.१६०५की पोष शुक्ल षष्ठीसे वि.सं.१६०६की आषाढ शुक्ल षष्ठी तक छःमास श्रीनाथजीकी सेवाका अवसर प्राप्त न हो सका था. इस अवधिमें उन्होंने परासोलीमें चन्द्रसरोवरपर रह कर नौ विज्ञप्तियाँ लिखी थीं. ये विज्ञप्तियाँ श्रीभक्तिमार्गीय वाचनालय बम्बईसे वि.सं.२०१२में प्रकाशित विज्ञप्तिस्तोत्रोंमें गुजराती अनुवादसहित प्रकाशित हो चुकी है. इनमेंसे प्रथम आठमें प्रत्येकमें पच्चीस और नवींमें छब्बीस श्लोक हैं. ये विज्ञप्तियाँ बृ.स. (पृ.१६८-२२६)में भी मुद्रित मिलती हैं. बृ.स.में (पृ.१७१-१७३पर) इनसे पृथक् चौबीस श्लोकोंकी एक अन्य विज्ञप्ति भी विट्ठलनाथकृत कह कर मुद्रित की गयी है, किन्तु इस विज्ञप्तिके चौबीस श्लोकोंमेंसे बीस श्लोक (संख्या १-९, ११-१४, १६, १६-२३ और २४ क्रमशः) पूर्वोक्त विज्ञप्तियोंमेंसे तीसरी विज्ञप्तिके बीस श्लोकों (संख्या १-१९ और

२५)से अभिन्न है. इस विज्ञप्तिके सभी चौबीस श्लोक श्रीगोकुलेशकी कृतिके रूपमें विज्ञप्तिस्तोत्रो (पृ.६८-७५)में मुद्रित विज्ञप्तिमें भी (श्लोकसंख्या १-२३ तथा २६ के रूपमें) मुद्रित मिलते हैं. श्रीगोकुलेशकृत कही जानेवाली इस विज्ञप्तिके शेष तेरह श्लोकोंमेंसे पांच (श्लोकसंख्या ३०-३४) श्रीविट्ठलनाथकृत चतुर्थ विज्ञप्तिके प्रथम पांच श्लोकोंसे अभिन्न हैं.

श्रीविट्ठलनाथकी अन्य स्तुतिपरक कृतियोंमेंसे श्रीगोकुलाष्टकम्, ललितत्रिभंगस्तोत्रम् (५५ श्लोकात्मक), यमुनाष्टपदी, श्री स्वामिन्यष्टकम्, राधाप्रार्थनाचतुःश्लोकी, श्रीस्वामिनीप्रार्थना (षट्श्लोकात्मिका[1]) और श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् (द्वादशश्लोकात्मक) बृ.स.में मुद्रित मिलती हैं. सम्भवतः इनमेंसे अन्तिम—स्वामिनीस्तोत्र—को ही डॉ.दासगुप्तकी कृतिमें (पृ.३७७ पर) प्रमादवश ‘स्वामिस्तोत्र’ कहा गया है. पो.कण्ठमणि शास्त्रीने उनके ‘बालकृष्णाष्टकम्’ या ‘बालकृष्णनमनाष्टकम्’ नामक एक अप्रकाशित अष्टकके कांकरोलीके सरस्वती भण्डारमें होनेका उल्लेख किया है[2]. उनकी चतुःश्लोकी, रक्षास्मरणम् (एकादशश्लोकात्मक), स्वप्नदर्शनम्, प्रबोधः और गुप्तरसः शीर्षकवाली कृतियाँ भी बृ.स.में मुद्रित मिलती हैं. उनकी ‘गुप्तषोडशश्लोकाः’ शीर्षक अप्रकाशित कृतिके उक्त सरस्वती भण्डारमें होनेकी सूचना पो.कण्ठमणि शास्त्रीने दी है[3].

श्रीविट्ठलनाथकृत ‘श्रीवल्लभाष्टकम्’ तथा ‘श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतम्’ नामसे प्रसिद्ध सप्तश्लोकीमें श्रीवल्लभाचार्यकी प्रशस्ति है और सर्वोत्तमस्तोत्रम्में उनके १०८ नाम तथा उनके पाठका फल निरूपित किया गया है. इन कृतियोंके कई संस्करण मुद्रित हो चुके हैं. श्रीवि.च. (पृ.५१)में श्रीविट्ठलनाथको श्रीवल्लभनामावलीका कर्ता कहा गया है किन्तु बृ.स. (पृ.२८०-२८४)में श्रीवल्लभाचार्यके एक सौ-आठ नामोंकी निरूपिका

---

[1] इसे पो.कण्ठमणि शास्त्रीने प्रमादवश अष्टक कहा है. (द्र. शु.पु.सं.वा.खण्ड २ पृ.२००). [2] शु.पु.सं.वा. खण्ड २, पृ.१८०. [3] वहीं, पृ.१८८.

जो नामावली मुद्रित मिलती है उसे वहां श्रीहरिरायकृत कहा गया है. इसके प्रथम श्लोक[१] से भी यही सूचित होता है कि यह श्रीविट्ठलनाथकृत नहीं है. ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहरिरायकृत इस नामावलीको श्रीपरीखने प्रमादवश श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंकी सूचीमें समाविष्ट कर लिया है क्योंकि श्रीविट्ठलनाथ सर्वोत्तमस्तोत्रमें श्रीवल्लभाचार्यके १०८ नामोंका निरूपण कर चुकनेके बाद उनके १०८ नामोंकी एक अन्य नामावली लिखें यह सम्भव नहीं लगता.

श्रीविट्ठलनाथकी कुछ अन्य कृतियोंका उल्लेख अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (पृ.७६-७७)में स्फुट स्तोत्रादि तथा श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृ.१०)में प्रकीर्णस्तोत्र शब्दसे किया गया है. बृ.स.में श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंके अन्तर्गत सर्वप्रथम 'मंगलाचरणम्' शीर्षकसे एक चतुःश्लोकी मुद्रित मिलती है जिसका प्रथम श्लोक[२] नवरत्नकी श्रीविट्ठलनाथकृत प्रकाशव्याख्याका मंगल श्लोक है और तृतीय श्लोक[३] श्रीविट्ठलनाथकृत द्वितीय विज्ञप्तिसे तेईसवें पद्य[४] का अपपाठ है. इसके दूसरे श्लोकमें श्रीमद्वल्लभनन्दनकी वन्दना[५] देख कर कुछ लोग इसके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेमें सन्देह करते हैं किन्तु साम्प्रदायिक विद्वान् यहां इस पदको श्रीविट्ठलनाथके अग्रज श्रीगोपीनाथका वाचक मानते हैं. चतुर्थ श्लोक[६] सम्प्रदायमें प्रसिद्ध उस श्लोक[७] का रूपान्तर है जिसे श्रीवल्लभाचार्यके काशीमें आसुरव्यामोहलीला करनेके समय भगवान् द्वारा उपदिष्ट माना

---

१. श्रीवल्लभाख्य-स्व-स्वामिनामानि स्वीयतुष्टये. यथामति वदिष्यामि तदाश्रितजनाश्रितः. २.चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः. स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ३. यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम. अतएव अस्ति मच्चित्तम् ऐहिके पारलौकिके ४. यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम. ततएव अस्ति नैश्चिन्त्यम् ऐहिके पारलौकिके ५. यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत्. तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभनन्दनम् ६. मम चित्तस्य विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे, यदा तदा कृतार्थो अहं शोचनीयो न कर्हिचित् ७. मयि चेद् अस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे, तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित्.

जाता है. इस प्रकार यह मंगलाचरण श्रीविट्ठलनाथकी स्वतन्त्र कृति न हो कर किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा संकलित प्रतीत होता है.

इसी प्रकार गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित मूल विज्ञप्तिस्तोत्रके प्रारम्भमें श्रीविट्ठलनाथकृत कह कर मुद्रित किये गये पञ्चश्लोकात्मक मंगलाचरण को भी उनकी स्वतन्त्र कृति न मान कर किसी परवर्ती द्वारा संकलित मानना ही उचित प्रतीत होता है क्योंकि इनमेंसे चतुर्थ श्लोक गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमकृत अणुभाष्य प्रकाशका मंगलाचरण है तथा द्वितीय एवं तृतीय पद्य श्रीमद्भागवतकी श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीकाके मंगलश्ललोक हैं. प्रथम श्लोक[1] पर गोस्वामी श्रीहरिरायकी संस्कृत व्याख्या मिलती है जिसमें इसे श्रीमत्प्रभुचरणकी कृति कहा गया है. पञ्चम पद्य [2]'सौन्दर्यपद्य'के नामसे प्रसिद्ध है और इसके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेमें कोई सन्देह नहीं है. यह कई व्याख्याओं सहित प्रकाशित हो चुका है.

श्रीविट्ठलनाथकी सेवासम्बन्धी एक कृति 'सेवाश्लोकाः' या 'सेवाशिक्षा' के नामसे प्रसिद्ध है और जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट, बम्बईसे प्रकाशित सहस्रीभावनाके परिशिष्टके रूपमें मुद्रित हो चुकी है. ८९ श्लोकोंकी इस कृतिमें प्रातःसे ले कर शयनकालपर्यन्त भगवत्सेवाका सरस निरूपण उपलब्ध होता है[3]. गो.श्रीवि. (पृ.८)में इसका उल्लेख 'सेवाश्लोक'के नामसे किया गया है. पं.कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीविट्ठलनाथकी सेवासम्बन्धी एक अप्रकाशित कृति 'सेवानुकूलविधानम्' के कांकरोलीके सरस्वतीभंडारमें

---

१. भावैः अंकुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासञ्चितैः, प्रेम्णाकन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः सम्भृतं, लौल्यैः पल्लवितं, मुदा कुसुमितं, प्रत्याशया पुष्पितं, लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीशृंगारकल्पद्रुमम्. २. सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकम्, पुंरूपञ्च पुनस् तदन्तर्गतं प्राविविशत् स्वप्रिये संश्लिष्टावुभयौ बभौ रसमयः कृष्णो हि यत्साक्षिकं रूपं तत् त्रितयात्मकं परम् अभिध्येयं सदा वल्लभम् ३. द्र. शु.पु.सं.वा. खण्ड २, पृ.२२९-२३०.

होनेका उल्लेख किया है[1]. उन्होंने 'पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा' नामक श्रीविट्ठलनाथकी एक अन्य कृतिके कांकरोलीके सरस्वती भंडारमें होनेका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'पुरुषोतम-प्रतिष्ठा-प्रकारः' नामसे यह ग्रन्थ 'पुष्टिभक्तिसुधा'में प्रकाशित हुआ था[2]. उसका उल्लेख श्रीवि.च. (पृ.५१) और गो.श्रीवि. (पृ.८)में भी मिलता है. श्रीकण्ठमणि शास्त्रीने 'स्वमार्गीयसाधनरहस्यम्' शीर्षक उनके एक अन्य अप्रकाशित ग्रन्थके कांकरोलीके सरस्वतीभण्डारमें होनेकी चर्चा की है[3]. श्रीवि. च. (पृ.५०)में उनकी 'सेवानिकुंज' और 'गद्यार्थ' नामक दो अन्य कृतियोंका उल्लेख किया गया है. जयपुरनरेशके पोथीखानामें उनकी 'सेवार्थः' नामक कृतिकी पाण्डुलिपि सुरक्षित है[4].

बृ.स.के पृ.१५२-१५३पर छपी चार छन्दोंकी कृति 'राजभोगारार्तिकार्या-'को तथा पृ.१५८-१५९पर मुद्रित 'भुजंगप्रयाताष्टकम्'को भी—जैसा कि इनकी पुष्पिकाओंसे ज्ञात होता है—कुछ लोग श्रीविट्ठलनाथकृत न मान कर श्रीवल्लभाचार्यकृत मानते है किन्तु पूर्वोक्त राजभोगारार्तिकार्याकी रचना, श्रीवि.च. (पृ.५६)के अनुसार श्रीविट्ठलनाथजीने दस वर्षकी वयमें अडेलमें की थी. बृ.स.में (पृ.१५०-१५१पर) मुद्रित मंगलारार्तिकार्याकी रचना श्रीवि.च. (पृ.५६)के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने अष्टछापके कवि श्रीपरमानन्ददासके लिए गोकुलमें की थी. बृ.स. के पृ.१५३पर 'सन्ध्यारार्तिकार्या' शीर्षकसे मुद्रित चार छन्दोंकी कृतिको पुष्पिकामें श्रीविट्ठलनाथकृत बताते हुए यह कहा गया है कि इसे कुछ लोग श्रीरघुनाथ—जो श्रीविट्ठलनाथके पाँचवें पुत्र थे—की कृति मानते हैं. इसकी टेक "रतिरस्तु सदा वल्लभतनये"से कभी-कभी इसके वल्लभतनय श्रीविट्ठलनाथकृत होनेमें सन्देह प्रकट किया जाता है किन्तु सम्प्रदायके कुछ विद्वानोंके अनुसार यह कृति निश्चय ही प्रभुचरणकी ही है और यहां वल्लभतनयसे श्रीविट्ठलनाथ अभिप्रेत नहीं हैं. श्रीविट्ठलनाथकृत शयनारार्तिकार्या भी

---

[1] द्र. वहीं, पृ.२३०. [2] शु.पु.सं.वा खण्ड २, पृष्ठ ९०. [3] वहीं, पृ.९५. [4] Literary Heritage of the Rulers etc. p.268.

बृ.स. (पृ.१५४)में मुद्रित[1] मिलती है. श्रीवि.च.(पृ.५०में) उनकी शृंगारार्तिकार्याका भी उल्लेख है. डॉ.दासगुप्तकी कृतिमें (पृ.३७७पर) उल्लिखित आर्या ग्रन्थसे अभिप्राय सम्भवतः इन्हीं रचनाओंसे है. श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृ.१०)में इन्हें ही 'आर्याएँ' कहा गया है.

बृ.स.में (पृ.१५१पर) मुद्रित "प्रेंखपर्यंकशयन इत्यादि पर्यंक" अर्थात् पालना-गीतकी रचना श्रीवि.च. (पृ.५६)के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने गोकुलमें सूरदासजीके लिए की थी. उनका एक अन्य पालना-गीत "लालयति दोलिकामञ्च शयनम्" इत्यादि बृ.स.में (पृ.२२६पर) 'द्वितीयपर्यंकः' शीर्षकसे मुद्रित मिलता है.

श्रीविट्ठलनाथकृत 'उत्सवनिर्णय'—जिसे अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (पृ.७६-७७)में 'निर्णयग्रन्थ' तथा श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृ.१०)में 'उत्सवनिर्णयग्रन्थ' कहा गया है—का उल्लेख श्रीपुरुषोत्तमने जन्मप्रकरण सुबोधिनी और उसकी टिप्पणी की अपनी प्रकाशव्याख्यामें[2] किया है. उत्सवनिर्णयके अन्तर्गत आनेवाली 'जन्माष्टमीनिर्णय' तथा 'रामनवमीनिर्णय' नामक कृतियोंमेंसे प्रथम, जन्माष्टमीनिर्णयकी रचना श्रीवि.च. (पृ.५६-५७)के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने मथुरामें की थी. इन दोनों कृतियोंके एकसे अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं. शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मयमें (प्रथम खण्ड, पृ.२३८) पो.कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीविट्ठलनाथकी 'दोलोत्सवनिर्णयसूचनापत्रम्' नामक उत्सवसम्बन्धी कृतिका उल्लेख करते हुए बताया है कि यह प्रकाशित हो चुकी है.

श्रीविट्ठलनाथकृत कुछ स्फुट पद्य परवर्ती ग्रन्थोंमें उद्धृत मिलते हैं. दो सौ बावन वैष्णवकी वार्तामें नागजी भट्टको श्रीविट्ठलनाथ द्वारा पत्रमें लिख कर भेजे गये दो श्लोक उपलब्ध होते हैं[3]. इनमेंसे

---

[1] इसे श्रीवि.च.पृ.६३में श्रीरघुनाथकृत बताया गया है. [2] इदं यथा तथा उत्सवनिर्णयान्तर्गतजन्माष्टमीनिर्णयविवरणे सम्यक् प्रपञ्चितम् इति ततो अवधेयम्. (सुबो.टि.प्रकाशः १०।३।४७) [3] दो. वार्ता, खण्ड १, पृ.२४.

एक[१] श्लोकको श्रीबालकृष्णभट्टने सेवाकौमुदीमें उद्धृत किया है. इसी प्रकार पूर्वोक्त नागजी भट्टकी वार्तामें दो श्लोक[२] एवं पुरुषोत्तमदासकी वार्तामें एक श्लोक[३] श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उद्धृत है.

श्रीविट्ठलनाथका एक पत्र “आत्मसुतेभ्यः पत्रम्” शीर्षकसे बृ.स. (पृ.१६९-१७०)में प्रकाशित हुआ था. विद्वन्मण्डनम् की भूमिकामें (पृ.२ पर) श्रीतेलीवालाने श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा अपने ज्येष्ठ भ्राताको लिखा गया एक पत्र छापा है. उनके अनुसार श्रीविट्ठलनाथने नागजी भट्टको ओ पत्र लिखे थे उनमेंसे कुछकी मूलप्रति श्रीनाथद्वारामें सुरक्षित है[४]. उनके कुछ अन्य पत्र भी उपलब्ध हैं.

इन सबके अलावा पं.हरिशंकर शास्त्रीने (गो.श्रीवि.पृ.९में) श्रीविट्ठलनाथकी ‘चौरचर्या’ तथा ‘चौर्यस्वरूपनामलीला’ नामक दो अन्य कृतियोंका उल्लेख किया है. इसी प्रकार डॉ.दासगुप्तने उनकी कृतियोंमें ध्रुवापदटीका, भगवतस्वतन्त्रता, शिक्षापत्र, षट्पदी और समयप्रदीप को भी गिनाया है[५] किन्तु उनके एतत्सम्बन्धी वाक्यों या मत की प्रामाणिकता नितान्त सन्देहास्पद है यह उनकी कुछ उक्तियोंके अधोलिखित विवेचनसे स्पष्ट हो जायेगा.

डॉ.दासगुप्तने अपनी कृतिमें पृ.३७७पर सेवाकौमुदीको भी श्रीविट्ठलनाथकी कृति बताया है किन्तु पृ.३७५पर वे स्वयं लिखते हैं, “Balakrsna Diksita...wrote...a commentary on the Subodhini (the Subodhini yojana— nibandha— yojana Seevakaumudi)...”

---

[१] श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यम् अत्र अव्यभिचारिहेतुः प्रेमैव तस्मिन् नवधोक्तभक्तिः तत्र उपयोगो अखिलसाधनानाम्. [२] दो. वार्ता, खण्ड १, पृ.२२. [३] वहीं, खण्ड १, पृ. ३६५. [४] Sri Vitthaleshvara and his Vidvan-mandana (i.e. Introduction to Vidvanmandana) p.2. [५] A History of Ind.Phil. Vol. IV., p.377.

उनके इस वाक्यका सीधा अर्थ है कि बालकृष्ण दीक्षितने सुबोधिनीकी टीका लिखी है और उस टीकाका नाम सुबोधिनी—योजन—निबन्ध—योजन सेवाकौमुदी है. डॉ.दासगुप्तकी अन्य अनेक भूलोंके समान ही यह भी एक तथ्यसम्बन्धी भूल है. वस्तुतः सुबोधिनीयोजना (श्रीमद्भागवतकी सुबाधिनीटीकाकी श्रीबालकृष्णभट्टकृत व्याख्या), निबन्धयोजना (श्रीवल्लभाचार्यकृत तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी श्रीबालकृष्णभट्टकृत व्याख्या) तथा सेवाकौमुदी (पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवाके स्वरूप और विषयका प्रतिपादन करनेवाली श्रीबालकृष्ण भट्टकी स्वतन्त्र कृति) श्रीबालकृष्णभट्ट दीक्षित—जो सम्प्रदायमें श्रीलालूभट्टके नामसे प्रसिद्ध हैं—की तीन अलग-अलग कृतियां हैं. सेवाकौमुदी श्रीरमानाथशर्माकृत हिन्दीभाषान्तरसहित श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत संस्कृत पुस्तकालय बम्बईसे सन् १९१९ ई.में प्रकाशित हो चुकी है. इसके प्रथमप्रकरणमें यह प्रतिपादित किया गया है कि पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवा श्रीमद्भागवतमूलिका है और द्वितीय प्रकरणमें यह सिद्धान्त निर्धारित किया गया है कि इस सेवाके विषय परमकाष्ठापन्न निर्गुण ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं. पुस्तकमें पृष्ठ ७०पर इसे श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवक श्रीलालूभट्टोपनामक दीक्षितश्रीबालकृष्णभट्टविरचित कहे जानेसे तथा पृ.२९-३०पर आये “अस्य अर्थस्तु प्रभुचरणैः व्याख्यातः बोधसौकर्याय तदनुसारेणेहापि लिख्यते.” इस वाक्य एवं पृ.४७पर आये “इति विद्वन्मण्डने निरूपितं प्रभुचरणैः” इस वाक्यसे यह निश्चित हो जाता है कि यह श्रीबालकृष्ण भट्टकी स्वतन्त्र रचना है और इसे श्रीविट्ठलनाथकी कृति कहना डॉ.दासगुप्तकी गलती है.

इसी प्रकार डॉ.दासगुप्तने अपनी कृति (भारतीय दर्शनका इतिहास, भाग चतुर्थ)के पृ.३७७पर श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंमें नामचन्द्रिकाका उल्लेख किया है किन्तु पृ.३७४पर उन्होंने लिखा है कि नामचन्द्रिका पुरुषोत्तमनामसहस्त्रकी रघुनाथकृत टीकाका नाम है (Raghunatha... wrote...a commentary on Purusottama-nama-sahastra, the Nama-chandrika.) और आगे चल कर पृ.३८०पर वे लिखते हैं कि

रघुनाथ—जिनका जन्म १५५७में हुआ था—ने वल्लभके भक्तिहंसपर नामचन्द्रिका नामकी टीका लिखी (Raghunatha, born in 1557, wrote the commentary Nama-chandrika on Vallabha's Bhakti-hansa.).अवधेय है कि अपने प्रकाशनोंमें मुद्रणकी अशुद्धियाँ न रहने देनेके लिए प्रसिद्ध इंग्लॅण्डके अग्रणी प्रकाशन कॅम्ब्रिज् युनिवर्सिटी प्रेसकी सिन्डीकेट् (के सदस्यों) द्वारा प्रकाशित डॉ. दासगुप्तकी इस कृतिमें भी कॅम्ब्रिज् युनिवर्सिटी प्रेस्के अन्य अनेक प्रकाशनोंकी भाति ही कोई शुद्धिपत्र नहीं दिया गया है जिसका सीधा-सा अर्थ यही होता है कि प्रकाशकोंकी दृष्टिमें ग्रन्थमें मुद्रणमें कोई भूल नहीं हुई है. किन्तु वास्तविकता यह है कि इस कृतिमें विभिन्न प्रकारकी अशुद्धियोंकी भरमार है[1]. डॉ.दासगुप्तके उपर्युक्त रूपमें मुद्रित इन परस्परविरोधी एवं भ्रामक वाक्योंके सम्बन्धमें हमें केवल यही कहना है कि श्रीविट्ठलनाथके पञ्चम पुत्र श्रीरघुनाथका जन्म कार्तिक शुक्लद्वादशी वि.सं.१६११ तदनुसार सन् १५५४ ई.को हुआ था (न कि सन् १५५७ ई.में)[2]. भक्तिहंस श्रीविट्ठलनाथकी रचना है (न कि वल्लभकी),

---

[1]. पृ.३७६ तथा ३८० पर अनेकशः पञ्चपद्यानिको पञ्चपाद्य, पृ.३७७पर एकसे अधिक बार विद्वन्मण्डनको विद्यामण्डन, पृ.३७९ पर तत्त्वार्थदीपनिबन्धको तत्त्वार्थदीपिका, प्रस्थानरत्नाकरको प्रार्थनारत्नाकर, वेदान्ताधिकरणमालाको वेदान्तकरणमाला तथा सुबोधिनीत्रुभुत्सुबोधिकाको सुबोधिनीत्रुभुत्रबोधिनी, पृ.३८१पर विद्वन्मण्डनको विद्वानमण्डन और शुद्धाद्वैतमार्तण्डको सिद्धाद्वैतमार्तण्ड लिखना एवं उसी पृ.३८१पर श्रीविट्ठलनाथके कनिष्ठपुत्र श्रीघनश्याम—जिनका जन्म कार्तिक कृष्णत्रयोदशी वि.सं.१६२८ तदनुसार सन् १५७१ ई.में हुआ था—को श्रीविट्ठलनाथका पौत्र और सन् १५७४ ई. में उत्पन्न बताना तथा इसी प्रकार पृ.३७९पर श्रीविट्ठलनाथके प्रपौत्र श्रीयदुपति—जिनका जन्म श्रीविट्ठलनाथके लीलाप्रवेश (वि.सं.१६४२)के २१ वर्ष बाद मार्गशीर्ष कृष्णप्रतिपदा वि.सं.१६६३ में हुआ था—के पुत्र (और श्रीपुरुषोत्तमके पिता) श्रीपीताम्बरको श्रीविट्ठलनाथका शिष्य बताना कुछ ऐसी गलतियाँ हैं जिन्हें हम इन पाँच पृष्ठोंमें (३७६-३८१) ही हुई अनेक गलतियोंमेंसे उदाहरणके लिए चुन सकते हैं. [2].देखें, वंशावली, पृ.८५ तथा १९६.

भक्तिहंसकी श्रीरघुनाथकृत टीकाका नाम भक्तितरंगिणी है (न कि नामचन्द्रिका) और—जैसाकि स्वयं डॉ.दासगुप्तने (पृ.३७४पर) स्वीकार किया है—पुरुषोत्तमसहस्त्रनामकी नामचन्द्रिकाटीका श्रीरघुनाथकी कृति है (न कि श्रीविट्ठलनाथकी).

भक्तिहेतुनिर्णयकी संस्कृतव्याख्या विवृति

भक्तिहेतुनिर्णयके प्रस्तुत संस्करणमें मुद्रित 'विवृति'नामक संस्कृतव्याख्या भक्तिहेतुनिर्णयके लेखक गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथके पञ्चमपुत्र श्रीरघुनाथकी कृति है. श्रीरघुनाथका जन्म (गुर्जर कार्तिकशुक्लद्वादशी) वि.सं.१६११ में हुआ था. वे अच्छे विद्वान् एवं कवि थे और उन्होंने श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के कई ग्रन्थोंकी व्याख्या लिखनेके साथ ही स्वतन्त्र रचनाएँ भी की हैं. उनके वंशमें उनके नामके तीन अन्य विद्वान् भी हुए हैं. इनमेंसे उनके पौत्र श्रीदेवकीनन्दनात्मज श्रीरघुनाथ (जन्म, गुर्ज आषाढकृष्णैकादशी वि.सं.१६६०) की भी कई कृतियां मिलती हैं. इन द्वितीय श्रीरघुनाथने अपने श्रीराघवेन्द्रस्तोत्रमें अपने पितामह द्वारा श्रीवल्लभाचार्यके ग्रन्थोंकी सम्यक् विवृति किये जानेका उल्लेख किया है[१]. श्रीराघवेन्द्रस्तोत्र लेखकने अपने पितामह श्रीरघुनाथ—जिनकी पत्नीका नाम श्रीमती जानकी था—को लक्ष्य करके ही लिखा है, दाशरथि रघुनाथको लक्ष्य कर नहीं, और इसे बृहत्स्तोत्रसरित्सागरमें भूलसे ही श्रीविट्ठलनाथपुत्र श्रीरघुनाथ—जो इस स्तोत्रके स्तुतिविषय हैं—की कृति मान लिया गया है. इसी प्रकार वहां इन द्वितीय श्रीरघुनाथकृत नामचिन्तामणिस्तोत्र—जिसमें उन्होंने अपने पिता श्रीदेवकीनन्दनके १०८ नाम गिनाये है[२]—को श्रीदेवकीनन्दनके पिता प्रथम श्रीरघुनाथकी कृति प्रमादवश ही मान लिया गया है.

---

१. सदा वल्लभाचार्यमार्गे प्रसक्तं पुनस्तत्कृतग्रन्थसम्यग्विवृत्या, प्रसिद्धञ्च तत्पादपद्मे नतांगं भजे जानकीनायकं राघवेन्द्रम्. (राघवेन्द्रस्तोत्र ७) २. देवकीनन्दनः श्रीमान्जानकीगर्भसम्भवः रघुनाथात्मजः पुण्यः (नामचिन्तामणिस्तोत्र-५)

श्रीवल्लभाचार्यकृत षोडशग्रन्थोंमेंसे कईपर प्रस्तुत संस्कृतव्याख्याकार श्रीरघुनाथकी व्याख्याएँ मिलती है. इनमेंसे पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरण, सिद्धान्तरहस्य विवृति, अन्तःकरणप्रबोधविवरण, विवेकधैर्याश्रयदीपिका, श्रीकृष्णाश्रयविवरण, भक्तिवर्द्धिनीविवृति और संन्यासनिर्णयविवरण नामक टीकाएँ मुद्रित हो चुकी हैं. उनकी सिद्धान्तमुक्तावलीव्याख्याके कांकरोलीके सरस्वतीभण्डारमें होनेका उल्लेख पो.कण्ठमणि शास्त्रीने किया है[१]. उनका मधुराष्टकविवरण भी मुद्रित हो चुका है. श्रीवल्लभाचार्यकृत पुरुषोत्तमसहस्त्रनामको उनकी नामचन्द्रिका व्याख्या श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने वि.सं.१९७४में बम्बईसे प्रकाशित की थी. श्रीवल्लभाचार्यस्तुतिपरक उनके दो स्तोत्र 'वह्निसूनुस्तवः' (नवश्लोकात्मक) और श्रीवल्लभभुजंगप्रयाताष्टकम् (बृ.स.पृ.२२८-२३३ में) प्रकाशित मिलते हैं. श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंमेंसे कईपर श्रीरघुनाथने व्याख्याएँ लिखी थीं. इनमेंसे सर्वोत्तमस्तोत्रविवरण, श्रीवल्लभाष्टकटीका, भक्तितरंगिणी (भक्तिहंसकी टीका) और 'विवृति' नामक भक्तिहेतुनिर्णयकी यह व्याख्या मुद्रितरूपमें उपलब्ध हैं. उनका श्रीविट्ठलनाथके १०८ नामोंका संग्राहक ३० श्लोकात्मक नामरत्नाख्यस्तोत्र बृ.स. (पृष्ठ २३४-२३७)में मुद्रित मिलता है. बृ.स. (पृष्ठ २२६-२३१)में मुद्रित गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथस्तुतिपरक दसश्लोकात्मक 'श्रीविट्ठलेशस्तवः'को भी वहाँ उन्हींकी कृति माना गया है. बृ.स. (पृ.२३१-२३२)में मुद्रित उनके श्रीविट्ठलेशाष्टकको पो.कण्ठमणि शास्त्रीने प्रमादवश गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथकी स्तुति समझ कर आचार्यस्तोत्रके अन्तर्गत गिना है[२] किन्तु यह स्पष्टतः भगवत्परक है. बृ.स. (पृ. २४९-२५१)में प्रकाशित गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथके १०८ नामोंकी मालिकारूप ३६ श्लोकात्मक नामकौस्तुभस्तोत्रको वहाँ प्रथम श्रीरघुनाथकृत ही माना गया है किन्तु पो.कण्ठमणि शास्त्रीने इसे उनके पौत्र द्वितीय श्रीरघुनाथकी कृति माना है[३]. उनके श्रीगोकुलेशाष्टक, श्रीगिरिधार्यष्टक, श्रीकृष्णचन्द्राष्टक एवं श्रीयमुनाष्टक भी बृ.स. (पृ.२४१-२४७)में मुद्रित मिलते हैं. बृ.स.(पृ.२४५-२४६)में मुद्रित उनके द्वादशश्लोकात्मक 'गोपालस्तवः'में

---

१. शु.पु.सं.वा.खण्ड २ पृ.११०. २. वहीं, पृ.१९५. ३. वहीं, पृ.२१२.

है. ग्यारह अवतारोंकी स्तुति है. पो.कण्ठमणि शास्त्रीने उनकी अन्य प्रकाशित कृतियोंके रूपमें तिलकनिरूपकपद्यानि, यमुनाष्टपदीविवृति, जन्माष्टमीनिर्णयकी टीका, और शरत्पूर्णिमानिर्णय का उल्लेख किया है[१].

भक्तिहेतुनिर्णयका प्रस्तुत संस्करण

पचास वर्षसे भी अधिक हुआ जब श्रीहरिकृष्ण वीरजी शास्त्री एवं श्रीचिमनलाल हरिशंकर शास्त्री ने भक्तिहेतुनिर्णयको गोस्वामी श्री रघुनाथकृत विवृति और अपने गुजराती अनुवादके साथ श्रीजीवनाचार्य पुष्टिसिद्धान्त कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित कराया था. इस प्राचीन संस्करणको गुरुवर गोस्वामिश्रीदीक्षितजीमहाराजकी आज्ञासे ज्यों-का-त्यों पुनर्मुद्रित कर श्रीपुष्टिमार्गीय युवक परिषद् बम्बईसे सन् १९६०में प्रकाशित किया गया था. हमने प्रस्तुत संस्करणमें इस प्रकाशनका पूरा-पूरा उपयोग किया है और एतदर्थ हम पूर्वसंस्करणोंके सम्पादकों एवं अनुवादकों की अधमर्णता स्वीकार करते हैं; किन्तु यह संस्करण पूर्वमुद्रित संस्करणोंका प्रूफसंशोधन कर पुनर्मुद्रणमात्र नहीं है. इसमें मूलको पाठशोधनपूर्वक व्यवस्थित ढंगसे अनुच्छेदोंमें विभक्त करके छापा गया है. उद्धरणोंका आकर-स्थलनिर्देश करते हुए उन्हें एक भिन्न टाइपमें मुद्रित किया गया है जिससे पाठकोंको पढने-समझनेमें अधिक-से-अधिक सुविधा हो. उसके नीचे एक काली रेखासे पृथक् कर श्रीरघुनाथकृत विवृति नामकी संस्कृत व्याख्याको व्यवस्थित ढंगसे अनुच्छेद-विभाजनपूर्वक छापा गया है. इसमें भी उद्धरणोंको आकरस्थलनिर्देशपूर्वक एक भिन्न टाइपमें छापा गया है. संस्कृत व्याख्यामें आये मूलग्रन्थके शब्दोंको व्याख्याके टाइपसे कुछ बड़े टाइपमें मुद्रित किया गया है. संस्कृत व्याख्याके नीचे एक लहरदार रेखा दे कर हिन्दी-अनुवाद एवं व्याख्या दी गयी है. हिन्दी अनुवादमें भी उद्धरणोंका आकरस्थल निर्दिष्ट करते हुए उन्हें एक भिन्न प्रकारके टाइपमें मुद्रित करनेकी प्रक्रिया अपनायी गयी है. अनुवाद करनेमें यह ध्यान रखा गया है कि वह प्रामाणिक और सरल होनेके साथ-साथ

---

[१] द्र.शु.पु.सं.वा. खण्ड २ पृ.८८, १०५; खण्ड १ पृ.२३६ एवं २३८.

मूलको समझनेमें सहायक भी हो. हिन्दी व्याख्या—जिसे हमने 'भक्तिहेतुनिर्णय'-प्रकाशिका नाम दिया है—अनुवादकी अपेक्षा छोटे टाइपमें स्वतन्त्र अनुच्छेदोंमें मुद्रितकी गयी है और उसमें आये उद्धरणादि भी आकरस्थलनिर्देशपूर्वक भिन्न प्रकारके टाइपमें छापे गये है. इसमें सारी बातोंको समझा कर इस तरह कहनेकी चेष्टा की गयी है कि मूल एवं संस्कृतटीका के लेखकोंके आशयके साथ ही उनके वाक्योंको भी स्पष्टता समझा जा सके.

ग्रन्थके अन्तमें सारे उद्धरणोंकी आकरस्थलनिर्देशपूर्वक अकारादिक्रमसे अनुक्रमणिका दी गयी है और ग्रन्थके कलेवरमें तथा इस भूमिकामें प्रयुक्त ग्रन्थोंका विवरण तथा उनके लिए प्रयुक्त संकेतोंकी सूची भी दी गयी है. आशा है अपने इस नवीन रूपमें यह ग्रन्थ पाठकोंको और अधिक पसन्द आयेगा.

विदुषामाश्रवः
केदारनाथ मिश्रः

भक्तिहेतुनिर्णय-भक्तिहंसमें प्रतिपाद्य भक्तिका स्वरूप

(पुरोवचन)

पूर्तेन तपसा यज्ञैर् दानैर् योगसमाधिना।।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस् तत्त्वविन्मतम्।।१।।
अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।।
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर् यत्कृते प्रियः।।२।।
सर्ववेदमयेन इदम् आत्मना आत्मयोनिना।।
प्रजाः सृज यथापूर्व याश्च मयि अनुशेरते।।३।।
तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः।।
व्यज्य इदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस् तिरोदधे।।४।।
(भाग.पुरा.३।९।४१-४४)

सुबो. : विचारे क्रियमाणे किं फलम्? इति तदेव फलं, यत् फलमेव न साधनं नापि अफलम्. तत्र मोक्षस्यापि सर्वाभिलषितत्वाभावाद् वैषयिकसुखनिवर्तकत्वेन न तत् फलमेव... अतः सर्वसाधारणम् एकं निर्णेतव्यं यत् सर्वेषामेव सर्वफलरूपं भवति. तत्र सताम् अयं निर्धारो मत्प्रीतिः इति... 'अहम् आत्मा' इति सर्वेषाम् आत्मनाम् अहम् आत्मा... प्रेयसामपि अहं प्रियो अतो प्रीतिविषयत्वाद् मयि रतिं कुर्याद्... देहादिस्तु आत्मसम्बन्धात् प्रियः. करोम्येव अहं सर्वमेव हितं परं मयि स्नेहाभावाद् जीवाः तत् सुखं न गृह्णन्ति. अतो मयि रतिं कुर्यात्... ज्ञानमपि एतदर्थमेव मत्कृतं गृह्णीयादिति. भिन्नतयापि भजने भजनफलत्वेन गृह्णीयात्... ज्ञानापेक्षयापि प्रीत्या शीघ्रं गृह्णातीति प्रीतिरेव उच्यते. तेभ्यः स्वकीयं सर्वमेव दीयतइति स्वातन्त्र्यमपि दत्तमिति 'कुर्याद्' इति बोध्यते. प्रीत्यादिकमपि प्ररोचनार्थमेव उच्यते वस्तुतस्तु मयि रतिमेव कुर्याद् मत्कृतग्रहणार्थम्. प्रीतस्तु अहं सर्वदा

> स्वभावतो, अग्रहणाद् अप्रीतएव... 'वेदमयेन' इति,... ननु केवलवेदरूपस्य कथं करणत्वं ? नहि देहमात्रं करणं किन्तु प्रयत्नाविष्टम्... 'आत्मना'=आत्मसहितेन देहेन एकभावापन्नेन उभयेन. 'आत्मा'=त्वम्. अनेन मद्‌गतसामर्थ्यमपि तत्रैव दत्तमिति सर्वं त्वया कर्तुं शक्यम्... ननु तत्साधनानि चेत् तदनुगुणानि न भवेयुः तदा किं कर्तव्यम् ? इति आशंक्य आह 'प्रधानपुरुष-ईश्वरः' प्रधानं पुरुषः च तयोः ईश्वरो, भगवदाज्ञया तावपि ससामग्रीकौ तदनुगुणौ भवतः... सर्वमेव जगत् प्रदर्शयामास, 'एवं कुरु' इति ज्ञापनार्थम्. तद् आह 'व्यज्य इदम्' इति. इदं जगत् प्रकटं कृत्वा स्वेनैव रूपेण अभिव्यक्तिकरणे न हेत्वन्तरम् उत्पत्त्यादिकम् अपेक्ष्यते किन्तु स्वस्मिन्नेव शरीरे विद्यमानं जगत् साधारं प्रकाशितवान् 'स्वेन रूपेण', नतु तद्रूपं स्थापयित्वा गतः किन्तु तेनैव रूपेण तिरोहितवान्. 'कञ्जनाभः' इति तदतिरोधाने जगत् कर्तुं न शक्यते, नहि कश्चिद् भगवदीयः भगवता उपरि सृष्टिं कर्तुं शक्नोतीति.
>
> (सुबो.३।९।४१-४४).

(उपक्रम)

ब्रह्मका अपने-आपको सृष्ट्यात्मना प्रकट करना एक लीला है या निजभक्त्यर्थ उसने यह सृष्टि प्रकट की है? क्योंकि विश्वसृष्टि निजभक्ति करवानेके प्रयोजनवश हो तो वह लीला सिद्ध नहीं होगी, निष्प्रयोजन निरायास निजानन्दोच्छलनरूपा कृति 'लीला' कहलाती होनेसे ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर भक्तिवादी तो भक्तिको जीवात्माके परमपुरुषार्थतया एक साधनाके रूपमें ही स्वीकारना चाहेंगे वे लीला नहीं मानेंगे. ब्रह्मसर्वतादात्म्यवादी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, परन्तु, जीवदृष्ट्या भक्तिकी परमपुरुषार्थताको स्वीकारनेके बावजूद उसे मौलिक रूपमें आत्मरमणशील भगवान्‌की अनेकानेक लीलाओंमें एक लीला ही मानते हैं, लीलाका प्रयोजन नहीं. भक्ति तो मोद-प्रमोदात्मिका आनन्दात्मिका भगवल्लीला ही है. अतः केवल प्रीति(=किसीके साथ हर्षानुभूति होनी)से आगे बढ़

कर भगवल्लीलारूपा सृष्टिमें भगवान्के साथ रममाण होना भक्ति है. इसे सर्वप्रथम तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके एक मननीय विधानके विमर्श द्वारा देख लेना उचित होगा. वह विधान यों है :

> **''एक: कथम् अनेकथा सृष्टिं करोति इति आशंक्य आह 'अचिन्त्यानन्तशक्ते: तद् यद् एतद् उपद्यते अतएव श्रुती भेदा: सृष्टे: उक्ता: हि अनेकधा...' अनेकधा सृष्टिकथनस्य प्रयोजनम् आहु: 'यथाकथञ्चिद् माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा'. वेदानां भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं... माहात्म्यज्ञानस्य उपयोगम् आह 'भजनस्यैव सिद्ध्यर्थम्' इति, भक्तिसिद्ध्यर्थं, भक्ते: अंशद्वयमिति... द्वितीयांशम् आह 'तत्त्वमस्यादिकं तथा' कथयति. भक्तिस्वरूपम् आह 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतो अधिक: स्नेहो भक्ति: इति प्रोक्त: तया मुक्ति: नच अन्यथा'. 'रति: देवादिविषया भाव: इति अभिधीयते' रति:=स्नेहो देवत्वं=माहात्म्यं, तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते. अन्यथा वाक्यद्वयं ब्रह्मप्रकरणे व्यर्थं स्याद्, ब्रह्मज्ञानेनैव पुरुषार्थसिद्धे:. तच्छाब्दज्ञानम् अप्रयोजकम्."**
>
> (त.दी.नि.प्र.१।४०-४२)

इस उद्धृत विस्तृत वचनके आधारपर निश्चितरूपेण यह कहा जा सकता है कि महाप्रभुके मतमें भक्ति, सर्वप्रथम तो साधारण प्रीतिसे आगे बढ़ कर रतिरूपा होती है. दूसरे रूपसृष्टिका प्रयोजन न होनेपर भी नामसृष्टिरूप वेदोंमें कण्ठत: अभिधावृत्तिद्वारा प्रतिपादित न होनेपर भी तात्पर्यवृत्त्या मौलिक प्रयोजनतया प्रतिपाद्य है. यह आत्मरतिकी अनेकभावापन्नतारूपा लीला है. जैसे कि कहा गया है **"सर्वे वेदा:**

यत्पदम् आमनन्ति'', ''वेदैश्च सर्वै: अहमेव वेद्यो'', ''मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते अहम् एतावान् सर्ववेदार्थ: शब्दे आस्थाय मां भिदा'' (कठोप.१।२।१५, भग.गीता १५।१५, भाग.पुरा.११।२१।४३) इन तीनों वचनोंमें प्रतिपाद्य यही है कि तत्तद् शब्द अपनी संकुचित अभिधावृत्तिसे तत्तद् अर्थोंके वाचक होनेपर भी असंकुचित महावृत्तिसे सर्वरूप सर्वनाम केवल ब्रह्मके ही वाचक होते हैं. क्योंकि स्वयं वेदमें ही **''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते''** (तैत्ति.आर.३।१३-।२) ऐसा स्वीकारा गया है. ऐसे ही जीवात्माओंके लिये अनुष्ठेय अनेकविध साधनायें भी संकुचित अभिधावृत्तिसे तत्तद् विधानों द्वारा प्रतिपादित होती हैं. असंकुचित महावृत्तिसे, परन्तु, विवक्षित उन-उन विधानोंमें भी केवल भक्ति ही वाल्लभ वेदान्तको मान्य है. इस धारणाका उपोद्बलन अधोनिर्दिष्ट शास्त्रवचनोंके आधारपर भी होता है :

> [१]**''नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति... अयञ्च लोक: परश्च लोक: सर्वाणि भूतानि अस्यैव एतानि सर्वाणि नि:श्वसितानि. स यथा सर्वासाम् अपां समुद्र: एकायनम् एवम्...''**
>
> [२]**''तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति''**,
>
> [३]**''जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभि: नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्ति: प्रजायते''**,
>
> [४]**''भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्च अस्मि तत्त्वत: ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय: मत्प्रसादाद् अवाप्नोति शाश्वतं पदम् अव्ययम्''**,
>
> [५]**''न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष: वृणुते तेन लभ्य: तस्य एष: आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्''**
>
> [६]**''नाहं वेदै: न तपसा न दानेन नच इज्यया... भक्त्यातु अनन्यया**

शक्तो अहम् एवंविधो अर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!".

(१.बृह.उप.४।५।६-१२, २.कठोप.१।२।१५, ३.पाण्ड.गीता ४०, ४.भग.गीता १८।५५-५६, ५.कठोप.१।२।२३, ६.भग.गीता ११।५३-५४).

अर्थात् अनेकविध साधनायें, सरित्समुद्रन्यायेन, भक्त्यधिकारकी स्वरूपयोग्यताकी दिशामें जीवात्माको अग्रसर करती हैं. फिरभी भक्तिभावसे सम्पन्न करनेवाली फलमुखाधिकारिता तो भगवत्कृत जीवात्माके वरण/प्रसादसे ही शक्य है. भगवत्कृपारूप उद्दीपनविभावके बिना भगवान्को आलम्बनविभाव बनानेवाला साक्षाद् भक्तिभावरूप अनुभाव जीवात्मामें प्रकट हो नहीं पाता. समग्र सृष्टि भगवान्की एकाद्वितीय आत्मरतिकी अनेकभावापन्नता है.

अत: आधुनिक विद्वानोंके द्वारा उपस्थापित अनेकविध विकल्प यथा : भक्तिमार्ग अवैदिक पौराणिक मार्ग है. अवैदिक बाह्य जनजातीयोंके प्रभाववश अथवा तान्त्रिक या नास्तिक बौद्ध आदि धर्मोंके साथ प्रतिस्पर्धाके वश वैदिक समुदायमें पनपी तान्त्रिक/पौराणिक नूतन साधनासरणी है. अथवा ऐसे अन्य भी आक्षेपोंका मुकाबला करनेके लिये बहुत सारे प्राचीन/अर्वाचीन विद्वानोंद्वारा apologistic मनोवृत्तिके वश वैदिक संहिताओंमें भी खोज निकाली गयी भक्ति वैदिक साधना ही है. ऐसे अनेक विकल्पोंके समाधान महाप्रभुके उदाहृत वचनके आधारपर ही खोजना वाल्लभ वेदान्तमें उपयुक्त लगता है.

यद्यपि अपारम्परिक पाश्चात्य गवेषणारीतिको अनुसरनेवाले भारतविद्याविदोंके अनुसार संहिताकाल ब्राह्मणकाल उपनिषत्काल तथा वेदांगविद्याकाल और अन्तमें तन्त्र-पुराणकाल यों अनेकानेक कालखण्डोंमें वैदिक विचारधारा तितर-बितर हो जाती है. ऐसी इस विडम्बनामें क्या तो वैदिक और क्या अवैदिक इस तथ्यकी मीमांसा भी एक

निरर्थक कालक्षेप ही है. फिरभी अन्यान्य देशोंकी विभिन्न महानदियोंके क्या तत्तद् विशेष अभिधान नहीं होते? नील एमेज़ोन मिसॉरी डेन्यूब या वॉल्गा आदि. वे अपनी सहायिका नदियोंकी जलराशीको अपनेमें समेट कर ही बहती हैं. फिरभी अपने विशेषाभिधानको भी जलप्रवाहके साथ निरन्तर क्या प्रवाहित नहीं रखती? अर्थात् नदियोंके नामोंको सार्थक ही माना जाता हो तो किसी भी विचारधाराको अपनेमें सिमेट कर निरन्तर अद्यावधि बहती जीवित वैदिक विचारधाराकी केवल शवपरीक्षा ही करनेका मोह पालनेवालोंको क्या कहना!

(वेदोंके कर्मप्रतिपादक पूर्वकाण्डमें भक्तिका स्वरूप)

यहां यह उल्लेखनीय है कि अर्चनार्थक ४४ वैदिक क्रियापदोंमें **"अर्चति गायति कृपायति कृपण्यति छन्दति रज्जयति शंसति स्तौति नौति पूजयति रसयति"** (निरु.निघ.३।१४) क्रियापदोंमें कितने सारे क्रियापद भक्त्यंगभूता क्रियाओंके वाचक हैं! अत: 'भक्ति'पद, उपलब्ध न भी होता हो तो क्या अन्तर पड़ता है? वैसे तो निरुक्त-निघन्टुके दैवतकाण्डका अवलोकन करनेपर, वहां साक्षात् 'भक्ति'पदका प्रयोग भी उपलब्ध होता ही है : **"तिस्रएव देवता: उक्तं पुरस्तात् तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्याम:"** (निरु.निघ.दैव.का.७।२) एतावता सिद्ध होता है कि तथाकथित पौराणिककालसे पहले भी यज्ञीय कर्मांगभूत देवताओंके बारेमें भी भक्तिभाव अपेक्षित तो माना ही जाता था.

न केवल इतना प्रत्युत भक्तिभावके अंगोपांगभूत अन्य भी अनेक उपादेय तत्त्व यहां दैवतकाण्डमें महर्षि यास्कने प्रतिपादित किये हैं :

१.देवताओंकी स्तुति उनके नाम रूप कर्म तथा पारिवारिक बन्धुओंके माहात्म्यका गुणगान करना.

२.देवताओंके आधिभौतिक बाह्यजगत्में प्रत्यक्षरूप जैसे होते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक आभ्यन्तर रूप भी; तथा, आधिदैविक परोक्षरूप भी होते हैं. इन्हीं त्रिविध रूपोंको छान्दोग्योपनिषद् (७।२५।१-२) में

'तदादेश' 'अहंकारादेश' तथा 'आत्मादेश' तया भी सभी देवताओंके एकनीडरूप ब्रह्मके बारेमें भी प्रतिपादित किया गया है.

३.यज्ञकर्मांगभूत प्रकरणोपात्त प्रत्येक देवताकी ब्रह्मतया स्तुति या भावना तदितर देवताओंको मन्त्राभीष्ट देवताके अंग-प्रत्यंगरूपेण निहारनेका भी भक्तिमार्गीय माहात्म्यका सिद्धान्त **''माहाभाग्याद् देवताया: एकएव आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवा: प्रत्यंगानि भवन्ति. अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभि: ऋषय: स्तुवन्ति इति आहु: प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च'',''तासां महाभाग्याद् एकैकस्याअपि बहूनि नामानि भवन्ति''**(तत्रैव ७।१।१-४, ७।२।५) ऐसे प्रतिपादनमें निहारा जा सकता है. एक देवताके अनेक रूप तथा अनेक नाम, जो भक्तिभावके उपादेयतम अंग होते हैं, वे यहां प्रतिपादित हुवे हैं. अतएव योगसाधनामें ध्येयरूपमें ऐकाग्र्यकी तरह भक्तिसाधनामें भी भजनीय रूपमें अनन्यनिष्ठामूलक अन्याश्रयत्याग आवश्यक अंग माना गया है. वह तो कर्मकाण्डमें भी स्वीकारा ही गया है **''यो वा अयथादेवतम् अग्निं चिनुते आ देवताभ्यो वृश्च्यते पापीयान् भवति, यो यथादेवतं, न देवताभ्य: आवृश्च्यते वसीयान् भवति''** (तैत्ति.संहि.५।७।१).

४.निरुक्तमें एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण यह भी मिलता है कि कुछ ऐसे मन्त्र जिनमें किसी विशेष देवताके इदंकारद्वारा प्रत्यक्ष, तत्कारद्वारा परोक्ष अथवा अहंकारद्वारा आध्यात्मिक रूपोंमें से किसी एक भी रूपका प्रतिपादन या स्तवन न मिलता हो तो वहां किसे प्रतिपाद्य या स्तुत्य मानना? उत्तरमें नैरुक्तोंके अनुसार अग्नि या यज्ञ को परन्तु याज्ञिकोंके अनुसार प्रजापतिको सर्वमन्त्रसामान्य प्रतिपाद्य मान लेनेका सिद्धान्त भी स्वीकारा गया.

५.परमेश्वरके बारेमें सर्वमान्य माहात्म्यकी धारणा कि **''न माता न पिता तस्य न भार्या न सुताद्यो न आत्मीयो न परश्चापि न देहो जन्मएव च''** (भाग.पुरा.१०।४६।३८) के साथ-साथ जो श्रीमद्भागवतमें परमदेवके बारेमें भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे सुदृढ़ स्नेहको सावकाश बनानेवाली विरुद्धधर्माश्रयता भी स्वीकारी गयी है **''सर्वेषाम् आत्मजो हि आत्मा**

पिता माता स ईश्वर:'' (भाग.पुरा.१०।४६।४२). यह तो भक्तिभावकी रीढ़की हड्डी जैसी बात है. क्योंकि वेदमें भी यह तो स्वीकारा ही गया है कि ''**अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीरा: परिजानन्ति योनिम्**'' (तैत्ति.आर.३।१३।२) यहां विवक्षित धैर्य अधोक्षज भगवान्में भगवत्प्रसादरूप साधनकी अवान्तरव्यापाररूपा सर्वभावात्मिका भक्ति ही है. कर्मांगभूत देवताओंके बारेमें महर्षि यास्क भी इसे ज्यों का त्यों स्वीकारते हुवे कहते हैं ''**इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयो देवा:, ऐश्वर्यात्. न मनुष्याणाम् इयं शक्ति: अस्ति, अनैश्वर्यात्. मनुष्याणां हि पिता पुत्रं जनयतीति पिता प्रकृति:. न पुन: इच्छन्नपि पुत्र: पितरं जनयति. देवानां... अदिते: दक्षो दक्षात् च अदिति: इति**''(निरु.निघ.ऋज्वर्था.-७।४।५). अतएव ''**अहं त्वदस्मि मदसि त्वमेतद्, ममासि योनि: तव योनिरस्मि, ममैव सन् वह हव्यानि अग्ने! पुत्र: पित्रे लोककृद् जातवेद:**'' (तैत्ति.ब्राह्म.१।२।१।२०) इस श्रुतिवचनमें प्रकट हुयी मनोभावना भक्तिमार्गके लिये तो अतीव प्राणोपम ही होती है. क्योंकि भक्त अपने भक्तिभावनाके अनुरूप भगवान्की मूर्ति घड़ कर उसे माता-पिता सखा-पुत्र या गुरु-पति आदि मनोनुकूल रूपोंमें भजना चाहता है (द्रष्ट. : भाग.पुरा.३।९।११). और तब वह भजनीय स्वरूप केवल धातु-पाषाणमूर्ति न रह कर सर्वव्यापी सर्वरूप सर्वनाम देवताके सांनिध्य-प्रसाद प्रदान करनेमें अतीव उपकारी विग्रह बन जाता है. तन्त्रशास्त्रोंमें अतएव भगवान्के लीलावतारकी तरह अर्च्य विग्रहको भी भगवान्का अवतार ही माना गया है.

महर्षि यास्कके बाद आधुनिक भारतविद्याविदोंके अनुसार ई.पू.४०० से ई.पू.५०० बीच माने जाते बृहद्देवताकार शौनक तो स्पष्टतम शब्दोंमें ''**अर्थम् इच्छन् ऋषि: यं-यं देवम् आह 'अयम् अस्तु' इति प्राधान्येन भक्त्या स्तुवन् स: मन्त्र: तद्देवएव**'' (बृह.देव.१।६) विधान करते हैं. अत: देवभक्तिकी अनिवार्यता यागादि कर्मोंके अनुष्ठानमें भी स्वीकारते हैं. इसी तरह शौनक ऋषिने मन्त्रार्थके अनेक प्रभेदोंकी भी परिगणना की है :

> ''मन्त्रा: नानाप्रकारा: स्यु: दृष्टा: ये मन्त्रदर्शिभि: स्तुत्या चैव विभूत्या च प्रभावाद् देवतात्मन: : स्तुति: प्रशंसा निन्दा च संशय: परिदेवना स्पृहाशी: कत्थना याच्ञा प्रश्न: प्रैष प्रवल्हिका नियोगश्च अनुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यद् आचिख्यासा अथ संलाप: पवित्राख्यानमेव च आहनस्या नमस्कार: प्रतिराध: तथैव च संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह उपप्रैषश्च य: प्रोक्त: संज्वरो यश्च विस्मय: आक्रोशो अभीष्टवश्चैव क्षेप: शापस्तथैव च ... मन्त्रवाक्यार्था: देवतां सूक्तभागिनीं संश्रयन्ते यथान्यायम्''.
>
> (बृह.देव.१।३४-३९).

इन अनेकविध मन्त्रार्थप्रकारोंमें बहुत सारे प्रकार भक्तिभावोंके अभिव्यञ्जक भी हो सकते हैं. इस विषयमें पारम्परिक दृष्टिकोण भक्तिभावको वेदोंमें भी गूढ़ तात्पर्यतया अभिप्रेत माननेका ही होगा. पर अपारम्परिक पाश्चात्य आलोचक इसे अभिप्रेत न मान कर पश्चाद्वर्ती कालमें अन्यान्य प्रभावोंके वश हुवा भक्तिभावका विकास स्वीकारनेकी मनोवृत्ति बहुधा रखते हैं. क्योंकि चार्ल्स डारविनने स्वयं मानव प्रजातिको वानरप्रजातिके विकासके रूपमें प्रस्थापित किया! किसी भी सूरतमें भक्तिसाधनाकी अवैदिकताकी आशंका या आरोप के निरसनार्थ तो ये मन्त्रार्थोंकि विविध प्रकार प्रबल प्रमाण सिद्ध होते ही हैं.

(कर्मसाधना और भक्तिसाधना के बीच रहा मौलिक प्रभेद)

कर्मानुष्ठान और भक्त्यनुष्ठान के बीच जब इतनी सारी बातें साधारण हों तब भी भक्तिको पूर्वकाण्डमें साक्षात् प्रतिपाद्य न मान कर तात्पर्यवृत्त्या द्योतित माननेका औचित्य क्या? ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है. इसका समाधान, परन्तु, वाल्लभ वेदान्त देता है :

> ‘‘सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतया उदित: ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिग: स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृत: तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवता उदितम्’’.
>
> ‘‘पुराणं वेदवत्... तस्य वेदधर्मातिदेश:. तेन धर्मार्थकाम-मोक्षा: भक्ति: च इति पञ्च नित्या: काम्या: च.’’
>
> ‘‘ ‘स्वरूपे तु त्रयो भेदा: क्रियाज्ञानविभेदत:’इति क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो यज्ञ: एक: तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्ट; धर्मी ब्रह्म द्वितीयो ज्ञानक्रियोभययुत: कृष्ण: तृतीय:... विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्म: प्रवेशत: इति क्रियावान् क्रियायां प्रविष्ट: अत: क्रियैव प्रतिभाति वस्तुतस्तु क्रियावान् ‘यज्ञो वै विष्णु:’ इति श्रुते:’’.
>
> (त.दी.नि.२।२३-२४,४८,८९-९०).

अत: वेदोपनिषदोंमें कर्मांगतया अथवा ज्ञानांगतया भक्तिका निगूहन किया गया है. गीता-भागवतमें, जबकि, उसी भक्तिका स्वरूप उद्घाटित करनेको कर्म-ज्ञानको भी भक्त्यंगतया भी प्रतिपादित किया गया है. ब्रह्मवादाश्रित पुष्टिभक्तिसाधनामें, जबकि, भक्तिको, उसके प्रमुख रूपमें, किसी भी अन्य साधनाका अंग माना नहीं जा सकता.

इसी तरह कर्मसाधनामें देवोंको भी कर्मांग माना जाता है ‘‘शेष: परार्थत्वात्. यदर्थत्वेन यस्य विधानं स तस्य शेष: इति अंगलक्षणम्. यथा याग: फलार्थत्वेन विधानात् फलशेष:. यागार्थत्वेन च द्रव्यदेवतादिविधानाद् द्रव्यदेवतादिकं यागशेष: इति’’ (मीमांसासूत्रवृत्ति न्या.बि.३।१।२) ऐसी स्वीकृतिके आधारपर, जबकि भक्तिसाधनामें भजनीय देव केवल भजनार्थ या भजनांग ही नहीं होता प्रत्युत भजन भी भजनीय देवके आराधनार्थ होनेके कारण देवांग भी होता है. इसे श्रीमद्भागवतमें भलीभांति समझाया गया है :

> **''अनिमित्ता भागवती भक्ति: सिद्धे: गरीयसी... नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद् मत्पादसेवाभिरता: मदीहा: ये अन्योन्यतो भागवता: प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि... इमं लोकं तथैव अमुम् आत्मानम् उभयायिनम् आत्मानमनु ये च इह मे राय: पशवो गृहा: विसृज्य सर्वान् अन्यांश्च माम् एवं विश्वतोमुखं भजन्ति अनन्यया भक्त्या... एतावानेव लोके अस्मिन् पुंसां नि:श्रेयसोदय: तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मयि अर्पितं स्थिरम्''**.
>
> (भाग.पुरा.३।२५।३३-४४).

यह भगवान् कपिलदेवने अपनी माताको अपने स्वरूपानुरूप बाह्यत्यागकी प्रधानतासे दिया उपदेश है. अपने सखा उद्धवको भगवान् श्रीकृष्णने इसी तर्जपर यह भी समझाया है कि **''तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेद् इह. यत् कर्मभि: यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यद् योगेन दानधर्मेण श्रेयोभि: इतरैरपि सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा''**(भाग.पुरा.११।२५।३१-३३). भक्तिके इन द्विविध उपदेशोंके बीच रहा तारतम्य भागवतमाहात्म्यमें वर्णित भक्तिनारदोपख्यानके बिना स्पष्ट नहीं हो पाता.

उस उपाख्यानका भलीभांति विमर्श करनेपर भक्तिके ज्ञानवैराग्यके साथ तज्जन्या तज्जनिका तत्सहिता तन्निरपेक्षा यों अनेक प्रकार सम्भव हैं. अतएव श्रीमद्भागवतपुराणके उपक्रमोपसंहारमें प्रकट दो उद्गारोंकी एकवाक्यताके साधनार्थ भक्तिके प्रभेदोंपर लक्ष्यपात आवश्यक है **''धर्म: प्रोज्झितकैतवो अत्र परमो निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु शुभदं तापत्रयोन्मूलनं श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैर् ईश्वर: सद्यो हृदि अवरुध्यते अत्र कृतिभि: शुश्रूषुभि: तत्क्षणात्'',''कथा: इमास् ते कथिता: महीयसां विताय लोकेषु यश: परेयुषां विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो: वचोविभूति: नतु पारमार्थ्यम्''** (भाग.पुरा.१।१।२, १२।३।१४)

अर्थात् भागवतपुराणोक्त दशविध सर्गादि भगवल्लीला लीलाविहारी भगवान्को हृदयाधिरूढ़ बनानेको, जिसे पूर्वोक्त पुरोवचनमें सृष्टिकी अन्यतम लीलाके के रूपमें स्वीकारा गया है, तदर्थ वर्णित हुयी हैं? अथवा भगवल्लीलाके श्रोताको सब कुछ भगवदात्मक है ऐसे विज्ञान और भगवदितरतया प्रतीत अनेक महाविभूतियोंके भी स्वरूप और वृत्त में वैराग्य प्रकट करने वर्णित हुयी हैं? यहां लीलाविहारी भगवान्को हृदयाधिरूढ़ बनाना ज्ञानवैराग्यनिरपेक्ष भक्त्यात्मक प्रयोजन होगा **''सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति, माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभिः. द्वयं साधयितुम् एषा भागवतसंहिता''** (सुबो.१।१।१). जबकि उसके बिना केवल आत्मब्रह्मैक्यके बोधनार्थ और विषयवैराग्यार्थ किया गया भगवल्लीलाकीर्तन मुक्त्यर्थ भी हो सकता है. जीवन्मुक्तके बाधितानुवृत्तिवशात् देहादिव्यापारकी तरह भगवल्लीलाओंके निदिध्यासनार्थ भी भगवल्लीलाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन स्वीकारा जा सकता है, स्रष्टा और सृष्टि के इतरेतरसापेक्ष होनेके कारण दोनोंके मिथ्या होनेकी धारणाके वश जैसाकि कहा गया है **''ईशितव्यम् अनपेक्ष्य नेश्वरो नेशितव्यमपि तद्वद् ईश्वरम् अन्तरेण घटते ततो मृषा मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम्''** (संक्षे.शारी.३।१८८).

स्वयं श्रीमद्भागवतका अभिप्राय इस बारेमें मीमांस्य हो तो **''नैष्कर्म्यमपि अच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानम् अलं निरञ्जनं कुतः पुनः शश्वद् अभद्रम् ईश्वरे नच अर्पितं कर्म यदपि अकारणम्''** (भाग.पुरा.१।५।१२) सुबोधिनीकार महाप्रभु कहते हैं कि शब्दोंमें उत्तम शब्द भगवान्नामरूप शब्द होते हैं. अब शब्दार्थोंका विचार करने चलें तो ज्ञान स्वरूपतः और फलतः भी महान् माना जाता है. इसी तरह यज्ञादि आचारादि तथा अन्य भी धर्मादि ये भगवान् या भगवदीयों के समान क्या माने जा सकते हैं? ऐसे प्रश्नके उठनेपर सबसे पहले ज्ञान ही विचारणीय बन जाता है. क्योंकि भक्तिसहित ज्ञानके उदाहरणमें फलसिद्धिमें साक्षात् कारण ज्ञानको मानना या भक्तिको? तो सबसे पहले केवलज्ञानके बारेमें विचार करनेपर अच्युतकी भक्तिसे रहित ज्ञान चाहे सांख्यप्रतिपादित

निजात्मज्ञान हो या वेदादिप्रतिपादित ब्रह्मज्ञान हो वह भक्तिसे अलंकृत न हो तो शोभायमान नहीं होता. निरीश्वरसांख्यके मतमें तो ईश्वरके न रहनेके कारण भक्ति अप्रासंगिक ही होती है. सेश्वरसांख्यके मतमें, परन्तु, ईश्वर प्राकृत गुणोंसे संपृक्त होता है. वैदिक ज्ञानकी बात करें तो कर्मानुष्ठानमें यागादि कर्मोंकि देवताओंके आवेशके बिना कर्म लौकिक ही रह जाते हैं. अत: कर्मज्ञानादि अनुष्ठान लौकिक न रह जायें एतदर्थ श्रद्धासे आगे बढ़ कर चित्तशुद्ध्यर्थ भी भक्तिभावकी अपेक्षा सभी साधनाओंमें रहती है. अत: सभी शास्त्रोंमें जिन या जैसे ज्ञानोंको आवश्यक माना गया है वैसे ज्ञानोंकी स्वरूपसिद्धि और फलसिद्धि दोनों ही में भक्तिकी उपकारकता रहती ही है. यही बात कर्मानुष्ठानके बारेमें भी लागू होती है.

अखण्डसच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मके बारेमें **''सत्त्वेव सौम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति''** (छान्दो.उप.६।२।२-३) श्रुतिमें प्रतिपादित रीतिसे आत्मविभाजनकी प्रक्रिया द्वारा सर्वप्रथम सत्ता चेतना और प्रियता का पृथक्-पृथक् धर्मतया प्राकट्य होता है. अत: सत्ता और चेतना आनन्दधर्मसे विभक्त हो जाती हैं. तब आविर्भूत सत्ता और चेतना से आनन्दधर्मरूपा प्रियता भी विभक्त हो जाती है. अत: सत्तया आविर्भूत क्रियास्वरूपमें और चिदंशधर्मतया क्रिया और ज्ञान में भी आनन्दांशधर्मरूपा प्रियता प्रयोजनतया लीलायमान बन जाती है. यह **''क्रीडार्थम् आत्मन: इदं त्रिजगत् कृतं ते... कर्तु: प्रभो: तव किम् अस्यत: आवहन्ति त्यक्तह्रिय: त्वदवरोपिकर्तृवादा:''** (भाग.पुरा.८।२२।२०) भागवतवचनके आधारपर सिद्ध होता है. परमात्माके भीतर सृष्टिका कर्तृत्व पालकत्व भोक्तृत्व स्वरूपात्मिका आत्मरतिकी अभिव्यक्तितया क्रीड़ात्मक होता है. परन्तु लीलार्थ तिरोहित आनन्दकी खोज जीवात्मामें उभर पाये एतदर्थ स्वयं अंशी भगवान्ने प्रकृतिरूपा शक्तिद्वारा अहंकारमूलक ज्ञातृत्व कर्तृत्व और ममकारमूलक भोक्तृत्व अंशभूता जीवचेतनामें आरोपित किया है **''भूमिरापोऽनलो वायु:**

खं मनोबुद्धिरेव च अहंकार: इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिर् अष्टधा... बुद्धि: बुद्धिमताम् अस्मि'' (भग.गीता ७।४-१०). इस सन्दर्भमें महाप्रभुके कुछ विधान अतीव मननीय हैं :

> ''नवा इच्छाविशेषो रति:, विशेषस्य निर्वक्तुम् अशक्यत्वात्... अत: स्नेह: पदार्थान्तरं सच भगवन्निष्ठो भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धाद् अन्यत्रापि भासते, उष्णस्पर्शवद्, यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशय:. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह अतिनैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्, एवम् अध्यासेन अन्यत्र''.
>
> ''प्रीतिस्तु भगवद्धर्म:. भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्य: खण्डशो दत्तवान्. अत: यत्रैव प्रीयते ततएव सुखं भवति''.
>
> ''काचिद् भगवत: सिद्धि: अस्ति 'राधस्' पदवाच्या, न तादृशी सिद्धि: क्वचिद् अन्यत्र, नवा ततोऽपि अधिका. तया सिद्ध्या भगवान् स्वगृहे रमते. तच्च अक्षरात्मकं ब्रह्म. 'रंस्यन्' इति स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धाद् अभिव्यक्तं करोति''.
>
> (सुबो.१।१९।२६, २।२।७, २।९।१४).

अत: इस आत्मानन्द ब्रह्मकी धर्मरूपा आत्मरतिकी विस्ताररूपा सृष्टिलीलामें विषयसुख आत्मसुख ब्रह्मात्म्यैक्यसुख अथवा भजनानन्दात्मक भक्तिसुख यों सभी कुछ, उस एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके मौलिक ऐतदात्म्यका अनुभाव है ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'', ''... एष: ब्रह्मलोक:... एषा अस्य परमा गति:, एषा अस्य परमा सम्पद्, एषो अस्य परमो लोक:, एषो अस्य परम: आनन्द:. एतस्यैव अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''. ''यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति... आत्मैव इदं सर्वम् इति सवा एष: एवं पश्यन् एवं मन्वान: एवं विजानन् आत्मरति: आत्मक्रीड: आत्ममिथुन: आत्मानन्द: स्वराड् भवति. तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'' (छान्दो.उप.६।८।७, बृह.उप.४।३।३२, छान्दो.उप.७।२४-२५) यह

भक्तिकी औपनिषदिक निगूढ़ पृष्ठभूमि है. शांकर वेदान्त भी नाम-रूपको अब्राह्मिक मायिक माननेपर भी **“अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च इति अंशपञ्चकम् आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्”** (दृग्दृ.विवे.२०) स्वीकृतिद्वारा प्रियतारूप भक्तिके आलम्बनविभावको तो अमिथ्या ही मानता है. अनृतभिन्नतया सत्ता, जड़भिन्नतया चैतन्य और दुःखभिन्नतया आनन्द रूप धर्मोका त्रैविध्य शांकर वेदान्तमें ब्रह्माद्वैतका बाधक नहीं माना गया है. तो वाल्लभ वेदान्तके भी साकारब्रह्मवादाश्रित चिन्तनमें लीलाविहारी ब्रह्ममें पुष्टिभक्तिके लिये अपेक्षित भजनीय-भक्ति-भक्तके त्रैविध्यको ब्रह्माद्वैतमें बाधक नहीं माना जाता.

सर्गलीलाकी तरह विसर्गलीलारूप चतुर्विध धर्मार्थकाममोक्षके पुरुषार्थ, जैसेकि सात्त्विक धर्मानन्द, राजस अर्थानन्द, तामस कामात्मक विषयानन्द; या, निर्गुण मुक्त्यानन्द भी भगवल्लीलारूप श्रीमद्भागवतके तृतीय-चतुर्थ स्कन्धोंमें भगवल्लीलाके रूपमें विवक्षित है. भजनानन्द और भक्ति की विविधता भी परब्रह्मकी पारमात्मिका रतिके ही बहुधाभवनके विविध प्रकार हैं. यहां तब यह मीमांस्य बन जाता है कि पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्ति प्रवाहभक्ति और इनके अवस्थाकृत भेदोपभेदोंका विभाजनका आधार क्या है?

यदि भक्तिकी ऐसी अवधारणाके परिप्रेक्ष्यमें श्रीमद्भागवतवर्णित भगवल्लीलाओंको निहारना हो तो कहा जा सकता है कि सृष्टिकी उत्पत्तिमें अभिन्नकर्त्रुपादान होनेके ब्रह्मके माहात्म्यका निरूपण तृतीय-चतुर्थ स्कन्धोंमें सर्ग-विसर्गलीलाओंद्वारा प्रतिपाद्य है. स्थिति/पालनलीलामें भक्तकी तरह अभक्त द्वेषी भीरुक आदि सभीका पालन पंचमसे दशम पर्यन्त स्कन्धोंमें प्रतिपाद्य विषय हैं. इन्हींके अन्तर्गत षष्ठ स्कन्धमें पोषण=पुष्टिलीला और नवम स्कन्धमें भक्त और भगवान् को परस्पर जोड़नेवाली भक्तिलीला भी प्रतिपाद्य हैं. पोषणलीलाके अन्तर्गत सृष्टिमें भगवान् अपने कर्तुसामर्थ्य द्वारा काल-कर्म-स्वभावके नियमोंके आधारपर जो धर्मार्थकाममोक्षके औत्सर्गिक

नियम हैं, उनके द्वारा मानवीय जीवोंका पोषण करते हैं. अकर्तुं सामर्थ्य द्वारा मानवेतर जीवोंका भी पालन भगवान् करते हैं. इसी तरह अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य द्वारा उन नियमोंके अपवादकी लीला भी प्रकट करते हैं, ऐसा महाप्रभुने स्वीकारा है :

> **''कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टि: कालादिबाधिका. अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाद् निरूपित:, 'अनुग्रह:' कृपापरपर्यायो मनस: आत्मनो वा धर्मविशेष: इच्छादिव्यतिरिक्तो लोकसिद्ध:. लोके क्षीणधनस्य अधमर्णस्य उत्तमर्णै: अल्पधनग्रहणेन अनृणित्वसम्पादने स्मृत:... 'गूढभावाद्' अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवदनुकारितायाः सिद्धत्वाद् लौकिकेन तेन अनुमेय:.''**
>
> (त.दी.नि.यो.३।६।२).

अर्थात् परमात्माका अनुग्रह जीवात्माको सहसा अनुभूत नहीं होता परन्तु भगवत्कृपाके अनुकरणतया जीवात्मा जब भगवद्भक्तिका अनुभाव परमात्माके प्रति प्रकट करने लगता है, तब उसके आधारपर अनुमेय हो पाता है यह **''कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त: इति ईरणात् सर्वत्र उत्कर्षकथनात् पुष्टि: अस्ति इति निश्चय:''** (पु.प्र.म.४) वचनमें महाप्रभुने स्वीकारा है. जैसे अबोध शिशुमें भाषा और मनोभावों की अभिव्यक्ति लालन-पालन करनेवालोंकी भाषा और मनोभावोंकी अभिव्यक्तिके अनुकरणवश प्रकट होती है. अत: भगवत्कृपाकी भक्तमें प्रकट होती अनुकृति भक्ति है वह **''पुष्टि: स्वार्था परार्था तु भक्ति: सा नवमे मता. अत्र उक्ता पुष्टि: 'स्वार्था'जीवहितकारिणी, 'भक्ति'स्तु 'परार्था'भगवत्कार्योपयोगिनी''** (त.दी.नि.यो.३।६।१३).

यहां भगवान्के अनुग्रह या प्रसाद के भी अनेकानेक प्रकार दरसाये जा सकते हैं और उन प्रसादोंके अनुकरणतया भक्तिके भी

अनेकरूप स्वभाविकतया प्रकट होते ही हैं. एतावता यह स्फुट होता है कि आत्मरमणशील भगवान्की अंशी रूपिणी आत्मरतिका अंशात्मना प्रकट रूप भक्ति है. अत: वह आत्मरति भक्तिकी अंशुपादान सिद्ध होगी तो कृपा उसका निमित्तकारण सिद्ध होगी. ऐसी स्थितिमें अनुकार्य-अनुकारिभावका तारतम्य अनुग्रहको जीवार्थ=जीवात्मोद्देश्यक और भक्तिको परार्थ=परमात्मोद्देश्यक सिद्ध करता है. यों दो विभिन्न धर्म प्रभेदक बन जाते हैं.

भक्तिवर्धिनीके **''यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथा उपायो निरूप्यते बीजभावे दृढे तु स्याद्''** (भक्तिव.१) वचनमें, परन्तु, महाप्रभुने 'बीजभाव' नाम्ना इसी गूढ़भावको विवक्षित माना है; अथवा, गुरुकृपा, ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा, सर्वस्वसमर्पणात्मिका तनुवित्तजा सेवा, अल्पस्नेहरूपा रुचि या अन्य कुछ ही? इस विषयमें प्राचीन व्याख्याकारोंमें पर्याप्त वैमत्य है. इसका विचार 'भक्तिहेतुनिर्णय' ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका विमर्श करते समय विस्तारसे करना ही है.

हमने यह तो देख ही लिया कि कैसे सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्माकी आत्मरति चिदंशरूप जीवात्माके भीतर अंशात्मना प्रकट हो कर विषयरतिसे लेकर भजनानन्दरति पर्यन्त आन्दोलित होती रहती है. उस रतिको, परन्तु, विषयासक्तिसे विपरीत बनानेको अर्थात् ब्रह्मानन्दरति या भजनानन्दरति के रूपोंमें विकसनार्थ भगवत्कृपारूप नैमित्तिक बलकी अपेक्षा रहती है **"...यमैव एष वृणुते तेन लभ्यो... नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः"** (मुण्ड.उप.३।२।३-४) वरणैकलभ्य परमात्माकी प्राप्तिमें उपयोगी बल भी भगवत्कृपाबल ही मानना चाहिये, अन्य कुछ नहीं. एतदर्थ भगवत्कृपाबलके भी बहुभवनेच्छाप्रयुक्त बहुविध रूप होते हैं. यथा :

‘सामर्थ्यानुपाती ऐश्वर्यादि षड्गुण प्राकट्यकारी अनुग्रह

[२]स्वभावानुपाती आनन्दात्मक धर्मिप्राकट्यकारी अनुग्रह.
[१-क]सुसाधन जीवात्मविषयक साधनाधिक फलप्रद प्रसाद या साधनानुकूल फलप्रद तोष.
[१-ख]काल-कर्म-स्वभावबाधक निःसाधन या दुष्टसाधन जीवात्मविषयक दया अथवा क्षमा रूप अनुग्रह.
[२-क]शुद्धपुष्टिमार्गीय जीवात्मविषयक निजस्वरूपासक्तिप्रद अनुग्रह.
[२-ख]शुद्धपुष्टिमार्गीय जीवात्मविषयक निजकथासक्तिप्रद अनुग्रह.

इन उभयविध प्रकारोंमें प्रथम प्रकारका अनुग्रह फलतः भगवदासक्ति प्रकट कर सकता है. द्वितीय प्रकारका अनुग्रह, जबकि, साक्षाद् भगवदासक्ति प्रदान करनेवाला होता है. भगवत्स्वरूपासक्तिसे भिन्न लौकिक या अलौकिक किसी भी फलका दान करनेवाले अनुग्रहको जीवात्माके पुष्टिमार्गीय होनेका अव्यभिचारी अनुमापक लिंग नहीं माना जा सकता.

भगवल्लीलाके सन्दर्भमें ‘अनुग्रह’ ‘पुष्टि’ और ‘पोषण’ पर्यायवाची पद हैं “**पोषणं तदनुग्रहः**” (भाग.पुरा.२।१०।४) श्रीमद्भागवतसुबोधिनीमें भगवान्की प्रमुख बारह शक्तिओंमें इस पुष्टिशक्तिकी परिगणना की गयी है “‘**श्रिया पुष्ट्या गिरा... विद्यया अविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्’. ‘पुष्टिः’ नाम यया सर्वे पुष्टाः भवन्ति... ‘गीः’ सरस्वती प्रसिद्धा... ‘विद्या’ ज्ञानरूपा मोक्षदायिनी, ‘अविद्या’ बन्धिका निद्रादयोऽपि तद्भेदाः... ‘शक्तिः’ इच्छाशक्तिः एषा सर्वनियामिका, ‘माया’ सर्वभवनसामर्थ्यं व्यामोहिका चेति उभयविधापि परिगृहीता. तेन मुख्या द्वादश. अवान्तरभेदास्तु असंख्याताएव भवन्ति**” (सुबो.१०।३६।५५) इस निरूपणके आधारपर कुछ निज चिदंशरूप सृष्टिप्रवाहपतित जीवात्माओंका पोषण भगवान् संसारमें बन्धिका अविद्या शक्तिसे करते हैं. कुछ मुक्त्यर्ह जीवात्माओंका जगत्में विद्याशक्ति द्वारा करते हैं. कुछ भक्त्यर्ह जीवात्माओंका पोषण पुष्टिशक्ति द्वारा करते हैं. इन विभिन्न प्रकारकी शक्तिओंद्वारा विभिन्न प्रकारकी पोषणलीलाओंमें नियामिका तो सर्वभवनसमर्थ भगवान्की इच्छाशक्ति ही होती है. परिणामरूपेण विभिन्न प्रकारोंसे सम्पन्न होती

पोषणलीलाओंमें सर्वज्ञ परमेश्वर अल्पज्ञ जीवात्माओंके भीतर व्यामोहन भी बन्धनौपयिक मोचनौपयिक या भजनौपयिक व्यामोहिका मायाशक्तिद्वारा करते हैं.

अतएव महाप्रभु 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थमें **"सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम् इच्छा**(शक्ति)**मात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा**(गिरा शक्त्या) **वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन**(पुष्टिशक्त्या) **निश्चयः, मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपिच कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा"** (पु.प्र.म.८-१०). यहां 'कायेन' यानि आनन्दात्मक स्वरूपके स्वभावानुपाती अनुग्रहवश पुष्टिजीवोंका सर्गनिर्माण और फलदान स्वीकारा गया होनेसे महाप्रभु कहते हैं **"भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः न अन्यथा भवेत्", "स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्. साकारव्यापकत्वात् च मन्त्रस्यापि विधानतः श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः"** (पु.प्र.म.१२, त.दी.नि.२।२३१-२३२).

यों अनुग्रहको भक्तिहेतुतया मान्य किया गया होनेपर भी यहां एक सूक्ष्मताको जान लेना अत्यावश्यक है. त्रिविध सर्ग और त्रिविध फल के बारेमें यहां प्रावाहिकी सृष्टि और प्रावाहिक फल में कारणतया कृपारहित मानसी इच्छाको लीलाकारणतया स्वीकारा है. अन्यत्र मर्यादाजीवों और पुष्टिजीवों के सन्दर्भमें अर्थापत्तिवशात् कृपाविशिष्ट भगवद्वाणी या भगवत्काया को लीलाकी इच्छाके वश सृष्टि और फल के प्रभेदहेतुतया स्वीकारा गया है. यह त्रिविध सृष्टि और फलों के आनन्दात्मिका लीलाके प्रतिपादनार्थ ही है, निरसनार्थ नहीं.

('भक्तिहेतुनिर्णय' ग्रन्थमें प्रतिपाद्य विषय)

वेदोपनिषन्मूलक धर्मपरम्परा अथवा तत्त्वावधारणपरम्परा का कोई असाधारण वैलक्षण्य या वैशिष्ट्य हो तो वह यही कि मौलिक रूपमें इतरेतरतया प्रतीत होते किसी भी आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक

पदार्थके विनाशकी प्रेरणा वह नहीं देती और न स्वयंके लिये अननुसरणीय इतरताका अमान्य करती है. यह :

> **''यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानत: तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वम् अनुपश्यत:... विद्यां च अविद्यां च य: तद् वेद उभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते.''**
>
> **''स ह अयम् ईक्षाञ्चक्रे यद् मदन्यद् नास्ति कस्मान्नु बिभेमि इति ततएव अस्य भयं वीयाय... द्वितीयाद् वै भयं भवति... अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते अन्यो असौ अन्यो अहम् अस्मि, न स वेद''**
>
> **''अहम् अन्नम् अन्नम् अदन्तं माम् अद्मि अहं विश्वं भुवनम् अभ्यभवां सुवर्न ज्योति: इति उपनिषत्''.**
>
> **''नतु तद्द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं यद् विजानीयाद्''.**
>
> **''स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:... स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:. श्रेयान् स्वधर्मो विगुण: परधर्मात् स्वनुष्ठितात्''.**
>
> (ईशा.उप.७-११, बृह.उप.१।४।१-१०, तैत्ति.उप.३।-१०, बृह.उप.४।३।३०, भग.गीता १८।४५-४७).

इस तथ्यका इन वचनोंमें प्रत्यायन होता ही है. प्रथम वचनमें दृश्यमान अनेकोंमे एकत्वका अनुदर्शन अनेकताका एकतया अनुवाद है. अतएव वह इतरेतरविरुद्ध विद्या और अविद्या दोनोंके अविरुद्धतया ब्रह्मदर्शनका उपदेश देता है. द्वितीय वचनमें इतरताके बोधको भयहेतु मान कर निज अभीष्ट देवकी इतरता और स्वता के बीच तादात्म्यका उपदेश है. तृतीय वचनमें भोग्यान्न और अन्नभोक्ता के बीच भयंकर द्वैतमें अद्वैतानुभूतिको सुवर्नज्योतिके रूपमें बिरदाया गया है. अन्तिम

चतुर्थ वचनमें भगवद्गीताका उपदेश **“यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततएव विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा”**(भग.गीता १३।३०) अनेक विभक्तोंको एक अविभक्ततया निहारना उन अब्राह्मिकतया अवभासित विभागोंका ब्राह्मिक विस्तार कर पानेकी दिव्य कलात्मिका दृष्टि है. पांचवे वचनमें इतरधर्मको इतरार्थ इन्कारे बिना स्वधर्ममें अनन्यनिष्ठाके आदर्शका उपदेश हमें मिलता है.

अतएव यहां स्व-इतरको अपनेमें समाविष्ट कर पाये एक ऐसे तात्त्विक या मानसिक महावृत्तको खोजनेकी प्रेरणा मिलती है. एक ऐसा महावृत्त जो स्व-इतर (myself V/s others)की पारस्परिक विरुद्धताका अविरोधी समानाश्रय अर्थात् विरुद्धर्मोंका अविरुद्धाश्रय हो.

यों ‘पुष्टिभक्ति’पदद्वारा अभिप्रेत भक्तिका स्वरूप भी इस चिरन्तन इतरप्रतीति अर्थात् भगवान् और भक्त अथवा भगवदिच्छा-भगवत्कृपा और भगवद्-अभक्ति/भगवद्भक्ति की इतरेतरभिन्नताके प्रत्याख्यानार्थ नहीं है. यह तो भगवल्लीलाके एक महावृत्तमें ऐसे अनेक विरुद्धधर्मोंके अविरुद्धाश्रयकी आधिदैविक मृगणा है.

अतएव वेदोपनिषदोंमें और पुराणोंमें भी—

> **“द्वया ह वै प्राजापत्याः देवाश्च असुराश्च”.**
>
> **“एष ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधोनिनीषते”.**
>
> **“आद्यो अवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि... अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकुष्माण्डयादो- मृगपक्ष्यधीशाः”.**
>
> **“अथ तत्र भवान् किं... गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण**

स्वकृतकुशलाकुशलं फलम् उपाददाति आहोस्विद् आत्माराम: उपशमशील: समञ्जसदर्शन: उदास्ते... नहि विरोध: उभयं भगवति...''
(बृह.उप.१।३।१, कौषि.उप.३।८, भाग.पुरा.२।६।४१-४३, ६।९।३५-३६).

कार्याकार्यता अथवा ग्राह्याग्राह्यता के विकल्पोंमें ग्राह्य और अपोह्य दोनों ओर ब्रह्मको निहारनेकी आवश्यकता **''निरुक्तं च अनिरुक्तं च विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्''** (तैत्ति.उप.२।६) में स्वीकारी गयी है. एतावता सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरकी कृपा और अल्पज्ञ अल्पशक्ति अनीश्वर जीवकी भक्ति का अन्तर्भाव भगवल्लीलाके महावृत्तमें स्वीकारनेपर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या सर्गादि दशविध लीलारूपा कृति ज्ञानेच्छायत्नानुपाती होती हैं या स्वभावानुपाती? क्योंकि कृपाके सामर्थ्यानुपाती और स्वभावानुपाती दोनों रूप स्वीकारे गये हैं. इनमें पुष्टिजीवविषयक अनुग्रहको स्वभावानुपाती हमने प्रतिपादित किया. स्वभावानुपाती कृतिको लीलाके रूपमें स्वीकारनेपर तो पके हुवे पुष्पफलोंका वृक्षपरसे खिर जाना या प्राभंजनके वेगप्रभाववश वृक्षोंका उखड़ जाना भी लीला कहलायेगी. अत: कैसी क्रिया लीलात्मिका होती है यह विचारणीय हो जाता है.

स्पष्ट है कि जड़वस्तुओंमें प्रकट होती स्वस्वभावानुपाती या परप्रभावानुपाती क्रियाओंमें न तो ज्ञानेच्छायत्नजन्य कर्मरूपता सम्भव है और न आनन्दोच्छलन ही. अत: उन्हें लीलारूप नहीं माना जा सकता. जीवसृष्टिमें, परन्तु, स्वस्वभावानुपाती अथवा परप्रभावानुपाती क्रिया भी जब ज्ञानेच्छायत्नसे जन्य हों तभी ऐसी क्रियाओंमें कर्म/कृति होनेका बोध होता है. सृष्टिलीलाके श्रौत निरूपणमें **''आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविध: सो 'अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्. सो 'अहमस्मि' इति व्याहरत् ततो 'अहं'नामा अभवत्... सवै नैव रेमे स द्वितीयम्**

[2]**ऐच्छत् स ह एतावान् आस... स [3]इममेव आत्मानं द्वेधा [4]अपातयत्. ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्**'' (बृह.उप.१।४।१-३) स्पष्टतया १, २ और ४ अंकांकित पदोंमें ज्ञान इच्छा और यत्न का निरूपण मिलता ही है. एतावता सृष्टिलीलाको किसी जड़वस्तुमें स्वस्वभाववश या परप्रभाववश प्रकट हुयी क्रिया तो माना नहीं जा सकता. यह तो ज्ञानेच्छायत्नजन्य कर्म ही है. वह कृतिरूप कर्म ''**कर्तुः ईप्सिततमं कर्म**'' (पाणि.सू.२।३।२) सूत्रके अनुसार सकर्मक भी हो सकता है अथवा अकर्मक भी. सकर्मक कृतिके भी आत्मकर्मक अथवा आत्मेतरकर्मक दोनों प्रकार हो सकते हैं. आत्मेतरकर्मक क्रिया व्यवहाररूपा बन जाती है. सृष्टिकर्ताके सर्जनकर्मके बारेमें ''**स [3]इममेव आत्मानं द्वेधा [4]अपातयत्. ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्**'' (यथापूर्वनिर्दिष्ट) उल्लेख स्पष्टतम शब्दोंमें व्यवहार तो माना नहीं जा सकता, आत्मकर्मक होनेके कारण. वह व्यवहार भी स्वच्छन्द अथवा विध्यधीन हो सकता है. सृष्टिकर्ताके आत्मद्वेधापादन कर्मको ''**नतु तद्द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं यद् विजानीयाद्**''(यथापूर्वदर्शित) आत्मेतर द्वितीयके अभावमें परकीय विध्यधीन धर्म्य या अधर्म्य तया निर्धारण भी अप्रासंगिक ही हो जाता है. अतः धर्म्याधर्म्य व्यवहार तो विसृष्ट जीवात्माओंके ही बारेमें प्रासंगिक बनता है. वह धर्म्य व्यवहार भी ''**श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैव अवधार्यताम् आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**'' (विदुरनीति २) वचनके अनुसार विवेकनीतिप्रयुक्त होनेपर नैतिक कृति अन्यथा अनैतिक कृतिमें पर्यवसित हो जाता है. फिरभी ऐसे धर्म्याधर्म्य व्यवहारका अभिनय जनरञ्जनार्थ या लोकसंग्रहार्थ करनेपर पुण्यपापका अवलेपन प्रसक्त नहीं माना जाता. इस तरहके अभिनयकर्मसे भी ऊपर उठ कर निष्प्रयोजन निरायास आनन्द या स्नेह के उच्छलित होनेपर की जाती कृपारूपा कृति या कृपाजन्या भजनरूपा कृति लीलाभावमें अन्तर्हित होती है. महाप्रभुका एक मननीय विधान इस विषयमें यों है : ''**सृष्ट्यादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्तिः भवति न कार्यत्वे. कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला**'' (भाग.सुबो.१।१।४) यहां 'कर्म'पदके प्रयोगवश

ज्ञानेच्छायत्नजन्य होना ध्वनित होता है, अतियत्न सायास बन जाता है परन्तु अल्पयत्न अनायास होता है. अतः लीलाका अनायास होना भी आवश्यक है. अनायास कर्म भी कौतुक, उत्सव या हर्ष, के वश किये जानेपर लीलारूप बन जाता है.

यहां यह एक प्रश्न और विचारणीय बनता है कि भक्तिकी परिभाषा **"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहः"**में बोध और प्रेम पदार्थ तो आते हैं पर किसी क्रियामें भक्तिरूपता परिभाषाके विचारसे उपपन्न कैसे होगी? इसे अपरिच्छिन्न विभु सच्चिदानन्द ब्रह्मके एकैकांशके तिरोधान **"सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोः अन्यलीनता... जडो जीवो अन्तरात्मा इति व्यवहारः त्रिधा मतः"**(त.दी.नि.१।२९-३०) अर्थात् जड़में सदंशाविर्भाव और चिदंशका तिरोधान, जीवमें सच्चिदांशका आविर्भाव और आनन्दांशका तिरोधान और व्यष्टि अन्तर्यामीमें सच्चिदानन्दरूप तीनोंके आविर्भूत रहनेपर भी अपरिच्छिन्नता/विभुताका तिरोधान होता है जैसे, वैसे ही केवल क्रियामें सत्ताका आविर्भाव परन्तु ज्ञान/चेतनाका तिरोभाव, ज्ञानमें सत्ता-चेतनाका आविर्भाव होता है परन्तु आनन्द-प्रियताका तिरोभाव हो जाता है. परन्तु भाव कहो रति कहो स्नेह कहो या प्रेम कहो में क्रिया और बोध दोनों ही रहते होनेपर भी प्राधान्येन उनका व्यपदेश नहीं होता. अतएव **"'भज'इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता 'भक्ति'शब्देन भूयसी"** (गरु.पुरा.) नवधाभक्तिरूपा श्रवणादिक्रियाओंके रूपमें अथवा महाप्रभूपदिष्ट निजतनुवित्तकी निजगेहस्थित भगवत्स्वरूपकी सेवनामें विनियोगरूपा क्रियाके अभिप्रायवश भी भक्तिका क्रियारूप होना अशक्य नहीं.

अतएव 'भक्तिहेतुनिर्णय'ग्रन्थकार श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणने **"तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं नुमः"** मंगलाचरणके पूर्वपक्षतया भगवद्धर्मरूप यागदानादि निष्पापता वर्णाश्रमाचार आदिको भक्तिके हेतु माननेका विकल्प उपस्थापित किया है.

ऐसा प्रकार महाप्रभुके वचनोंमे सिद्धान्ततया भी मिलता है :

> **‘‘भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते. भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानसहितायाएव तिरोधाननाशकत्वम् उक्तं भवति, (यदि) एषा माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमस्नेहरूपा तथाभूता सती भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत्. स्वत:पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः स्वतन्त्रा इति उच्यते. अयम् अर्थः : स्वाश्रमाचार-सहित-ब्रह्मानुभवसहित-माहात्म्यज्ञान- पूर्वकस्नेहो ब्रह्मभावं करोति. तादृशश्चेत् परिचर्यासहितो भवेत् तदा सा परिचर्या आनन्दरूपा सती त्रयोदशगुणा भवति. तदा फलरूपायां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचाराः त्यक्तव्याः यथा ब्रह्मभावंगतस्य, अन्यथा कर्तव्या’’.**
>
> **‘‘यावद् देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्मा भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मः, अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः’’.**
>
> (त.दी.नि.२।१९६, सुबो.३।२८।२).

यहां भक्ति प्राप्त करनेको न तो वर्णाश्रमादि आचार, यागदानादिधर्म या आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान साधनतया उपदिष्ट हैं और न अंगतया. इनके साथ, परन्तु, समुच्चय तो निश्चिततया प्रतिपादित हुवा है. प्रभुचरण, किन्तु, इसे पूर्वपक्षकोटिमें निविष्ट कर रहे हैं. तो क्या पिता-पुत्रके बीच कोई मतभेद मानना अथवा उभयप्रामाण्यवश सम्प्रदायमें इसे वैकल्पिक सिद्धान्त मानना? इस विषयमें महाप्रभु और प्रभुचरण की मान्यताओंका तुलनात्मक विमर्श करना हो तो सर्वप्रथम महाप्रभु तथा श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण के अधोनिर्दिष्ट वचनोंपर लक्ष्यपात आवश्यक

है :

“‘सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्... कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभि: सह कलौ नष्टदृशाम् एष पुराणार्को अधुना उदित:’ त्रैवर्णिकानाम् उद्धारार्थे वेद: स्त्रीशूद्राणाम् इतिहास:, उभयसारोद्धारकत्वाद् (भागवतं) सर्वोद्धारकम्”.

“‘वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु क्रियमाणे न धर्म: स्याद् अत: तस्माद् न मोचनं बुद्धिमान् आदरं तस्मिन् छले साध्वेऽपि दु:खत: त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्... सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि तस्य सर्वम् अशक्यं स्याद् मार्गे अस्मिन् सुतरामपि. कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येत् कारणम् उच्यते’. यदा वेदादीनां कालवशाद् असाधकत्वं ज्ञातं तदा अयं मार्गो भगवता कथित:... ननु पराश्रया मुक्ति: मायावादादिभि: निराकृतेति कथं न प्रमेयविरोध: ?... तेहि स्वमात्रं फलत्वेन कल्पयन्ति तत्तु अप्रामाणिकम्. ‘आत्म’शब्दस्य भगवद्वाचकत्वात्. नतु जीवमात्रपरत्वं वेदान्तानां नापि जीवस्य फलरूपत्वम्. अत: परमानन्दो अधिको भवतीति न कदापि मुक्ति: स्वाधीना. अत: तत्र स्नेहएव तत्प्राप्तिहेतु:”.

“नहि देहभृता शक्यं कर्म त्यक्तुम् अशेषत:... भक्तिशास्त्रानुकूल्येन स्वधर्माचरणं भवेत्... तथा सर्वार्हणं यस्मात् परिचर्याविधि: हरे: अत: तदनुरोधेन नित्यकर्मकृति: वरा, अन्यथा तु कृति: व्यर्था त्रैवर्ग्यविषया यत:”.

(भाग.सुबो.१।३।४२, त.दी.नि.प्र.२२३-२२६, साधन-दीपि.१५-२२).

अत: वेदादि शास्त्रोंमें नियतकर्तव्यतया विहित स्वधर्मोंका देहाभिमान प्रबल होनेपर समुच्चय; अथवा, प्रबल न होनेपर लोकसंग्रहार्थ

अन्वाचय मात्र उपदिदिक्ष्य हैं, अंगतया या अंगितया नहीं.

“यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य वर्तते कामकारतः न स सिद्धिम् अवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्. तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इह अर्हसि”, “श्रुतिस्मृती: ममैव आज्ञे यः ते उल्लंघ्य वर्तते आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्‌भक्तोऽपि न मे प्रियः” (भग.गीता १६।२३-२४, वाधूलस्मृ.१९५) ऐसी भगवदाज्ञाओंके अनुसन्धानमें श्रुति-स्मृति-पुराण आदि शास्त्रद्वारा अनिर्दिष्ट रीतिसे स्वछन्द भक्ति करनेपर लौकिकालौकिक कुछ भी फल न मिलता हो और भगवद्‌भक्त होनेपर भी भगवद्द्रोहके अपराधवश ऐसा भक्त भगवान्‌को अप्रिय बन जाता हो तो, जहां फलसिद्धि निरूपित हो वहां इस जन्मके धर्माचरणवश न सही जन्मान्तरीय धर्माचरणके फलस्वरूप उसे मान लेनी चाहिये. अन्यथा तो भक्तिके नामपर स्वच्छन्दता फैलेगी ही जिसे रोकना अशक्य हो जायेगा ?

यहां, परन्तु, आलोचनीय हो जाता है कि जो शास्त्रवेत्ता शास्त्रोंके आधारपर कर्तव्यनिर्धारण अनिवार्य मानते हैं वे भी तो सर्वदा निजाचरणमें शास्त्रानुकूल्य निभा नहीं पाते. शास्त्रविज्ञ न होनेपर भी दुर्वृत्तिरहित व्यक्ति अनजाने भी बहुधा पापाचरण नहीं करते. अतः इसका समाधान तीन तरहसे सोचा जा सकता है :

> १.ब्रह्म स्वयं प्राकृत गुणोंके बन्धनोंसे अतीत होनेके कारण पुण्यपापातीत होता है. अतः विधिनिषेधके बन्धनोंका साधक-बाधक होना प्रकृतिके सत्त्वरजस्तमो गुणोंसे जीवचेतनाके ग्रस्त होनेके कारण ही लागु होता है, निर्गुणोंपर नहीं. अतएव भगवान् गीतामें कहते हैं वेद सारे के सारे प्रकृतिके तीन सत्त्वरजस्तमो गुणोंसे ग्रस्त चेतनावाले जीवोंको गुणोंसे मुक्त करनेको दिये गये उपदेश हैं. शास्त्रोंमें अनिर्दिष्ट या निषिद्ध प्रकारसे भक्ति

करनेवाला यदि सगुणभक्त हो तो भगवद्द्रोह स्वीकारा जा सकता है. अन्यथा ज्ञानी या भक्त दोनोंमें से कोई भी अप्रिय बन सकता है. साथ ही साथ प्रपन्न भक्तके बारेमें तो स्वयं भगवान् भी स्वीकारते हैं कि **"त्रिभिः गुणमयैः भावैः एभिः सर्वम् इदं जगद् मोहितं नाभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययम्. दैवीहि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते"** (भग.गीता ७।१३-१४) अपने भगवत्सखा अर्जुनने भी **"शिष्यः ते अहं शाधि मां प्रपन्नम्"**(भग.गीता २।७) भगवत्प्रपत्तिकी प्रार्थना द्वारा शरणागति स्वीकार रखी थी. अतः भगवान् भी स्वीकारते हैं कि **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच"**(भग.गीता १८।६६). पूर्वस्वीकृत शरणागतिके कारण इस विधानमें शरणागतिका अप्राप्तप्रापक अपूर्व विधान तो सोचा ही नहीं जा सकता. अतः 'लोट्'लकारको आशीर्वादात्मिका प्रार्थित शरणागतिकी स्वीकृति के अभिप्रायवश अथवा शरणागतिमें सर्वधर्मके त्यागरूप गुणके विधानार्थ स्वीकारना ही योग्य लगता है. जिसे पूर्वोपदिष्ट **"त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भव अर्जुन","मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्"** (भग.गीता २।४५, भाग.पुरा.११।२६।२४) यों अनन्याश्रयरूप निस्त्रैगुण्यके ही सन्दर्भमें लेना उचित है. ब्रह्मविषयक ज्ञानका निर्गुणात्मक हो जाना उपनिषद्में स्वीकारा ही गया है **"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापम् अकरवम् इति"** (तैत्ति.उप.२।९). अतः यदि ब्रह्मज्ञानीके बारेमें स्वच्छन्दाचरणका आक्षेप शक्य न हो तो, उसी ब्रह्ममें स्नेहभावसे सन्निष्ठ होनेवाले भक्तके बारेमें भी स्वच्छन्दताकी आशंका क्यों उठानी चाहिये?

२.कुछ ज्ञानियोंमें या भक्तोंमें प्रारम्भिक साधकदशामें स्वच्छन्दाचरण या पाषण्ड साक्षाद् दृष्टिगोचर होता हो तो

उनपर भगवान्‌की मर्यादामार्गीय या पुष्टिमार्गीय कृपा हुयी न होगी परन्तु संगादिके अनियामक कारणवश इस या उस मार्गमें चर्षणी जीवोंकी तरह आरूढ़ वे हो गये होंगे, ऐसे मान लेना उपयुक्त लगता है. अत: स्वयंकी सद्‌गतिके लिये शास्त्रविहित धर्माचरणकी अपेक्षा सगुण जीवात्माके लिये अपरिहार्य है. परमात्माकेलिये, किन्तु, उसे अपरिहार्य माननेपर पारमात्मिक निरंकुश ऐश्वर्यका अपलाप होगा.

३.भगवद्‌भक्तिलाभ या भगवान्‌की साक्षात् प्राप्ति में उन्हें कृपानिरपेक्ष साधन माननेपर जीवात्माका उत्कर्ष परमेश्वरसे भी अतिशायी मानना पड़ेगा. कृपासापेक्ष उन्हें माननेपर परमात्मामें कृपा और जीवात्मामें शास्त्रविहित धर्मादि सम्पत्तिमें परस्पर जन्यजनकभाव मानना या नियतसाहचर्य मानना? परस्पर जन्यजनकभाव माननेपर भगवद्धर्मरूपा अनुग्रहात्मिका क्रिया अनित्य माननी पड़ेगी. अन्यथा नित्य माननेपर जिस जन्मकालमें ज्ञान या भक्ति प्रकट हुवे हों उससे पूर्व भी जीवात्माके भीतर उन्हें विद्यमान मानना पड़ेगा. विद्यमान भी मान लेनेपर तदर्थ उत्साह और उद्यम निरर्थक सिद्ध होंगे. अगतिकतया नियतसाहचर्यका कल्प स्वीकारनेपर भगवत्प्रतिपक्षिओंके भगवदपराधको भगवल्लीलारूप माननेपर भगवल्लीलाको शास्त्रविधानोंके माहात्म्यका प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा; क्योंकि, कयीं अवतारलीलाओंमें शास्त्राज्ञाओंके विपरीत आचरणके उदाहरण उपलब्ध होते ही हैं. अत: भगवत्कृपा और धर्माचरण का नियतसाहचर्य खण्डित हो जाता है.

संक्षेपमें जैसाकि दिखला दिया गया है कि भक्तिके अनेक प्रकार मूलत:, महाप्रभुके ‘पुष्टिप्रवाहमर्यादा’ ग्रन्थमें निरूपित हुवे हैं. ये जीवसृष्टिरूपेण लीलार्थ भगवत्कृत विविध वर्णोंके भेदोपभेदमूलक माने गये हैं. वह ग्रन्थ सम्पूर्णतया उपलब्ध न होनेके कारण यद्यपि

कुछ अस्पष्टता अवश्य हैं. फिरभी अधोनिर्दिष्ट जीवात्माओंके प्रभेद अतीव मननीय हैं :

> [क]पुष्टिजीव [ख]मर्यादाजीव [ग]प्रावाहिकजीव.
> [क१]शुद्धपुष्टिजीव और [क२]मिश्रपुष्टिजीव.
>
> [क२]मिश्रपुष्टिके पुनः तीन उपप्रभेद होते हैं : पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि और प्रवाहपुष्टि. ये प्रभेद भक्तगत भजनक्रिया, स्वयंका और भजनीयका स्वरूपबोध; और, सेवा तथा सेव्य के बारेमें स्नेहभाव तीनोंकी भगवत्परता होनेपर उत्तम कोटि मानी जाती है. स्नेहरहित क्रिया-बोध होनेपर मध्यम और केवल क्रियापरता हो तो आदिम प्रवाहकोटि मानी जाती है : “**पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धा प्रेम्णा अतिदुर्लभाः**” (पु.प्र.म.१६).

समानन्यायेन मर्यादासृष्टिमें और प्रवाहसृष्टिमें भी इसी रीतिके उपवर्गोंका प्रभेद मानना या अन्य कुछ? यह उपलब्ध ग्रन्थांशके आधारपर स्पष्ट नहीं हो पाता. क्योंकि प्रवाहसृष्टिकी तरह ही दैवी जीवोंके सम्बन्धी जीवोंको भी महाप्रभु ‘चर्षणी’ पदसे वाच्य दिखलाते हैं. अतः पुष्टि या मर्यादा रूपी दोमें से किसी एक भी सरणीमें इन चर्षणियोंका वरण नहीं हुवा मान कर दैवी जीवोंसे भिन्न जीवोंके दो प्रभेद चर्षणी और आसुरी होने चाहिये. अतः वर्गविशेषसे बाह्य इन्हें प्रकीर्ण मानना अथवा प्रवाहतुल्य मानना, फिरभी प्रवाही नहीं. क्योंकि [ग]प्रवाही जीवोंमें [ग१]अज्ञ और [ग२]दुर्ज्ञ के दो अवान्तर प्रभेद कण्ठोक्त हैं. इनमें दुर्ज्ञ जीवोंके मार्गवरण सुनिर्धारणीय लगनेपर भी अज्ञजीवकी बाबतमें निर्धारण सुकर नहीं लगता है “**सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थाः तथा परे क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिः तेषां न कुत्रचित्. तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र**

सकलं फलं, प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि... जीवा: तेहि आसुरा: सर्वे... तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते हि अज्ञदुर्ज्ञप्रभेदत:. दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता: हि अज्ञा: ताननु ये पुन:'' (पु.प्र.म.२२-२५). इस वाक्यांशके अवलोकन करनेपर एक सम्भावना यह भी पुरस्फूर्तिक लगती है कि दुर्ज्ञ जीवको शुद्ध प्रवाही आसुरी मानना और ऐसे रुचिरहित क्रियापरायण चर्षणी जीव और निजी बोधरहित अन्यथाक्रिया अन्यथाबोध तथा अन्यथाभाव वाले दुर्ज्ञ प्रवाही जीवोंको अनुसरनेवाले पुन: मिश्रप्रवाही होने चाहिये — प्रवाहप्रवाही मर्यादाप्रवाही पुष्टिप्रवाही.

इसी तरह शुद्धमर्यादा और पुष्टिमर्यादा मर्यादामर्यादा और प्रवाहमर्यादा शास्त्रविहित भक्ति ज्ञानोपासना और यागदानादि तथा वर्णाश्रमाचारादि के प्राधान्यसे मिश्रमर्यादा जीव भी होते होंगे.

यदि यह महाप्रभुको अभिलषित कल्प हो तो ग्रन्थकार प्रभुचरण द्वारा मंगलाचरणमें **''तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिम्''** वाक्यांशमें न तो प्रवाहमार्गीय न मर्यादामार्गीय और नहीं मिश्रपुष्टिमार्गीय भक्तिके सन्दर्भमें बात कर रहे हैं प्रत्युत केवल शुद्धपुष्टिके कल्पकी ही बात कर रहे हैं, यह फलित होता है. क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थमें ऐसी भी विधान मिलता है :

> **''येषाञ्च पुष्टिमार्गे अंगीकार: तेषां केवलानुग्रहेणैव न साधनापेक्षा इति सिद्धान्त: यथा व्रजादिस्थिता:. तत्र-तत्र अंगीकारे च इच्छैव हेतु:, स्वतन्त्रेच्छत्वाद् नान्यनियम्यता. तथाच साधनवाक्यानि मर्यादामार्गपराणि इति ज्ञेयम्.''**
> (भक्ति.निर्ण.).

यह स्वीकारना इसलिये भी उपपन्न लगता है क्योंकि सर्वनिर्णयके साधनप्रकरणमें जहां भक्तिके बारेमें महाप्रभु सुस्पष्ट शब्दोंमें विधान करते हैं :

> **''विशिष्टरूपं वेदार्थ: फलं प्रेम च साधनं, तत्साधनं**

> **नवविधा भक्तिः, तत्प्रतिपादिका गीता संक्षेपतः... तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकं... अत्र प्रमेयं विशिष्टरूपं यस्य एकैको अंशः काण्डद्वयेन प्रतिपाद्यते स ज्ञानक्रियोभययुतः. सएव च फलम्. तत्रापि साधनं च प्रेमैव तत्साधनं नवविधा भक्तिः, श्रवणादिव्यतिरेकेण संस्कारवशात् फलकामनया वा जायमाना प्रीतिः गौणी स्यात्. श्रवणादीनां साधनत्वे प्रमाणं गीता 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' इति साधन-साध्यरूपाम् एकीकृत्य आह गीतायाअपि प्रमाण्यं फलवाक्यात्. कृष्णस्य फलरूपत्वं परमानन्दरूपत्वात् पुरुषोत्तमत्वात् च... मार्गो अयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः... प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि प्रमाणं भगवद्वाक्यं वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयपरिज्ञानञ्च फलानुभवरूपम्. साधनञ्च फलादपि अधिकं फलञ्च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकम्. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति, प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्".**
>
> (त.दी.नि.प्र.२।२२०-२२२).

यहां जिस भक्तिको मुख्या बताया जा रहा है उसे भक्तिहेतुनिर्णयकार गौण बता रहे हैं, ऐसे विरोधाभासके परिहारार्थ भक्तिहेतुनिर्णयोक्त भक्ति शुद्धमिश्र दोनों तरहकी नहीं केवल शुद्धपुष्टिरूपा भक्तिके हि हेतुका यहां प्रतिपादन मानना चाहिये. अतएव "**भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सा उच्यते**" (त.दी.नि.२।१९६) वचनमें "न सा उच्यते" कहा परन्तु स्वोपज्ञ प्रकाशमें "**तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचाराः त्यक्तव्याः... अन्यथा कर्तव्या**" (तत्रैव प्र.२।१९६) कह कर व्यवस्थितविकल्पका प्रतिपादन मिलता है. इसी व्यवस्थाकी पुष्टि महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीने भी की जो वचन हम उद्धृत कर ही चुके हैं. अतएव षोडशग्रन्थ

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध अणुभाष्य साधनदीपिका के :

> [१]**“बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि:”.**
>
> [२]**“स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्”.**
>
> [३]**“लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा वैष्णवत्वं हि सहजं ततो अन्यत्र विपर्यय:”.**
>
> [४]**“भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेद् इति आशयेन ते धर्मा: उक्ता:. गोपने मुख्यं हेतुम् आह ‘अन्वयाद्’इति यतो भगवता समन्वयं सम्बन्धं प्राप्य वर्तते अतो हेतो: तथा... एतेन यावद् अन्त:करणे साक्षात् प्रभो: प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहि: आविष्करणं भवति. प्राकट्येतु न तथा सम्भवति”.**
>
> [५]**“यद्यपि एवं हि गार्हस्थ्यं वर्णधर्मेण दुष्करं तथापि आयातपतितं बिभृयाद् देहयात्रया न गार्हस्थ्यं विना देहयात्राधर्मोऽपि सिद्ध्यति. अत: तस्मिन् स्थितस्यैव यत्किञ्चित्सिद्धिसम्भव:”,“अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्”.**
>
> (१.भक्तिव.२, २/त.दी.नि.२।२३८, ३/पु.प्र.म.२०-२१, ४/अणुभा.३।४।४९, ५/साध.दीपि.७०-७२,१०८).

यों पितापुत्रोंके विधानोंमें न केवल एकवाक्यता प्रकट होती है अपितु भक्तिवर्धिनीमें जो कुछ विधान किया गया है उसके प्रयोजनकी भी व्याख्या मिल जाती होनेसे विशेष प्रतिपत्ति होती है. जैसाकि २५२ वैष्णववार्ता (वा.१३०प्र.३) में वृत्तान्त मिलता है कि आचार्य मुरारि, पुष्टिमार्गमें दीक्षित होनेके बाद ‘मुरारिदास’नामा, के अनुनय करनेपर ये दो ग्रन्थ लिखे गये. जिस पुष्टिभक्तिकी साधनामें वे दीक्षित

हुवे उसका शास्त्रीय आधार विसम्प्रदायी जन उनसे पूछ-पूछ कर उन्हें परेशान करते थे. तब प्रभुचरणने पहले 'भक्तिहंस' ग्रन्थ रचा बादमें संक्षेपमें 'भक्तिहेतुनिर्णय' ग्रन्थ भी लिख कर भिजवाया. इस इतिवृत्तमें अपने अग्रज साधनदीपिकार श्रीगोपीनाथजी, के साथ मतभेदकी कोई पूर्वभूमिका थी ही नहीं. अतः दोनों भ्राताओंके बीच ऐसे मतभेदका ऊहापोह इन ग्रन्थोंके आधारपर करना निरर्थक दुराशय लगता है!

प्रणमामि मुरारेर्दासमहं प्रभ्वर्थितभक्तिग्रन्थद्वयम्।
निजवर्त्मप्रकाशकपुष्टिपरं निःसाधनजीवहितैकरतम्॥

('भक्तिहंस' ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय)

ऋग्वेदकी संहितामें परमतत्त्वकी तथा उसका निरूपण करनेवाली वाणीकी अन्योन्यानुरूपताके बारेमें दो वचन अतीव मननीय उपलब्ध होते हैं :

> [1]"पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं... उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति, एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरूषः. पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि त्रिपाद् ऊर्ध्वम् उदैत् पुरुषः पादो अस्य इह अभवत् पुनः"
>
> [2]"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुः ब्रह्मणाः ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचा मनुष्याः वदन्ति. इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यो सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः"
>
> (१/ऋक्संहि.१०।९०।२-३, २/१।१६४।४५-४६).

अर्थात् केवल एकचतुर्थांशमें निखिल सृष्ट्यात्मना प्रकट हुवा होनेसे

मूलतत्त्वका न तो स्वरूप पूर्णतया प्रकट हुवा है; और, नहीं परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी रूपिणी चतुष्पदा वाणी भी अपने तीन पूर्वचरणोंको प्रकट करती है. केवल वैखरी वाणीसे तो इतना ही कहा जा सकता है कि इन्द्र सूर्य वरुण अग्नि यम वायु सभी कुछ वही बना है. इसके अलावा वह और क्या है, यह कहा नहीं जा सकता. अतएव जितना कुछ कहा जा सकता है ब्रह्मको उतना कह कर अन्तमें वाणी और मन दोनों परावृत्त हो जाते हैं. अतएव वैखरीसे उसका निरूपण करने जानेपर वदतोव्याघात हो जाता है **“यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यद् इदम् उपासते”** (केनोप.१।४). वेदवाणी भी इतना ही कह पाती है कि सृष्टिमें वायु सूर्य अग्नि चन्द्र यम आदि सभी दैवी शक्तियां उसके आधीन अपना कार्य करती हैं. मानुष आनन्दसे लेकर प्रजापतिसे भी ऊपर ब्रह्मका उत्तरोत्तर शतगुणित होता आनन्द अरब-खरब गुना हो जाता है. पर अन्तमें कितना है उसका पार मन या वाणी से पाया नहीं जा सकता. फिरभी अपने अंशी आनन्दके आनन्त्यके ज्ञानसे आश्वस्त होनेपर अंशभूत चेतना निर्भय अवश्य हो जाती है **“यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति”** (तैत्ति.उप.२।८-९).

अतएव आनन्दात्मक ब्रह्मको, शांकर वेदान्तकी तरह वाल्लभ वेदान्तमें सर्वथा अवाच्य नहीं माना गया है पर इयत्तया या एतावत्तया तो अवाच्य माना ही गया है. अर्थात् सिद्धार्थबोधक वाक्योंद्वारा प्रतिपाद्यताकी परिधिमें ही जब ब्रह्म घिर न पाता हो तब साध्यार्थबोधक विधिनिषेधरूप वाक्योंद्वारा प्रतिपाद्य धर्माधर्मोंकी परिधिमें उसे कैसे घेरा जा सकता है? ये विधिनिषेध पूर्वोत्तर उभयविधमीमांसामें मनुष्याधिकारक ही माने गये हैं :

“ ‘हृद्यपेक्षयातु मनुष्याधिकारत्वात्’ ... शास्त्रंहि अविशेषप्र-

वृत्तमपि मनुष्यानेव अधिकरोति शक्तत्वाद् अर्थित्वाद् अपर्युदस्तत्वाद् उपनयनशास्त्रात् च इति वर्णितम् अधिकारलक्षणे'' (द्रष्ट. : जैमि.सू.६।१।१-३८).

''रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव स. विचित्रो रूपप्रपञ्चः जीवाश्च अंशाः, अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तन्निवारणार्थं श्रुतिं चकार... इदमेव श्रुतेः प्रयोजनं... अध्ययनादिना धर्मादिकमपि साधयति... प्रपञ्चात्मको भगवान् वेदार्थः इति निरूप्य सर्वेषां तथाबुद्धिभावम् आशंक्य तेषां दोषं कथयन् स्वोक्तम् उपसंहरति... सात्त्विकानामेव अयम् अर्थो प्रकाशते न सर्वेषाम्. ननु सर्वे भगवदंशाः तत्र कथं केचन सात्त्विकाः अन्ये न इति व्यवस्था? 'प्रजायेय'इति इच्छया विनिर्गताः चिदंशाः तुल्याः मा भवन्त्विति भगवन्मायागुणैः व्याप्ताः त्रिविधरसभोगाय. अन्यथा तामसवस्तूनां भोगो न स्यात्. अतएव श्रुतौ 'त्रयो ह वै प्रजापत्याः' इति देवाः मनुष्याः असुराः... अतो जीवानां त्रैविध्यात् तदनुगुणाएव अन्तःकरणादयोऽपि भवन्ति. ततः किम् अतः आह सर्वे वेदविदो जाताः स्वभावगुणभेदतः तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधा उदितः.''

(ब्र.सू.शां.भा.१।३।२५. त.दी.नि.प्र.२।१७-२०).

ऐसी स्थितिमें सर्वपदार्थरूप अर्थात् अभिधेयार्थ विधेयार्थ निषेद्ध्यार्थ विकल्प्यार्थ अपोह्यार्थ ब्रह्म शास्त्रविधिके आधीन कैसे हो सकता है!. क्योंकि जो अभिधेयकोटिगत सिद्धार्थ होता है उसे विधेयकोटिगत साध्यार्थ नहीं माना जा सकता. और जो विधेयकोटिमें होता है उसे निषेध्यकोटिमें कैसे माना जा सकता है? परन्तु ब्रह्म तो सभी कोटियोंमें उपलब्ध होता है. अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें भूलोक कितना? उसमें मनुष्य कितने? उन मनुष्योंमें भारतीय कितने? उन भारतीयोंमें उपनीत द्विज

कितने? उनके कर्तव्यनिर्देशार्थ प्रवृत्त विधिनिषेधशास्त्रके आधीन परमेश्वरको मानना 'किं-केन सम्बद्ध्यते!' जैसी बात लगती है. अतएव 'भक्तिहंस' ग्रन्थके मंगलाचरणमें ग्रन्थकार कहते हैं "**मन्त्रोपासन-वैदिकतान्त्रिक-दीक्षार्चनादि-विधिभिर् यो अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु**" (भक्तिहं.२) यहां "वैदिकतान्त्रिकविधिसे अस्पृष्ट" होनेके अभिप्रायकी जिज्ञासा उठनेपर अनेक विकल्प प्रत्युपस्थित होते हैं :

[१]विहितकृतिरूपत्वेन अस्पृष्ट
[२]विहितकृतिप्रेरकत्वेन अस्पृष्ट
[३]विहितकृतिकारयितृत्वेन अस्पृष्ट
[४]विहितकृतिमदन्तर्यामित्वेन अस्पृष्ट
[५]विहितकृत्युपदेशकत्वेन अस्पृष्ट
[६]विहितकृत्युद्देश्यत्वेन अस्पृष्ट
[७]विहितकृतिफलत्वेन अस्पृष्ट
[८]विहितकृतिफलदातृत्वेन अस्पृष्ट

इन अष्टविध विकल्पोंके अन्तर्गत कुछ विकल्प १ ६ तथा ७ एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके स्वरूपदृष्ट्या तो सर्वथा अभीष्ट ही होनेपर भी अनेकानेक नाम-रूप-कर्मरूपा सृष्टिमें लीलात्मक जो ऐच्छिक द्वैत प्रकट हुवा उसके सन्दर्भमें अनभीष्ट बन जाते हैं. क्योंकि उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मकी श्रीमद्भागवतमें भी अद्वितीया एकता निरूपित करके लीलात्मक ऐच्छिक द्वैत प्रतिपादित किया गया है :

> **"द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः. नारायणपरा वेदाः देवाः नारायणांगजाः नारायणपराः लोकाः नारायणपराः मखाः, नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः. तस्यापि द्रष्टुर् ईशस्य कूटस्थस्य**

अखिलात्मन: सृज्यं सृजामि सृष्टो अहम् ईक्षयैव अभिचोदित:''.
(भाग.पुरा.२।५।१४-१७).

अत: विधानाभिधानात्मक वेद, उन वेदोंके पूर्वकाण्डमें प्रतिपादित कर्मज्ञानोपासनांगभूत देव, उन विविध देवोंको उद्देश्य या उपास्य बना कर यज्ञयोगतपोज्ञानादिके अनुष्ठानौपयिक लोक और वहांसे प्राप्तव्य गति आदि सभी कुछ प्रभेद ब्रह्मतादात्म्यभावके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकट हुवे रूप-नाम-कर्मोंके ही लीलारूप प्रभेद हैं. अतएव महाप्रभु भी प्रतिपादित करते हैं :

> **[1]''रूपलीलावद् नामलीलाया: विभेदानां वक्तव्यत्वाद् नानाविधानि वाक्यानि प्रवृत्तानि. विरुद्धवाक्यत्वेनैव भासमानेषु अविरोधप्रकारम् आह 'विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि' इति. विरुद्धांशपरित्यागो द्वेधा वक्तव्य: : भगवत्सामर्थ्येन अलौकिकप्रमाणेन, भगवत: सर्वरूपत्वेन वा'',**
>
> **[2]''सएव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो नहि गुणाभिमानिनो ये हि तदंशा: सगुणा: स्मृता:.''**
>
> (१/त.दी.नि.प्र.१९, २/१।७७)..

अत: विहितकृतिरूपत्त्वेन विहितकृत्युद्देश्यत्वेन या विहितकृतिफलत्वेन अंशीरूप भगवान् नहीं प्रत्युत भगवदंशरूप गुणाभिमानी देवता सम्पृक्त होते हैं. क्योंकि विधिनिषेधका बन्धन त्रैगुण्यव्यवस्थाके अन्तर्गत आते भगवल्लीलारूपोंका ही होता है **''ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु:. य: तं न वेद स: कि किम् ऋचा करिष्यति... छन्दांसि यज्ञा: क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा: वदन्ति. अस्माद् मायी सृजते विश्वम् एतत् तस्मिंश्च अन्यो मायया संनिरुद्ध:. मायान्तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरं तस्य अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वम् इदं जगत्''** (श्वेता.उप.४।८-१०) यह इस श्रुतिवचनमें स्पष्टतमरूपेण स्वीकारा गया है. अर्थात् जिस प्रकृतिरूपा मायाके मायावी परमेश्वरको माया

बांध नहीं पाती, उस मायाके ऐसे प्रेरक अन्तर्यामी उपदेष्टा तथा फलदाता ने छन्दोरूप वेद, तद्विहित यज्ञ-क्रतु-व्रत आदिके नियमोंके आधारपर इस विश्वका निर्माण किया है. ऐसे विश्वमें उसके अंशरूप देवता यज्ञोंके उद्देश्यतया जुड़ते हैं. अयथाविधि/यथाविधि अनुष्ठित यज्ञादि कर्मानुष्ठान बंधक/मोचक बनते हैं. यों ऐसी क्रियाओंके कर्ता भी बंध जाते हैं या मुक्त हो पाते हैं.

यहां यह एक और विषय विचारणीय बन जाता है कि भक्तिका जिस तरहका लक्षण स्वीकार कर यह प्रतिपादन किया जा रहा है, क्या वैसी ही एक निश्चित लक्षणवाली भक्तिके बारेमें यह प्रतिपादन है? अथवा 'भक्ति'पदसे व्यवहृत होते सभी प्रकारोंकी भक्तिके बारेमें यह प्रतिपादन अभिलषित है?

हंसेनेव क्षीरनीरविवेक: शुद्धमिश्रयो:॥
भक्त्यभक्त्योर्विभेदोऽत्र ग्रन्थद्वयनिरूपित:॥१॥
विशुद्धा भक्तिराद्या वै भक्त्यभक्त्योश्च मिश्रता॥
कर्मज्ञानादयोऽभक्तिरूपास्तु तृतीया: मता:॥२॥
लक्षिताद्या लक्षणेन गौणी सा द्वितीयोच्यते॥
कर्मज्ञानाद्यंगभूता तत्तद्रूपा न भक्ति सा॥३॥

अत: भक्तिके विविध लक्षणों और भेदोपभेदों के सन्दर्भमें पौराणिक तान्त्रिक और भक्तिसूत्रों पर दृष्टिपात कर लेना उपयोगी होगा.

($^{\text{माहात्म्यज्ञान}}$सर्वगुहाशयावस्थितभगवद्गुणश्रवणसञ्जाता $^{\text{सुदृढस्नेह}}$अहैतुकी अव्यवहिता मनोगति: भक्ति:)

सर्वप्रथम श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्धमें आत्यन्तिक निर्गुण भक्तियोग, जिसे महाप्रभु स्वाभिमततया स्वीकारते हैं **"भेद: पारमार्थिक: इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग: उक्त:. तेच साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिण:**

तत्त्ववादिनो रामानुजा: च इति तमोरजस्सत्त्वै: भिन्ना: अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्य: इति चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादित:'' (सुबो.३।२३।३७). यहां भेदको पारमार्थिक भगवत्प्रतिपादित माननेपर कईओंको महाप्रभुको अभिप्रेत शुद्धाद्वैतके बारेमें द्वैताद्वैतरूप होनेका भ्रम हो जाता है. वाल्लभ मतकी बारीकी, परन्तु, यही है कि सर्वब्रह्मतादात्म्यका घटक भेद पारमार्थिकतया मान्य होनेपर भी **''स द्वितीयम् ऐच्छत्, स ह एतावान् आस''** (बृह.उप.१।४।३) ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर स्वाभाविकतया या आत्यन्तिकतया अमान्य है. एतावता तादात्म्यघटक ऐच्छिक द्वैत अमान्य नहीं बन पाता. श्रीशंकराचार्यने भी अंगीकार्यकोटिमें न सही परन्तु व्यावर्त्यकोटिमें तो इसे स्वीकारा ही है **''परिशोधितं 'तत्'पदार्थम् अनूद्य परिशोधितेन 'त्वं'पदार्थेन सह ऐक्यं वाक्यार्थं कथयति 'ब्रह्मैव'इति 'एव'कार: तादात्म्यांगीकारप्रयुक्तभेदनिरासार्थम्''** (पञ्चीकरणम्). अत: तादात्म्य असम्भव या अकल्प्य हो तो व्यावर्तनका कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं हो सकता. अत: भक्तिके लक्षण तथा भक्तके सहज स्वभाव और आगन्तुक गुणों के मिश्रणवश प्रकट होते सगुण भक्तिके भेदोपभेदोंको एक बार देख लेना उपकारक होगा :

> **''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर् भामिनी भाव्यते स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते : [१/क]अभिसन्धाय यो हिंसां [१/ख]-दम्भं [१/ग]मात्सर्यमेव वा संरभी भिन्नदृग्भावो मयि कुर्यात् स तामस:, [२/क]विषयान् अभिसन्धाय [२/ख]यश [२/ग]ऐश्वर्यमेव वा अर्चादी अर्चयेद् यो मां पृथग्भाव: स राजस:, [३/क]कर्मनिर्हारम् उद्दिश्य [३/ख]परस्मिन् वा तदर्पणं [३/ग]यजेद् यष्टव्यम् इति वा पृथग्भाव: स सात्त्विक:, [४]मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिर् अविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसो अम्बुधौ**

> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य हि उदाहृतम् अहैतुकी अव्यवहिता या भक्ति: पुरुषोत्तमे सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना:, सएव 'भक्तियोगा'ख्य: आत्यन्तिक: उदाहृत: येन अतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावाय उपपद्यते. निषेवितेन अनिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा क्रियायोगेन शस्तेन नातिर्हिंस्रेण नित्यश:. मद्धिष्ण्यदर्शन-स्पर्श-पूजा-स्तुत्यभिनन्दनै: भूतेषु मद्भावनया... अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा अवस्थित: सदा, तम् अवज्ञाय मां मर्त्य: कुरुते अर्चाविडम्बनम्. यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम् आत्मानम् ईश्वरं हित्वा अर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति स:... अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयं अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा..."
>
> (भाग.पुरा.३।२९।७-२७).

यहां ऐच्छिक भेदको पारमार्थिक मान कर सात्त्विक स्वभावके अन्तर्गत त्रिविध तामस-राजस-सात्त्विक गुणोंके अवलम्बन द्वारा त्रिविध सगुणा भक्ति होती है; तथा, उस भेदके पारमार्थिक होनेपर भी ऐच्छिक होनेके तथ्यके स्वीकारके साथ अभेदको स्वाभाविक मान कर चौथी निर्गुणा भक्ति होती है. यों भक्तिके प्रशस्त चारों प्रकारोंका प्रतिपादन स्वयं भगवान्ने ही किया है. ऐसा महाप्रभुने स्वीकारा है.

जबकि तामस या राजस स्वभाववालोंके तामस-राजस-सात्त्विक गुणोंके वशात् की जाती भक्तिके भेदोपभेदोंका निरूपण भगवान्ने निन्दार्थ किया है. प्राकृत गुणोंसे अभिभूत होनेके कारण ये अप्रशस्त प्रकार

भक्ति होनेकी भ्रान्तिके वशात् जघन्याधिकारी अपनाते हैं. ये छह प्रकार होते हैं : तामस-तामस राजस-तामस सात्त्विक-तामस इत्यादि. इन उपभेदोंके कारण भगवत्प्रतिपादित एवं भगवन्निन्दित कुल दशविध भक्तिके भेदोपभेद प्रतिपादित हुवे हैं.

यहां भेदबुद्धिवशात् सगुणा भक्तिके नौ तथा भेदबुद्धिरहित दसमी निर्गुणा भक्ति है. भगवन्मूर्तिका पूजन अर्थात् अर्चार्चन भेदबुद्धिवालोंके विभिन्न गुणोंके कारण सगुण भक्तिके नौ प्रकारोंवाला बन जाता है. उससे रहित होनेपर अर्चार्चन भी भगवन्निष्ठताके कारण निर्गुण ही रहता है. भक्तिके इन सभी प्रकारोंमें माहात्म्यज्ञान तो न्यूनाधिक रहेगा पर भगवान्में स्नेहकी सुदृढता एवं सर्वतोऽधिकता प्रकट न हो पाती होनेके कारण उपात्त भक्तिलक्षण अनुगत नहीं हो पाता. अत: भक्ति होनेपर भी अभक्तिरूप होनेसे भक्तिहंसकार इन्हें गौणी भक्ति अथवा 'भक्ति'पदका प्रयोग ही इनके बारेमें गौण मान रहे हैं. इस सूक्ष्मताका विवेचन कपिलगीताके ३२ वें अध्यायकी सुबोधिनीमें यों मिलता है :

> ‘‘तेषां दोषम् आह ‘भेददृष्ट्या’ इति... एवं भगवन्मार्गानुसारेण भगवद्भजनाभावे... ये पुन: तामसा: ऐहिका: ते भजनाभावे सर्वथा नष्टा: भविष्यन्तीति किं वक्तव्यम्! इति वक्तुं तामसधर्मप्रवर्तकानां स्वरूपसाधनफलानि आह... ‘तेषां स्वधर्मकरणं दोषश्चापि चतुर्विधो, भगवद्विमुखाश्चैते लौकिकाश्चापि ते सदा माम् अप्राप्य निवर्तन्ते... तेषां भगवद्वैमुख्ये हेतु: ‘त्रैवर्गिका:’ इति धर्मार्थकामे(सात्त्विकराजसतामसे)ष्वेव ते साधव:... वासुदेवाद् विमुखा:... नूनं दैवेन निहता: येच अच्युतकथासुधां हित्वा शृण्वन्ति असद्गाथा:... तत: ते क्षीणसुकृता: पुन: लोकम् इमं... पतन्ति विवशा: दैवै: सद्यो विभ्रंशितोदया:... एवं भगवद्भजनार्थं निन्दाम् उक्त्वा प्रकृतम् आह ‘तस्मात् त्वं सर्वभावेन भजस्व’... ये केचिद् यथाकथञ्चिद् भजन्तु नाम...

> त्वं सर्वभावेन भजस्व. यावन्ति रूपाणि भजनीयानि ऐहिक-पारलौकिक-साधनानि देहम् आरभ्य ईश्वरपर्यन्तं यावन्तो भजनीयाः, यैः भावैश्च ते सर्वे भावाः भगवत्येव कर्तव्याः... भक्त्यैव च भजनं न मार्गान्तरेण अन्यस्य साधकत्वाभावात्. सापि भक्तिः तद्गुणानेव आश्रित्य वर्तते अन्यथा कालादिभिः उपहता भवति... वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितो जनयति आशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्... यस्मिन् ब्रह्म आविर्भवति... ततश्च निरहंकारो ज्ञानमेव हरिः परः वैराग्यस्यापि माहात्म्यं... तदर्थं च जगद् जातं वैराग्यं सर्वनिश्चयः... ज्ञानं प्रतीकविषयमपि भवतीति विशिनष्टि 'यद् ज्ञानं ब्रह्म' दर्शयति इति''.
>
> (सुबो.३।३२।१३- २३).

गरुडपुराणमें आता है कि **''तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिसाधनभूयसी''** (गरु.पुरा.३।२१८) अतएव महाप्रभु भी भक्तिके उपक्रमार्थ विरचित सिद्धान्तमुक्तावलीमें चेतस्तत्प्रवणरूपा सेवात्मिका भक्ति, तत्साधनभूता निष्काम अदम्भ निजतनुवित्तजा (*क्योंकि केवल तनुजा जैसे सकाम या दम्भरूपा होती है, वैसे ही केवल वित्तजा भी सकाम या दम्भरूपा ही होती है*), फलरूपा मानसी तथा उसके अवान्तरफलतया संसारदुःखनिवृत्तिरूप वैराग्य और सर्वत्र ब्रह्मभावदृष्टिरूप ज्ञान यों सभी कुछ इस कपिलगीताके समानान्तर उपदेश देते हैं. पुष्टिप्रवाहमर्यादा तथा पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्ष भगवदितर विषयक नहीं होते ऐसा दरसानेवाली चतुश्लोकी ग्रन्थोंके सावधानीसे अवलोकन करनेपर यहां प्रतिपादित भक्तिको शुद्धपुष्टिरूपा न मान कर पुष्टिपुष्टिरूपा स्वीकारना उपपन्न लगता है. परन्तु मर्यादापुष्टि और प्रवाहपुष्टि में क्रमशः भगवद्गुणज्ञता तथा भगवत्परकक्रियापरता के कारण पुष्टिके साथ अन्यमार्गोंका मिश्रण हो जानेसे वह पुष्टि शुद्ध नहीं रह जाती. अतः इन प्रकारोंको भक्तिके अभीष्ट लक्षणमें सर्वथा अलक्ष्य मानना या अंशतोलक्षित मानना? किसीभी सूरतमें अतिव्याप्ति-अव्याप्तिदोष प्रसक्त हो सकते हैं.

यहां उल्लेखनीय है कि सिद्धान्तमुक्तावलीमें महाप्रभुने नवधा भक्तिके समायोजनकी चर्चा नहीं की जो भक्तिवर्धिनीमें मिलती है. क्रियारूपा श्रवणकीर्तनादि नवधा भगवद्भजनात्मिका क्रियाओंसे जैसे प्रेमलक्षणा भक्तिके बारेमें स्वरूपयोग्यता आती है जैसा कि कहा गया **“व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा ततः प्रेम तथा आसक्तिः व्यसनं च यदा भवेद् बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति”** (भ.व.२-४) वैसे ही तनुवित्तजा सेवा भी उसी प्रेमलक्षणाके भगवत्कृत पुष्टिभक्त्यर्थ वरणरूप बीजभावको प्रेमात्मना अंकुरित करनेका एक अन्यतम सक्षम उपाय है.

उस क्रियात्मिका नवधा भक्तिके अनुष्ठानके बारेमें जैसे यहां परहिंसादिरूप तामस गुण, ऐश्वर्यादि कामपूर्त्यर्थ राजस गुण या स्वधर्मबुद्ध्या अनुष्ठित सात्त्विक गुण भेददृष्टिमूलक दरसाये गये है, वैसे ही अभेददृष्टिमूलक नैर्गुण्यका अनुष्ठान भी सम्भव है. इसे ही लक्ष्यमें रख कर भक्तिहंसकार प्रभुचरणने नवधा भक्तिके निन्दितानिन्दित अनेक प्रकार दिखलाये हैं :

> **“श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति.**
>
> **तथाहि — श्रीभागवतसहस्रनामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन चत्वारोऽपि अर्थाः उच्यन्ते तत्र —**
>
> **[१]त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा. वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवद् लौकिकएव शौचार्थिगंगास्पर्शवच्च. नहि तस्य मलादिनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते, प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि. एतेन विहितजातीयं यथाकथञ्चित् कृतम् उक्तफलाय इति निरस्तम्.**
>
> **[२]तुरीयाश्रमे ज्ञानोदयहेतुच्चित्तशुद्धिहेतुत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः ज्ञानमार्गीयः...**

[३]साक्षाद् मोक्षसाधनत्वेन तान्त्रिकदीक्षापूर्वको विहितत्वेन क्रियमाण: श्रवणादि: उपासनामार्गीयो अयमेव वैष्णवमार्ग: इति उच्यते विष्णुधर्मेषु निष्ठावत्त्वात्...

[४]भक्तिमार्गीयभक्तकृतभक्तिसाम्प्रदायिकदीक्षापूर्वको श्रवणादि: प्रावाहिकी (‘‘प्रवाहेण क्रियारता:’’पु.प्र.म.१५) भक्ति: उच्यते...

[५]प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाण: श्रवणादि: भक्तिमार्गे मर्यादा(‘‘मर्यादया गुणज्ञा: ते ’’पु.प्र.म.१६)भक्ति: इति उच्यते...

[६]स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनत: स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाण: उत्तम: पुष्टि(‘‘पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा:’’पु.प्र.म.१५)भक्तिरूप:’’.

(भक्तिहे.)

ये प्रकारभेद प्रेमलक्षणा भक्तिकी साधिका श्रवणादि नवविध साधनात्मिका क्रियाओंके प्रभुचरण दरसा रहे हैं नकि माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेहरूप भक्तिके, जिसका भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें महाप्रभुने **‘‘बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादि’’** (भ.व.२-३) श्लोकद्वारा निर्देश किया है. प्रसंगोपात्त श्रीगोपीनाथजी भी **‘‘लब्धानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जन:... वैष्णवाचारतत्पर: सर्वस्वं हरिसात् कार्यं (कृत्वा!) त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवं हिंस्रकाम्यान्यदेवार्चा: यदि नित्यं च लौकिकम्’’** (साध.दीपि.२४-२५) वचनमें यही बात दोहरा रहे हैं. यहां पुष्टिप्रपत्ति तथा पुष्टिसमर्पण के बाद प्रसक्त सिद्धान्तमुक्तावलीप्रतिपादित [क]पुष्टिधर्मोपदेशकी इतिग्रहणीयताका [ख]सेवास्वरूपकी इतिकर्तव्यताका [ग]सेव्यस्वरूपकी इतिभावनीयताका तथा [घ]सेवकस्वरूपकी इतिबोध्यताका जो स्वरूप तत्त्वार्थदीपनिबन्धके सर्वनिर्णयान्तर्गत साधनप्रकरणमें महाप्रभुने समझाया उसे संकलित करना उपयुक्त होगा :

(क.पुष्टिधर्मोपदेश ‘‘कृष्णसेवा सदा कार्या’’की इतिग्रहणीयता)

‘‘ ‘कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं

भजेद् जिज्ञासुः आदराद्' योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमं जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलेव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति. 'जिज्ञासुः' नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजनं' सर्वभावेन तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या (गुरूपदिष्टरीत्या भगवद्भजनमेव गुरुभजनम्)''.

(त.दी.नि.प्र.२।२२७)

(ख. ''मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्'' वचनोपदिष्ट सेवास्वरूपकी इतिकर्तव्यता)

'''तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेण उपचाराः मुख्याः' 'यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैः आभरणैरपि अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम्, भार्यादिः अनुकूलः चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्, उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्. तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः', 'सप्रेम' इति अनुद्वेगार्थम्. 'स्थानं' मन्दिरं तदलंकारपूर्वकमेव भगवदलंकरणं कर्तव्यम्. एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह 'भार्यादिः अनुकूलः चेद्' इति. भार्यादिकं 'गृहं', विष्णुपराङ्मुखाः भार्यादयो अन्यथा त्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन् मार्गे न स्थातव्यम् इत्युक्तं भवति. (विनियोज्यचिन्ता) जीवने प्रकारम् आह 'सर्वथा वृत्तिहीनः चेद्' इति याममात्रं भगवत्सेवा विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्... (कथासमुच्चय) जीविकायां चित्तं व्यापृतं पुनः भगवति योजनार्थम् उपायम् आह 'पठेच्च नियमं कृत्वा' इति अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि श्रीभागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायं

कथितम्. एतद् भजनम् आन्तरं मुख्यम्. तत्र यथा बहिर्भजने प्रतिकूलत्यागः तथा आन्तरभजनेऽपि प्रतिकूलपरित्यागम् आह 'सर्वं सहेत' इति. यथा गृहम् अव्याकुलं बहिःपूजायां कर्तव्यं तथैव हृदयम् अव्याकुलं विधेयम्... (सदा कार्या)एकापि परिचर्या सकृत् कृता परमपुरुषार्थदेति परं विद्यमानदेहस्य निष्कृत्यर्थं सदा परिचरेत्... यद्यद् इष्टतमं लोके यच्च अतिप्रियम् आत्मनः येन स्याद् निर्वृतिः चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवं, (विनियोज्यमस्तु)स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः, एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्. भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्. तत् क्लिष्टं त्रिविधं : लोकक्लिष्टम् आत्मक्लिष्टं चित्तक्लिष्टं चेति. अतो अक्लिष्टं निरूप्यते— लोके यद्यद् इष्टतमम् आम्रद्राक्षादि, आत्मनः अत्यन्तप्रियं दुग्धादि, सन्मार्गोपार्जितं नान्येषां भागरूपं चिरकालमनोरथचिन्तितं अन्तःकरणप्रियं, तेनैव चित्तनिर्वृतिः. इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्. सेवा मुख्या नतु पूजेति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद् इति आशयेन आह 'स्वयं परिचरेद्' इति धर्मार्थतां व्यावर्तयति 'भक्त्या' इति. वस्त्रप्रक्षालनम् अतिबहिरंगमिति तद्ग्रहणम्. प्रधानावृत्तौ अंगानि आवर्तन्तइति प्रधानावृत्तिम् आह 'एककालम्'इति''.

(त.दी.नि.प्र.२।२३०-२३८).

(ग.''परं ब्रह्मतु कृष्णोहि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणं... आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णम्'' सेव्यस्वरूपकी इतिभावनीयता)

'''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितं साकारव्यापकत्वात् च मन्त्रस्यापि विधानतः श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः', 'क्वचिद्' देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमो

यद् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति 'तद्रूपम्'इति. वस्तुविचारेण सर्वस्यापि भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः. भक्तिमार्गानुसारेण आह 'तत्र स्थितम्' मूर्तौ स्थितं परं यत्र हस्तः तत्र हस्तः, तत्तदवयवेषु तत्तदवयवाः. तत्र हेतुः साकारव्यापकत्वात् च. व्यापकं साकारं ब्रह्मेत्यतः सर्वे कटकाद्युपचाराः भगवदवयवेष्वेव साक्षात्कृताः भवन्ति. उपासनामार्गेणापि भगवद्भजनं भवतीति आह 'मन्त्रस्यापि विधानतः' न्यासादिपूर्वकं सर्वपूजा. मूर्तौ विशेषम् आह 'श्रीकृष्णम्'इति मूर्त्यन्तरे द्व्यन्तरितम्. 'यथा'वद् मुख्यतया प्राप्तेः उपचाराः कर्तव्याः.''

(त.दी.नि.प्र.२।२२८-२२९).

(घ. ''आत्मनि ब्रह्मरूपे तु... तस्मात् स्थानात् च नश्यति''श्लोकोक्त सेवकके स्वरूपकी इतिज्ञातव्यता)

''एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्. अन्येषां सम्भवेत् तु स्याद् यतेः पर्यटनं वरम्. विक्षेपाद् अथवा अशक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचिद् अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां सदा... गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थं तद् नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः, धनं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थे तत् प्रयुञ्जीत कृष्णो अनर्थस्य वारकः. गृहस्थस्य एतद् मुख्यम्. एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यम् अश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत् कर्तव्यम्... संन्यासिनस्तु पूर्वापेक्षयापि अग्रिमएव उत्तमः एवम् इति आह 'यतेः पर्यटनं वरम्'... (१.दोष)'विक्षेपाद्'इति स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्षितानि. (२.दोष)जरया व्याधिभिः वा यदा 'शक्त्य'भावः. (३.दोष)लोकाः वा 'प्रतिबन्धं' कुर्वन्ति.

> (४.दोष)**स्वस्य वा (गृहादिषु) परम: आग्रह: उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति.** (५.दोष)**लोकानां वा 'पीडां' कुर्यात्. तत्र पूजा त्यक्तव्या तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया. तत्रापि दोषसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यम्... तदा यत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या... गृहं-धनम् इति पूर्वाधिकारद्वयाभावे तृतीयं** (अनुकल्पिकथा)**पक्षम् आह 'अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीमद्भागवतम् आदरात् पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणै: कण्ठगतैरपि तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत्... बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतं नाम्नि चैकं तत: त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपित:...** (आनुकल्पिक)**प्रपत्तिमार्गम् आह जगन्नाथे पाण्डुरंगे श्रीरंगे वेंकटे तथा यत्र पूजाप्रवाह: स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्पर:..."**
>
> (त.दी.नि.प्र.२।२४६-२५१).

यहां प्रसंगोपात्त श्रीगोपीनाथजी भी "**प्रेम्णोपदेशश्रवणात् प्रपत्ति: प्रेमकारणम्**" (साध.दीपि.१४) ऐसे विधानद्वारा प्रपन्नाधिकारीको वर्णाश्रमधर्माचारोंका भक्तिशास्त्रोंके अनुकूल अनुष्ठानार्थ अन्वाचय दिखला कर नवधा भक्तिके अन्तर्गत सप्तविधा श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन तथा दास्य के अनुष्ठानकी अनुज्ञा प्रदान करते हैं. यह निजजनककी तरह ही जगन्नाथ द्वारिका श्रीरंग व्रजमण्डल में जहां पूजाप्रवाहका सातत्य हो वहां बसनेपर भार देते हुवे अन्तमें "**देवात्मसम्पद: पुंस: भक्ति: भवति नैष्ठिकी यया 'सर्वात्मभावा'ख्या परा सिद्धि: स्वयं भवेत्**" (साध.दीपि.१४-४०) इसी तरहका उपदेश भी देते हैं. यों पिता और दोनों आत्मजोंकी उपदेशरीतिमें भागवतोपदिष्ट रीतिसे विशेष कोई अन्तर सिद्ध नहीं होता है.

जैसे कपिलगीतामें भक्तिके तामस-राजसादि भेदोपभेद दरसाये गये

हैं या जैसे भक्तिहंसमें नवधा भक्तिके छह प्रभेद दरसाये गये हैं, वैसे सेवाके बारेमें भी समझने हों तो सर्वप्रथम सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही तीन भेद तो कण्ठोक्त मिलते ही हैं : १.आत्मानन्दसमुद्रस्थश्रीकृष्णमार्गस्थ सेवक द्वारा की जाती सेवा उत्तम, २.संसारी सेवकद्वारा की जाती सेवा मध्यम; तथा, ३.कृष्णेतरलौकिकार्थी द्वारा की जाती क्लेशरूपा सेवा आदिम कोटिकी होती है. ४.लाभपूजार्थ की जाती कृष्णसेवा अभक्तिरूप पापाचरणरूपा ही होती है.

महाप्रभुरचित 'सेवाफल' ग्रन्थके सन्दर्भमें इस कृष्णसेवाके उत्तममध्यमादिम प्रभेद समझने हों तो वहां तीन फल अलौकिकसामर्थ्य सायुज्य सेवोपयोगिदेह वैकुण्ठादि लोकोंमें दिखला कर इनके साथ-साथ सेवामें बाधक भी तीन गिनाये गये हैं. भोग उद्वेग और प्रतिबन्ध. इन सेवाबाधकोंमें भोगकी बाधकता निजवित्तके भगवत्सेवामें विनियोग करनेके बावजूद अन्यान्य ममतास्पद विषयोंके भलीभांति समर्पण विनियोग न कर पानेके कारण दुर्घटित हो जाती है. अन्यथा सांसारिक विषयोंका भगवत्समर्पणोत्तर उपभोग तो 'अलौकिक भोग' कहलाता है. इसी तरह सेवामें उद्वेग प्रकट होना अहन्ता या ममता के अतिरेकवश दो कारणोंके कारण सम्भव होता है. इनमें निवेदन समर्पण और विनियोग के स्वरूपोंका भलीभांति ज्ञान न होनेपर जो उद्वेग हो सकते हैं, उनका निवारण तो अपनी अहन्ता-ममताको भगवान्‌की पुष्टिसे सँवार लेनेपर शक्य हो जाता है, निरुद्विग्न भगवत्सेवार्थ. निबन्धोक्त विक्षेपादि पञ्चविध दोष अहन्ता-ममताके सुसमायोजनके अभावमें सेवाबाधक बन जानेकी सीमा तक बढ़ जाती हैं, अन्यथा साधक होनेपर भी. और तब सेवा अपना पुष्टिरूप खो कर मर्यादामार्गीय क्लेशरूपा बन जाती है. वह भी सेव्य श्रीकृष्णको आत्मानन्दसमुद्रस्थतया निहारनेके बजाय धर्मार्थकाममोक्षपूरकतया निहारनेके कारण ही होता है.

(तन्त्रोक्त भक्तिलक्षण और उसके भेदोपभेद)

भागवतसुबोधिनीमें महाप्रभुका एक विधान मिलता है कि

‘‘वैष्णवतन्त्रवचनात् ‘माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहो भक्तिः. सुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभिः’’ (भाग.सुबो. १।१।१). यह भक्तिलक्षण श्रीमन्मध्वाचार्यने ‘महाभारततात्पर्यनिर्णय’ उद्धृत किया है परन्तु आकरस्थल गवेषणीय है. इस लक्षणके अनुसार भक्तिके प्रभेद तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें यों दरसाये गये हैं :

> ‘‘[१]एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतो यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिः उत्तमः. [२]प्रेमाभावे मध्यमः स्याद् [३]ज्ञानाभावे तथा [४]उभयोरपि अभावेतु पापनाशः ततो भवेत्. एवं सर्वं निश्चित्य सर्वं भगवतएव सएव सर्वम् इति वैदिकगौणमुख्यज्ञानयुक्तः प्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः. शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः. प्रेमाभावे मध्यमः इति वा ज्ञानाभावे तथा मध्यमः इति अर्थः; आदिमो वा. उभयोरभावे पापनाशकत्वं धर्मत्वं नतु भक्तिमार्गः इति अर्थः’’.
>
> (त.दी.नि.प्र.१।१०१-१०२).

यहां भी भक्तिका उत्तमाधिकार ‘पुष्टिप्रवाहमर्यादा’ ग्रन्थकी एकवाक्यताके साथ निर्धारित करना हो तो उत्तम पुष्टिपुष्टिरूप ही लिया जाना उचित है ज्ञानसाहचर्यवशात्. स्वतन्त्रा शुद्धपुष्टि, जो भक्तिहंसप्रतिपाद्य है, उसे अभिप्रेत नहीं मानना चाहिये. मध्यमा भक्तिके बारेमें सप्रेम या समाहात्म्यज्ञान नवधा भक्तिका अनुष्ठान मिश्रपुष्टिकी कोटिमें आयेगा जो ‘सेवाफल’ग्रन्थोक्त फलोंका प्रापक न हो कर मर्यादामार्गीय फलप्रद होगा. परन्तु तृतीय उभयरहित नवधाभक्तिका अनुष्ठान, महाप्रभुके अनुसार भी भक्तिमार्गीय न हो कर कर्ममार्गीय सिद्ध हो रहा है.

(शाण्डिल्य-नारद-भक्तिसूत्रोक्त भक्तिलक्षण तथा भेदोपभेद)

शाण्डिल्यभक्तिसूत्रकार भी सर्वप्रथम भक्तिकी परिभाषा इस तरह

देते हैं :

> **“सा परानुरक्तिः ईश्वरे... ज्ञानम् इति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितत्वात्... द्वेषप्रतिपक्षभावाद् ‘रस’शब्दात् च रागः. न क्रिया कृत्यनपेक्षणाद् ज्ञानवद्... भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः पुराणेतिहासाभ्यां च.”**
>
> (शां.भ.सू.१-१९).

यहां भक्तिको रागात्मिका दरसाते हुवे उसे ज्ञानकर्मसे पृथक् स्वीकारा गया है. यद्यपि भक्तिके महात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहरूप होनेका उल्लेख कण्ठतः नहीं मिलता है फिरभी ‘ईश्वर’पदसे अभिधेयत्वेन निर्देशके कारण भक्तिके प्रमुख आलम्बनविभावका माहात्म्यज्ञानविषय होना ध्वनित होता है. ऐसे माहात्म्यज्ञानविषयीभूत ईश्वरमें भक्ति ‘परानुरक्ति’रूपा होती है, ऐसे निरूपणके कारण सुदृढ़सर्वतोऽधिकस्नेहको भी अभिप्रेत माना जा सकता है. जहां तक श्रुतिप्रमाणित माननेका प्रश्न है तो ‘श्रुति’पद अनिवार्यतया वेद-वेदान्तके वचनके अभिप्रायवश लेनेपर वेदके पूर्वकाण्डगत विधि मन्त्र नामधेय निषेध अर्थवाद रूपी वचनोंके अन्तर्गत तो ‘यजेद्’-‘जुहुयात्’सदृश क्रियापदघटित विधिवचनोंमें तो क्रियारूप होनेके अस्वीकारवश भक्ति प्रमेय बन नहीं पायेगी. और विहित कर्मानुष्ठानमें प्रयोगसमवेत अर्थोंके स्मारक मन्त्रवचनोंमें तो परमेश्वरके विभूतिरूप कर्मांगभूत देवता ही विवक्षित होते हैं. अन्यथा प्रयोगासमवेत अर्थोंके स्मारक होनेकी आपत्ति खड़ी होगी. अतः शब्दोंकी असंकुचित महावृत्तिसे अर्थात् महातात्पर्यवृत्तिसे परमेश्वरको अभिप्रेत माननेपर भी प्रयोगसमवेतार्थके रूपमें केवल अभिधावृत्तिसे तो वाच्य माना नहीं जा सकता. अतः भक्तिके श्रुतिप्रमेय होनेका अभिप्राय अभिधावृत्तिको छोड़े बिना तात्पर्यवृत्त्या ही लेना उचित होगा. ‘भक्ति’रूप नामधेयवचनसे, भगवद्विभूतिरूप देवताओंके बारेमें भक्तिसाहचर्यकी कथा तो हमने देख ही ली है. सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यहां **“भजनीयेन अद्वितीयम् इदं, कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात्”**

(शा.भ.सू.८७) इस सूत्रकी श्रौत पृष्ठभूमि **“सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते”** (तैत्ति.आर.३।१२।२) श्रुत्युक्त ही है. ऐसे वचनोंके फलितार्थका विचार करनेपर भक्ति भी उस सर्वनामा सर्वकर्मा सर्वरूप परमात्माका ही अन्यतम नाम-रूप-कर्म होनेके सूत्ररूपमें श्रुतिप्रमेय सिद्ध होती है. सो वह तो गौणी भक्ति कहलायेगी. अन्य निषेध और अर्थवाद-वचनोंके तो प्रमेयतया भक्तिको निहारना अप्रासंगिक होगा. हां, भगवदवतारचरित्रोंके इतिहास और पुराणों के वचनोंसे प्रमेयात्मना भक्तिका विवक्षित होना तो निर्विवाद सिद्ध है ही.

भक्तिके मुख्या-गौणी प्रभेद शाण्डिल्यभक्तिसूत्रकारने भी सूचित किये हैं **“देवभक्तिः इतरस्मिन् साहचर्यात्. गौण्या तु समाधिसिद्धिः. हेया रागत्वाद् इति चेन्न उत्तमास्पदत्वात् संगवद्. तदेव कर्मिज्ञानयोगिभ्यः आधिक्यशब्दात्. भक्त्या भजनोपसंहाराद् गौण्या परायै तद्हेतुत्वाद्. रागार्थं प्रकीर्तिसाहचर्याच्च इतरेषाम्. अन्तराले तु शेषाः स्युः उपास्त्यादौ च काण्डत्वाद्”** (शां.भ.सू.१७-२४, ५६-५८). भगवद्गीतामें जैसे कहा गया है कि अन्यान्य देवताओंकी भक्ति करनेवाले भी अन्ततः तो नदीसागरन्यायेन भगवान्की ही भक्ति करते हैं परन्तु वह परमेश्वरभजनकी निष्काम भक्ति करनेकी विधिसे नहीं. अतः उनकी ‘भक्ति’पदसे अभिधेय मुख्या भक्ति न हो कर वह ‘गौणी भक्ति’ कहलाती है. मुख्या उत्तमा भक्ति तो परमेश्वरमें अनुरागरूपा होती है जो कर्म ज्ञान योग आदिसे अधिक श्रेष्ठ होती है. गौणी भक्तिको परा भक्तिके अंगतया उपादेय माना जा सकता है. अस्तु.

नारदभक्तिसूत्र तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्योपदिष्ट भक्तिके सिद्धान्तोंका देवर्षि नारदके नाम्ना विरचित ग्रन्थ है या नारदभक्तिसूत्रोंके अनुसन्धानमें महाप्रभुने षोडशग्रन्थ आदि कृतिओंमें पुष्टिभक्तिका स्वरूप प्रतिपादित किया यह निश्चय नहीं हो पाता! इस ग्रन्थमें परमप्रेमरूपा भक्तिके

विविध लक्षणोंके उल्लेखपूर्वक स्वाभिमत लक्षण यों दिया गया है “**‘पूजादिषु अनुरागः पाराशर्यः, कथादिषु इति गर्गः, आत्मरत्यविरोधेन इति शाण्डिल्यः. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति यथा व्रजगोपिकानाम्**’’ (ना.भ.सू.१६-२१) तुलनीय हो जाता है “**‘सेवा हि सेवकधर्मः... साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपा इति अर्थः. यथा व्रजसीमन्तनीनाम्**’’, “**‘कृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते... दारागारादि... आत्मना सह समर्पयामि**’’, “**‘निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः... तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्**’’, “**‘यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानान्तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्याद् मम क्वचित्**’’ (सिद्धा.मु.प्र.१. गद्यमन्त्र, सिद्धा.रह.५-६, निरो.लक्ष.१).

एतदर्थ तुलनात्मक दृष्टिसे अवलोकनार्थ कतिपय सूत्रोंका संकलन उदाहरणीय है :

> “[1]**निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः, तस्मिन् अनन्यता तद्विरोधिषु उदासीनता, [2]अन्याश्रयाणां त्यागो अनन्यता, [3]सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽपि अधिकतरा, फलरूपत्वात्, [4]अव्यावृत्तभजनात्. [5]मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा, [6]लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्, गौणि त्रिधा गुणभेदाद् आर्तादिभेदाद् वा, [7]सर्वदा सर्वभावेन [8]निश्चिन्तितैः भगवानेव भजनीयः [9]स कीर्त्यमानः शीघ्रमेव आविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्. [10]गुणमाहात्म्यासक्ति-स्मरणासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-वात्सल्यासक्तिः-आत्मनिवेदनासक्ति-[11]तन्मयतासक्ति-परमविरहासक्तिरूपा एकधापि एकादशधा भवति.**”
>
> (नार.भ.सू.८-१०, २५-२६, ३८, ५६, ७९, ८२).

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध षोडषग्रन्थ सुबोधिनी ग्रन्थोंमें पुष्टिभक्तिका विवेचन करते हुवे महाप्रभु भी —

[१] **“देहिकान् सकलान् भावान् निजां क्रीडां दैहिकीं परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात् तदेव हि वैदिकं लौकिकं चापि”**

[२]**“अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततो अन्यत्र वर्जयेत्”.**

[३]**“यतो भक्तिव्यतिरेकेण ज्ञानं कर्म वा न फलसाधकम् अतः आवश्यकत्वात् च मुख्यत्वाद् भक्तिरेव उपदेष्टव्या”.**

[४]**“बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहेस्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः”.**

[५]**“महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति तावद् आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः फलाय हि”.**

[६]**“क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा”,“लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्”.**

[७]**“सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्य अयमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन”.**

[८]**“चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति”.**

[९]**“महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा... गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते... क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः... हृद्गतःस्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्”.**

[१०]**नवधाभक्तिः + संयोग-विप्रयोगानुभूती.**

[११]**“अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा द्वयमेव नतु तासाम् अन्या लौकिकी अवस्था”.**

(त.दी.नि.३।१०।७१-७२, वि.धै.आ.१४. भाग.सुबो.१।५।१३. भ.व.२. निरो.लक्ष.४. सिद्धा.मुक्ता.१७, नवर.६. चतुश्लो.१. नवर.१ निरो.लक्ष.५-८.

भाग.सुबो. १०।४४।५८).

सर्वभावेन की जाती भगवत्सेवामें वात्सल्यभाव सख्यभाव दास्यभाव माधुर्यभाव योजित होते हैं. कतिपय सेवा दास्यभावसे तो अन्य वात्सल्यभावसे. गुणासक्ति पूजासक्ति और आत्मनिवेदनासक्ति का भी विनियोग मंगलासे शयनपर्यन्त की जाती सेवामें सर्वथा योजित होता ही है. इस तरह देखा जा सकता है कि नारदभक्तिसूत्र और महाप्रभु के बीच कितनी घनिष्ठ परस्परानुरूपता है!

इन शाण्डिल्यभक्तिसूत्र और नारदभक्तिसूत्र के अलावा अन्य भी स्वामिहरिहरानन्दारण्यकृत परमभक्तिसूत्राणि और अज्ञातकर्तृक भक्तिमीमांसासूत्र भी आचार्य बलदेव उपाध्यायने प्रकाशित करवाये हैं, साथ ही साथ पद्मपुराण(४।८५।४-२४, ५।१५।१६४-१९आन.आश्र.) और स्कन्दपुराण (प्रभास.१०७।२-१६) से भी भक्तिलक्षण और भक्तिके भेदोपभेद संकलित-प्रकाशित करवाये हैं. उनके साथ तुलनात्मक विमर्श यहां अनभिप्रेत होनेसे आलेखविस्तार शक्य नहीं है. फिरभी संक्षेपमें अन्यान्य वेदान्तसम्प्रदायाभिमत विविध भक्तिलक्षणोंको उद्धृत कर प्रस्तुत आलेखका उपसंहार करेंगे :

> [१]**"भगवद्भजनपरेषु अर्थार्थ्यार्तजिज्ञासुज्ञानिषु अन्तिमस्य ज्ञानलक्षणरूपत्वम्", "अपिच एनम् आत्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चम् अव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिन:. संराधनञ्च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम्... ननु संराध्य-संराधकभावाभ्युपगमात् परेतरात्मनो: अन्यत्वं स्याद्... कर्मसु उपाधिभूतेषु सविशेषाइव अवभासन्ते नच स्वाभाविकीम् अविशेषात्मतां जहति. एवम् उपाधिनिमित्तएव अयम् आत्मभेद: स्वतस्तु ऐकात्म्यमेव".**
>
> [२]**"कस्मात् पुन: तद् न गृह्यते? यत: तद् अव्यक्तं**

दुर्विज्ञेयम् अतिसूक्ष्मम्... अव्यक्तं चेद् अनवगतमेव स्याद् न इति उच्यते... संराधनकाले पश्यन्ति. ‘संराधनं’=भक्तिः ध्यानादिना परिचर्या”, “आदित्यं रुद्रम् अन्यां वा देवतां ये युञ्जते तेषां योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेन अन्तरात्मना मां गतेन मदासक्तचेतसा श्रद्धावान्=आस्तिक्यबुद्धिः भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः”.

[३]“अत्यर्थप्रियानुध्यानरूपसम्यक्प्रीणने सति ब्रह्मस्वरूपं गृह्यते” (भक्तिः)”,“श्रीमति पुण्डरीकनयने स्वस्वामिनि अत्यर्थप्रियानुभवरूपा परा भक्तिः”

[४]“फलं किञ्चिदपि अनभिलष्यन् ‘किम् एतद् अलीकम् अनुतिष्ठसि ?’ इति पर्यनुयुज्यमानोऽपि निरन्तरभगवद्भक्तिवेधविद्रुतान्तःकरणतया वेपमानतनुः विस्फारितनयनयुगलपरिवर्तमानसलिलसम्पातः तूष्णीम्भावेनैव उत्तरं प्रयच्छति. सएव अव्यभिचारिण्या भगवतो महेश्वरस्य अग्रशक्त्या भक्त्या पवीत्रीकृतो न अन्यः”.

[५]“भक्त्यर्थानि अखिलान्येव भक्तिः मोक्षाय केवला, मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी. ज्ञानपूर्वः परः स्नेहो नित्यो भक्तिः इति ईर्यते”,“प्रीतिश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव विशेषतो दृष्टा, न अभेदज्ञानात्. अभेदज्ञानाद् अप्रीतिरेव उत्तमानां भवति. घातयन्ति हि राजानो ‘राजाहम्’ इति वदन्तं ददति च सर्वम् अभिप्रेतं गुणोत्कर्षं वदतः. न तादृशी प्रीतिः ईड्यस्य विष्णोः गुणोत्कर्षज्ञातरि यादृशी स्यात्. तत्प्रीणनाद् मोक्षम् आप्नोति”.

[६]“सर्वेशे भगवति तद्धर्माद् द्रुतस्य मनसो धारावाहिकवृत्तिः भक्तिः”.

[७]“अन्याभिलाषशून्यत्वे सति ज्ञानकर्माद्यनावृतत्वे सति आनुकूल्येन श्रीकृष्णानुशीलनं भक्तिः”.

[८]“आराध्यत्वप्रकारकं ज्ञानं भक्तिः”.

(१.गी.शां.भा.१८।५४, ब्र.सू.शां.भा.३।२।२४-२५, २.ब्र.सू.भास्क.-भा.३।२।२३-२४, गीताभा.६।४८. ३.ब्र.सू.रा.वेदा.सा.गी.रा.भा.१८।५४. ४.गी.अर्थसं.१४।२६. ५.महाभा.ता.निर्ण.१।१०६-१०७, विष्णु.त.विनि. ६.भक्तिरसा.१।३. ७.भक्ति.रस.सि.१।१।११. ८.किर.प्र.मंग.).

भक्तिमार्गमें जैसे भगवान्‌के वपुका भक्तिभावात्मक होना निरतिशय महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है. वैसे ही भक्तिका भगवदात्मिका होना भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण कथा है. इन सभी आचार्योंको अभिमत भक्तिके विलक्षण लक्षणोंपर लक्ष्यपात करनेपर परमात्माकी ऐकान्तिकी आत्मरतिके बहुभवनकी अद्भुत लीला ही ये लगती हैं! :

भक्तभावविभाविताकृतिरूपतासु विभिन्नता
स्वांशजीवकृते हि मार्गे वरणभेदकृता मता।
वरणहेतुकभक्तिलक्षणचिन्तनेषु विलक्षणा
चैत्यवपुषि च लीलया ते स्वात्मरत्याविष्कृता॥

उपसंहारमें श्रीमद्‌विठ्ठलनाथ प्रभुचरणविरचित प्रस्तुत भक्तिहंसके उपक्रमोपसंहारके श्लोकोंमें तथा मध्यमें भी अभ्यासपूर्वक ग्रन्थकर्ताके प्रतिपाद्यविषयका सूचन तथा निष्कर्ष प्रकट करते जो—

“मन्त्रोपासन-वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिः यः अस्पृष्टो रमते”,

“उपास्तिं मन्यन्ते मधुमथनभक्तिं निजकृतार्थतां तत्र उपास्यं परमपुरुषं चापि सुविदः द्वयोः सारूप्यात् तद्भ्रमहतिकृते”,

“मन्त्रोपासनायाअपि भगवद्धर्मत्वं स्यात्... नहि कर्मांगत्वेन क्रियमाणस्य भगवत्स्मरणस्य भक्तिरूपत्वं वक्तुं शक्यं कर्ममार्गीयत्वात्. अपरञ्च वरांगनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयते नहि पुरुषोत्तमभक्तेः तत् फलीभवितुम् अर्हति”.

ये विधान किये हैं वे अपने अग्रज श्रीमद्गोपीनाथ प्रभुचरणके **''यस्य अयम् अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावित: स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्. अनुग्रहे नियोज्यो अत:... अत: तदनुरोधेन रतिरासो यथा भवेत् तदर्थं वरणं कार्यं श्रीगोपालमहामनो:... स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भवाम्बुधौ तत: सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत्''** (साध.दीपि.५४-५८) के विधानको लक्ष्यमें रख कर प्रकट किये हैं. अर्थात् ऐसी धारणाको अमान्य घोषित करनेको ही किये हुवे ये विधान हैं. ऐसी अविमृष्ट धारणा कयी लोगोंकी कर्णोपकर्ण सुनी जाती है. क्योंकि भक्तिहंसग्रन्थमें ग्रन्थकार पुरुषोत्तमको वैदिक-तान्त्रिक मन्त्रोपासनाओंमें मन्त्रप्रतिपाद्यतया या मन्त्राधिष्ठातृतया मन्त्राधीन होना पुरुषोत्तमके बारेमें अस्वीकार करते हैं. इसी तरह वैदिक-तान्त्रिक विधिओंसे विहित कर्मानुष्ठानसे भी कर्मजन्यतया कर्मोद्देश्यतया अथवा कर्मप्राप्य फलतया कर्मानुष्ठानके आधीन माना नहीं जा सकता. अन्यथा श्रुति-गीतादिके **''नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया... यमेव एष वृणुते तेन लभ्य:''.''नाहं वेदै: न तपसा न दानेन नच इज्यया शक्य एवंविधो द्रष्टुम्''** (कठोप.१।२।२३, भग.गीता ११।५३) ऐसे वचनोंमें प्रतिपादित निरंकुश भागवत्स्वातन्त्र्यका अपलाप हो जायेगा. इस विषयमें प्रमुख अनुपपत्ति यही है कि मन्त्रोपासना और विहित कर्मानुष्ठान का सकाम होनेके कारण कामपूर्तिपर्यवसायी होते हैं नकि पुरुषोत्तमपर्यवसायी, यह मानी गयी है.

इस उपर्युक्त युक्तिवादको अपने अग्रजके साथ मतभेद जतानेके लिये प्रकट किया मान कर चलें तो क्या 'पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्र'रूप भागवतसहस्रनामके कर्ता स्वयंके जनकपिता महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके साथ भी तदात्मज प्रभुचरणका मतभेद मान लेना? क्योंकि सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है **''श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति. तथाहि भागवतसहस्रनामादिश्रवणकीर्तनयो: फलत्वेन हि चत्वारो(** विनियोगो समस्तेषु पुरुषार्थेषु वै मत: पु.स.ना.६**)ऽपि**

अर्थाः उच्यन्ते'' (भक्तिहंस). यदि पुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्रके उपसंहारमें **''किं बहूक्तेन भगवान् नामभिः स्तुतषड्गुणः आत्मभावं नयति आशु भक्तिं च कुरुते दृढां यः कृष्णभक्तिमिह वाञ्छति साधनौघैः नामानि भासुरयशांसि जपेत् स नित्यः''** (पु.स.ना.२५३-२५५) फलश्रुतिके कारण पुरुषोत्तमसहस्रनाम विभूतिपरक न हो कर पुरुषोत्तमपरक ही ठहरता हो तो साधनदीपिकाकार अग्रजके भी **''स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्. अनुग्रहे नियोज्यो अतः... अतः तदनुरोधेन रतिरासो यथा भवेत् तदर्थं वरणं कार्यं श्रीगोपालमहामनोः... स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भवाम्बुधौ ततः सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत्''** ये वचन सर्वविध सन्देहोंसे परे मानने चाहिये. अन्यथा **''गिरित्रमोक्षं कथयेत् शृणोति वा विमुच्यते संसृतिभिः तथा अरिभिः''** (भाग.पुरा.१०।८८।४७) वचनमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके चरित्रका भी अरिदमनार्थ विनियोग उपदिष्ट होनेसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको भी विभूतिरूप मानना पड़ेगा. समग्र श्रीमद्भागवतपुराणके पाठकी फलश्रुति भी **''विप्रो अधीत्य आप्नुयात् प्रज्ञां राजन्य उदधिमेखलां वैश्यो निधिपतित्वं शूद्रः शुद्ध्येत पातकात्''** (भाग.पुरा.१२।१२।६४) इस वचनमें भक्तीतर प्रयोजनके पूर्त्यर्थ पठनीय कही गयी होनेसे गोपालमन्त्रकी तरह श्रीमद्भागवत महापुराण भी दशविधलीलायुत परमानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका प्रतिपादक माननेके बजाय विभूतिलीलाके गानरूप मानना पड़ेगा.

अतः वैदिक-तान्त्रिक सभी मन्त्रोंका मन्त्रदीक्षोद्दिष्ट या मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थका पुरुषोत्तम होना या न होना अर्थात् विभूति होना केवल मन्त्रनिर्भर न हो कर मन्त्रानुष्ठानी अधिकारीपर ही बाहुल्येन निर्भर होता है. इसी तरह वैदिक-तान्त्रिक विधिविहित कर्मोंके अनुष्ठानका उद्देश्य या फल भी केवल कर्मपर निर्भर न हो कर अधिकारीपर बाहुल्येन निर्भर होता है. अतएव **''उत्पन्नः तल्लक्षणार्थोपलब्धेः लोकवत्''** (ब्र.सू.३।३।३०) सूत्रके भाष्यमें स्वयं प्रभुचरणने ही इसी गोपालमन्त्रको विभूतिप्रतिपादक माननेके बजाय परब्रह्म पुरुषोत्तमका प्रतिपादक माना है.

ब्रह्मसूत्रभाष्य विद्वन्मण्डन तथा सिद्धान्तमुक्तावलीके प्रकाशमें भी ऋग्वेदके कई मन्त्रोंके पुरुषोत्तम तथा उनकी पुष्टिलीला के परक व्याख्या की गयी होनेके कारण भी वैदिक मन्त्रसे अस्पृष्ट रमण ऐकान्तिकतया नहीं हो सकता. कथञ्चिद् अस्पृष्ट तो कथञ्चित् प्रतिपाद्यतया जपहोमादि कर्मसमवेतार्थतया स्पृष्ट भी हो ही सकता है, चाहे मन्त्रविध्यधीनतया कर्मसमवेतमन्त्रार्थतया कर्मनियतिवश प्राप्य हो या न भी हो. यह स्वयं प्रभुचरणकृत वैदिक मन्त्र और विधि की बीजभूत गायत्रीमन्त्रकी व्याख्यासे स्पष्टतया सिद्ध होता है “**श्रीकृष्णः स्वात्मनः सर्वम् उत्पाद्य विविधं जगत्, तदासक्तांशबोधाय शब्दब्रह्म अभवत् स्वयम्. तत्र सर्गादिभिः क्रीडन् नित्यानन्दरसात्मकः निजभावप्रकाशाय गायत्रीरूप उद्बभौ, सा षड्गुणयुतं सर्ववेदबीजं गुणातिगं, सर्वावतारूपं हि सर्वतत्त्वोपबृंहितम्**” (गायत्रीव्या.१-३). थोड़ेसे बौद्धिक धैर्य धरके विचारणीय है कि यह वैदिक मन्त्र प्रभुचरणके हिसाबसे विभूतिपरक कैसे हो सकता है? वैदिक-तान्त्रिक मन्त्र तथा विधि से पुरुषोत्तमके सर्वथा अस्पृष्ट रमणकी उक्तिका अभिप्राय, अतः, अधिकारिभेदावलम्बित ही लेना सिद्धान्तदृष्ट्या उपपन्न कथा है. अन्यथा भक्तिहेतुनिर्णय और भक्तिहंस दोनों ही ग्रन्थ “**मूरख हेतु कुशब्द वितण्ड्यो**” (वल्लभाख्या.५।२) न्यायेन विसम्प्रदायी जनोंद्वारा दिये जाते मुरारीदासोंके त्रासनिवारणार्थ ही केवल लिखा गया मानना पड़ेगा. अस्तु.

एतावता पिता और दोनों पुत्रोंके मतोंमें परस्पर विमतिकी कथा कथमपि उपपन्न हो नहीं सकती.

तृणानि विषयाः बाह्यास्तद्गावस्त्विन्द्रियाण्यपि॥
नन्दनन्दन गोपाल! हृन्मे वृन्दावनं कुरु॥१॥
अज्ञे ज्ञानाय शास्त्रज्ञे दम्भदर्पनिवृत्तये॥
ब्रह्मज्ञे मुक्तयेऽन्यत्र भक्त्यर्थं भक्तिरीरिता॥२॥
भक्तिर्भक्तिव विज्ञेया भक्त्यर्थं न कृता यदा॥

सृष्टिर्विभावलीलेयं भक्तेस्तदनुभावता ॥३॥
स्रष्टुश्चान्तर्बहिष्ठत्वात् प्रियरूपबहिष्ठता ॥
जीवान्तस्स्थस्नेहरूप-स्रष्टुर्भक्तिस्वरूपता ॥४॥
नाधिकारो ज्ञानमार्गे ब्रह्माऽस्मीति न रोचते ॥
पित्राप्ताः निधयो गेहे तेनाहं भगवान् सदा ॥५॥
श्रीमद्विट्ठलनाथो मादृशान् भक्तिज्ञानरहितान् वै ॥
भक्तिज्ञानं दत्त्वा वृन्दावर्त्म निर्दिशति यः ॥६॥

पौषशुक्ला प्रतिपदा
वि.सं.२०७८

गोस्वामी श्याम मनोहर
पार्ले-मुंबई

* * *

विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थक्रम पृष्ठक्रम

१.भक्तिहेतुनिर्णयः १-२०
  मंगलाचरणम् १-७
  पूर्वोत्तरपक्षौ ७-१९
  उपसंहारश्लोकाः १९-२०
२.भक्तिहंसः २१-९१
  मंगलाचरणम् २१-२४
  पूर्वोत्तरपक्षौ २५-८८
  उपसंहारश्लोकाः ८९-९१
३.षड्विंशतिपत्राणि ९२-१२४
४.परिशिष्टम् १२५-१८९
  क.प्रभुचरणकृतरामनवमीउत्सवनिर्णय-
    -गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृत-
    -भट्टश्रीबलभद्रशर्मकृतव्याख्योपेतः १२५-१५८
  ख.सुश्री मैत्री गोस्वामी संकलित
    प्रवचन सारांश १५९-१८९
५.अमृतवचनावली २०४-२३६
६.उद्धृतवचनानुक्रमणिका २३७-२४६

* * *

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितः ।।

।। भक्तिहेतुनिर्णयः ।।

ब्रह्मादिदुर्लभकथं राधामानापनोदकं कृष्णम् ।।
तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिञ्च नुमस्तदीयाँश्च ।। १ ।।

ननु इदम् अनेकप्रमाणविसंवादीव भाति, यद् अनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं भक्तौ. तथाहि एकादशस्कन्धे एकोनविंशे ''श्रद्धा अमृतकथायां मे''(भाग.पुरा.११।१९।२३) इत्युपक्रम्य ''इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः, एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धव! आत्मनिवेदिनाम्. मयि संजायते

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीरघुनाथचरणविरचिता ।।

।। भक्तिहेतुविवृतिः ।।

नमो भक्तिरसास्वाददात्रे वल्लभसूनवे ।
कलिकल्मषघातिन्यै तद्वाण्यै च नमः सदा ।।

भक्तेः असाधारणकारणं निश्चिकीर्षवो नुतिरूपं मंगलम् आचरन्ति ब्रह्मादि...इति. उत्तमाधिकारिणामपि ब्रह्मादीनां श्रोतुं दुर्लभा कथा यस्य. राधायाः मानं चित्तसमुन्नतिम् अपनुदति इति तथा. तं **कृष्णं नुमः** स्तुमः इति अर्थः. किञ्च तस्यैव कृष्णस्यैव अनुग्रहेणैव एकेन लभ्यां प्राप्याम्. इदमेव अग्रे विवादकारणसंशयबीजवाक्यं ज्ञेयम्. **भक्तिञ्च नुमः**तदीयांश्च तस्यैव अनन्यभक्तान् इति अर्थः.

अनुग्रहेतरयागादिसाधनानामेव भक्तिहेतुत्वमिति वादी शंकते- ननु इति. **अनुग्रहैकलभ्यां भक्तिम्** इति यद् वचनम् उक्तं तत् **''श्रद्धा अमृतकथायां मे''** (भाग.पुरा.११।१९।२३) इत्यादिवक्ष्यमाणैः **अनेकैः** बहुभिः **प्रमाणैः** शब्दरूपैः सह **विसंवादीव** विरुद्धार्थकमिव **भाति** इति. **'इव'** शब्देन तत्त्वापरिचयः सूचितः.

भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते'' (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यत्र भगवद्धर्माणां यागदानादेश्च भक्तिहेतुत्वं श्रूयते. तत्रैव पूजाप्रकारम् उक्त्वा ''भक्तियोगं सः लभते एवं यः पूजयेत माम्'' (भाग.पुरा.११।२७।५३) इति भगवता उक्तम्. दशमस्कन्धे सप्तचत्वारिंशे च ''दान-व्रत-तपो-होम-जप-स्वाध्यायसंयमैः, श्रेयोभिः विविधैश्च अन्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते'' (भाग.पुरा.१०।४७।२४) इति उद्धववाक्ये दानादेः तथात्वम् उच्यते. ''जन्मान्तरसहस्रेषु तपो-ध्यान-समाधिभिः, नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते''(द्र.सुबो.१०।८।१९) इत्यत्र पापाभावस्यापि तथात्वम् उच्यते. एकादशएव ''यथा अनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिः नृणां भवेत्, स्वधर्मेण अरविन्दाक्ष! तद् मम आख्यातुम् अर्हसि'' (भाग.पुरा.११।१७।२) इति प्रश्ने, वर्णाश्रमधर्मान् निरूप्य, ''इति मां यः स्वधर्मेण भजेद् नित्यम् अनन्यभाक्, सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं लभते अचिराद्'' (भाग.पुरा.११।१८।४४) इति उपसंहारात् पूर्वोक्तधर्माणां भक्तिहेतुत्वं निश्चीयते.

नच भक्त्युत्पत्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन धर्मेषु तद्धेतुत्वम् उपचर्यते इति वाच्यं, जीवत्वेनैव तत्र स्वरूपयोग्यत्वात् सर्वेषाम्, ''देवो असुरो मनुष्यो वा'' (भाग.पुरा.७।७।५०) इति वाक्याद्, आगन्तुकधर्माणां क्वचिदपि तत्सम्पादकत्वादर्शनाच्च. धर्मवतामपि

ननु घटादिकार्ये यथा दण्डत्वमेव कारणतावच्छेदकं, न दृढत्वम्, तस्य स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वाद्, एवम् अत्रापि भक्त्युत्पत्तिं प्रति अनुग्रहस्यैव कारणत्वं, नतु धर्मादीनामपि. तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन अन्यथासिद्धत्वाद् औपचारिकं कारणत्वमिति चेत् तत्र आह **नच** इति. **जीवत्वेनैव** इति. जीवत्वमेव स्वरूपयोग्यतावच्छेदकं, नतु धर्मादिमत्त्वमपि इति भावः. **''देवो असुरो मनुष्यो वा''** (भाग.पुरा.७।७।५०) इति सामान्येन निर्देशाद् इति अर्थः. **आगन्तुक...** इति. साहजिकाच्छिद्रत्वादिकं घटादिषु जलाहरणादियोग्यतासम्पादकं, नतु अन्तरोत्पन्ननीलपीतादि यथा, तथा अत्रापि जीवत्वस्यैव तथात्वं न धर्मवत्त्वस्यापि इति भावः.

भक्त्यभावेन व्यभिचाराद् अकारणत्वं चेद् ब्रवीति भवान्; तदा, धर्मसहकारित्वम् अनुग्रहस्य अंगीकरोतु. नहि सहकारिविरहेण कार्याभावो अकारणतासम्पादको, दण्डादेरपि घटादौ तथात्वप्रसंगात्.

‘‘भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति विष्णुः न अन्येन केनचित्’’, (महाभा.तात्प.नि.भाग.१।११७) ‘‘भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय’’ (भाग.पुरा.७।९।९) ‘‘प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्’’ (भाग.पुरा.७।७।५२) इत्यादिवाक्यैः वैपरीत्यश्रवणाच्च भक्तौ धर्मसम्पत्तिः हेतुः, भक्तिः अनुग्रहे, इति युक्तम् उत्पश्यामः. नच धर्मरहितानामपि भक्तिदर्शनाद्, न एवम् इति वाच्यं, कार्येण जन्मान्तरीयतदनुमानसम्भवात्. नच अन्योन्याश्रयः, वाचनिकं हि एतत्, पूर्वोक्तवाक्यैः असन्दिग्धधर्मकारणतानिश्चयात्. नच अनुग्रहहेतुत्वेन

ननु धर्मवत्त्वादिहेतोः भक्तिमत्त्वसाध्याभाववद्गामित्वेन व्यभिचाराद् असाधको अयं हेतुरिति यत् तव मतं तन्न सम्यक्, यतो अस्माभिः अनुग्रहस्य धर्मादिसहकारित्वम् उच्यते, घटादिकार्ये दण्डादेरिव. अतः सहकार्यभावनिबन्धनकार्याभावो न कारणताहानिदः. तथा सति दण्डादेरपि अकारणत्वं स्यात्. पूर्वम् अनुग्रहसहकृतो धर्मो हेतुरिति वादी साम्प्रतम् अनुग्रहस्य तोषरूपत्वम् अंगीकृत्य तत्र भक्तिः हेतुरिति वैपरीत्यम् अंगीकृत्य तस्यां भक्तौ धर्मो हेतुरिति अभिप्रेत्य आह **भक्त्यैव** इत्यारभ्य **उत्पश्यामः** इत्यन्तेन. धर्मस्य अनैकान्तिकत्वम् आशंक्य समाधत्ते **नच** इति. **कार्येण** इति, भक्तिरूपकार्येण इति अर्थः. **तदनुमानं** भक्तिहेतुधर्मानुमानम्. व्याप्तेः अव्यभिचारघटितत्वाद् हेतोः अव्यभिचरितत्वग्रहे जन्मान्तरीयधर्मसिद्धिः, जन्मान्तरीयसिद्ध्यधीनश्च अव्यभिचारग्रहेति अन्योन्याश्रयलक्षणो दोषो ज्ञेयः. **वाचनिकम्** इति. अन्योन्याश्रयदोषः तदा उच्येत यदि अनुमानैकसमधिगम्यं भक्तिहेतुत्वं धर्मस्य स्यात्. नतु एवम् अस्ति, किन्तु एतज्जन्मान्तरीयधर्मरूपकारणज्ञानं **वाचनिकं** शाब्दम् इति अर्थः. सच शब्दो ‘‘**जन्मान्तरसहस्रेषु**’’ इत्यादिकः. ननु धर्मस्य स्वाव्यवहितकार्यानुग्रहएव हेतुत्वं युक्तं, नतु व्यवहितेऽपि इत्यतः आह **नच** इति. यद्वा, अनुग्रहस्य हेतुत्वे सिद्धे **तद्धेतुत्वं** = भक्तिहेतुत्वं

तद्धेतुत्वं तेषु उच्यते इति वाच्यम्, एवं बोधकप्रमाणाभावात्, साक्षात् तत्कारणत्वबोधकस्य उक्तत्वात्.

किञ्च, 'अनुग्रहो' नाम धर्मान्तरं फलदित्सैव वा? न आद्यः, मानाभावाद् गौरवात् च. न इतरः, तस्याः नित्यत्वेन तत्सहकार्यनंगीकाराच्च, सर्गादावेव भक्तिसम्भवेन अधुनैव भक्तिमत्त्वानुपपत्तेः, तस्याः मुक्तिचरमकारणत्वेन तेषां द्वितीयजन्मासम्भवेन आधुनिकभक्तदर्शनानुपपत्तेश्च. आद्यपक्षेऽपि इदं दूषणं ज्ञेयम्. भगवद्धर्माणां नित्यत्वांगीकारात्. तस्य जन्यत्वोक्तौतु परमतप्रवेशः. धर्माणामेव तज्जनकत्वसम्भवाद्

तेषु धर्मेषु न उच्यते इति नच वाच्यम् इति योजना....**प्रमाणाभावाद्** इति. अनुग्रहस्य साक्षाद्धर्मजन्यत्वम्, अनुग्रहद्वारा धर्माणां भक्तिहेतुत्वम् इत्यस्मिन् अर्थे प्रमाजनकं किमपि न अस्ति इति अर्थः. प्रत्युत साक्षात्कारणत्वे प्रमाणसद्भवात्. तानि च प्रमाणानि मूलएव उदाहृतानि "**श्रद्धा अमृतकथायां मे**" (भाग.पुरा.११।११।२३) इत्यादीनि.

"धर्मजन्यो अनुग्रहः" इति वादिनाम्, अनुग्रहस्य किं संस्कारादिवद् जन्यधर्मरूपत्वम् इच्छारूपत्वं वा? इति विकल्प्य एकैकशो दूषयति **किञ्च** इत्यादिना. **न आद्यः** इति. प्रयाजादिजन्यापूर्ववद् अनुग्रहोऽपि जन्यधर्मएव अस्मिन् अर्थे प्रमाणानुपलब्धेः. अनुपपत्त्यभावेऽपि अक्लृप्तपदार्थकल्पने गौरवदोषप्राप्तिः अतो न प्रथमः पक्षः. **न इतरः** इति. **इतरः** = फलदित्सापक्षः. **तस्याः** इति. भगवदिच्छायाः नित्यत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धम्. तादृश्याश्च अनित्यधर्मकारणसहकारित्वं विरुद्धम्. नहि नित्यस्य अनित्यकारणसहकारित्वं क्वचिद् घटपटादिषु दृष्टचरम्. दूषणान्तरम् आह **सर्गादौ** इति. यो जीवो अग्रे भक्तो भावी सोऽपि सृष्ट्यारम्भएव मुक्तिचरमकारणं भक्तिं प्राप्य मुक्तएव स्याद् नतु इदानीम् उपलभ्येतापि, तत्कारणेच्छायाः सर्वदा सत्त्वाद् इति अर्थः. **आद्य...** इति. 'अनुग्रहो' भगवद्धर्मविशेषः कश्चन इति अस्मिन्नपि पक्षे भगवद्धर्माणां नित्यत्वेन सर्गादावेव मुक्तिसम्भवेन आधुनिकभक्तदर्शनानुपपत्तिः इति भावः. **तस्य** इति, भगवद्धर्मानुग्रहस्य

इच्छायाः तथात्वे पूर्वोक्तदूषणापत्तिः, नित्यत्वात् तस्याः. तस्याश्च ज्ञानजन्यत्वनियमेन नित्यसर्वविषयकज्ञानवद् इच्छायाश्च जन्यत्वम् अनुपपन्नम्. किञ्च, अनुग्रहस्य अनियतत्वे निःशंका तदर्थिप्रवृत्तिः न स्यात्, स्वविषयकानुग्रहास्तित्वस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वाद्; ज्ञाने च प्रवृत्त्युच्छेदः. तथाच ‘‘अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे, भक्तिः उत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा’’ (भाग.पुरा.१।७।७) इत्यादिना तदर्थं व्यासस्य श्रीमद्भागवते प्रवृत्तिः इति उक्तिः च विरुद्धा स्यात्. किञ्च,

---

जन्यत्वकथने परेषां भगवद्दृष्टिबहिर्मुखानां **मते** सिद्धान्ते प्रवेशः स्वीकारो भवेद् इति शेषः. किञ्च, जनकत्वमपि अनुग्रहं प्रति धर्माणामेव वाच्यं, नतु इच्छायाः, तस्याश्च नित्यत्वादेव **पूर्वोक्तदूषणस्य** सर्गादावेव मुक्त्यापत्तिरूपस्य प्रसंगः स्याद् इति अर्थः. अत्र हेतुः **नित्यत्वात् तस्याः** इति. ननु भवतु अनित्यत्वम् इच्छायाः तथा सति न उक्तदूषणापत्तिः इति चेत्, तत्र आह **तस्याः च** इति. इच्छायाः जन्यत्वोक्तौ जनकत्वन्तु तत्समानाधिकरणसमानविषयज्ञानस्यैव वाच्यं, तच्च अनुपपन्नम्. भगवन्निष्ठयोः तयोः नित्यत्वं सर्वविषयकत्वं च धर्मिग्राहकमानसिद्धम् इति अर्थः. जन्यत्वे बाधकान्तरम् आह **किञ्च** इत्यारभ्य **तथात्वञ्च अग्रे** इत्यन्तेन. **अनुग्रहस्य** इति. अनुग्रहस्य जन्यधर्मान्तरत्वम् आश्रित्य इदं वचनम्. **अनियतत्वे** किञ्चिद् धर्मस्य व्याप्यत्वज्ञानाभावे तद्व्यापकानुग्रहस्य अनुमातुम् अशक्यत्वाद् **निःशंका** तदधीनभक्त्यर्थिप्रवृत्तिः भक्तौ न स्यात्. धूमादर्शने पर्वतीयवह्न्यर्थिप्रवृत्तिवद् इति अर्थः. तदेव स्पष्टीकर्तुम् आह **स्वविषयक...** इति. ननु भक्तौ पक्षपातश्रद्धातिशयत्वादिना तत्कारणानुग्रहास्तित्वं ज्ञायतां ततो न क्वापि प्रवृत्तौ अनुपपत्तिः इति चेत् तत्र आह **ज्ञाने च** इति. भक्तिसाधने इति शेषः. भक्तिकारणानुग्रहास्तित्वनिश्चये अनायासेनैव सेत्स्यन्त्यां भक्तौ कायक्लेशसाध्ये श्रवणादौ साधने न कोऽपि प्रवर्तेत इति भावः. श्री भागवते व्यासस्य भक्त्यर्थितया प्रवृत्तिवचनं विरुद्धं स्यात्, अतः प्रमाणविरुद्धोऽपि अयम् अर्थो ज्ञेयः दूषणान्तरमपि आह **किञ्च** इति. अनुग्रहैकलभ्यत्वमेव भक्तौ न साधनसाध्यत्वमपि इति या त्वदुक्ता रीतिः तया प्रणालिकया शास्त्रार्थज्ञाने उच्यमाने तदभिनिविष्टस्य कर्तव्याकर्तव्ययोः अर्थयोः

त्वदुक्तरीत्या शास्त्रार्थज्ञाने श्रौतविधिनिषेधांगीकारानुपयोगज्ञानाद् भक्त्यर्थिषु सदाचारोच्छेदप्रसंगः. नच इष्टापत्तिः, भक्त्यतिशयोत्तरकालीनत्वाद् एवंभावस्य. अतएव भरतस्य अतथात्वं पूर्वं, तथात्वञ्च अग्रे. तस्माद् अकामोपहताखिलवर्णाश्रमधर्मैः अनेकजन्मसञ्चितैः सत्त्वशुद्धौ अञ्जनाभ्यासजनितनयनतिमिरोपहतौ वस्तुतत्त्वज्ञानमिव भगवद्भक्तिरेव परमपुरुषार्थः इति शास्त्रार्थज्ञानम्. ततः तदर्थमेव वर्णाश्रमधर्मकरणे भगवद्भक्तिः, तयाच अनुग्रहः, तेनच मुक्तिः इति राजवर्त्मविदुषां

विधायकनिषेधकशास्त्रयोः उपयोगो न स्यादेव, अकिञ्चित्करत्वाद् इति अर्थः. एवं गुरुशिष्यपरम्परया भक्तिम् उपादित्सूनां सन्ध्यावन्दनादिशिष्टाचारोच्छेदः स्यात्, सः न्याय्यो न भवति इति अर्थः. ननु सर्वात्मभावपूर्विकानन्यभक्तौ सर्वधर्मत्यागे समीहितसिद्धिः इति चेत्, तत्र आह नच इति. **भक्त्यतिशयो** भक्त्युद्रेकः, तदनन्तरं स्वयमेव जायमानत्वात्. **एवंभावस्य** सर्वधर्मत्यागपूर्वकावस्थानस्य. ज्ञानपूर्वकं तथा आचरणे प्रत्यवायएव. तथाच स्मर्यते, **''श्रुतिस्मृती ममैव आज्ञे यः ते उल्लंघ्य वर्तते, आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न मे प्रियः''** (वाधूलस्मृति.१९५) इति.

अस्मिन् अर्थे प्राचीनाचरितं प्रमाणयन्ति. **अतएव** इति **भरतस्य** जडभरतस्य, **अतथात्वं** सर्वधर्मत्यागाकरणं, **पूर्वं** राजशरीरदशायाम्. **तथात्वं** सर्वत्यागपूर्वकम् अवस्थानम्, **अग्रे** पश्चाद् ब्राह्मणदशायाम्. स्वमतम् उपसंहरति भक्तेः साधनसाध्यत्ववादी, **तस्माद्** इति. **कामैः** विषयलालसैः न **उपहता** विषयीकृता **अखिलाः** सर्वे ये वर्णानाम् आश्रमाणां च धर्माः तैः साधनभूतैः **अनेकजन्मोपार्जितैः सत्त्वस्य** अन्तःकरणस्य **शुद्धौ** जातायां सत्यां भगवद्भजनमेव **पुरुषार्थः** इत्येवंरूपं शास्त्रार्थं निश्चिनोति. **''जन्मान्तरसहस्रेषु''** इत्यादिवचनाद् एवंविधनिश्चयस्य उचितत्वात्. अत्र दृष्टान्तः : बाह्यदृष्टिदोषाणां निवारकाञ्जनप्रक्षेपजनिततन्निवृत्तौ घटादिवस्तुयाथार्थ्यज्ञानमिव, तदनन्तरं भक्त्यर्थमेव वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, तेन भक्तिः फलम्. **तयाच** भक्त्या जनितो **अनुग्रहो** भगवन्निष्ठो जीवविषयकः तेन मोक्षः इत्येवंविधं राजपथं जानतां शंका-शूकरूपतस्करोपद्रवाभावाद् न ज्ञानरूपधनस्य स्तेयम् इति एवंवादिनि

न ज्ञानधनमोषः कथञ्चन इति स्थिते वदामः : त्वदुक्तचित्तशुद्धावपि एकेषां ज्ञानमार्गिता, केषाञ्चिद् भक्तिनिष्ठतैव इत्यत्र को हेतुः ? इति उच्यताम्.

नच शुद्धौ तारतम्यं वाच्यं, तत्तुल्यता, यतो ज्ञानस्यापि; अन्यथा उत्पत्तिः न स्याद् इति विचारय.

तस्माद् आद्यप्रवृत्तिर्या भक्तावनुपपत्तितः ।
केवलानुग्रहात् सेति मन्तव्यं प्रतिवादिना ।।२।।

प्रत्यवतिष्ठमाने ब्रूमः इति अर्थः. **त्वदुक्त...** इति. अकामोपहतधर्मैः इति अर्थः. **ज्ञानमार्गिता** भक्तिम् अनादृत्य ज्ञानमार्गैकनिष्ठता इति अर्थः. अन्यथा एकत्र उभयसद्भावप्राशस्त्यं विरुद्धचेत. तदुक्तं निबन्धे आचार्यचरणैः **"ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं तस्माद् न अस्ति अधिकः परः"** (त.दी.नि.१।१४) इति. **भक्तिनिष्ठता** भक्तिमार्गैकनिष्ठता. अत्र उभयोः वैलक्षण्यं सार्वजनीनम्. तच्च न कारणैक्ये घटते, अतः तद्वैविध्यम् अवश्यं वाच्यम् इति अर्थः. ननु क्लृप्तचित्तशुद्धावेव अवान्तरभेदेन तद्वैविध्यम् उच्यतां नतु अक्लृप्तहेत्वन्तरमपि इत्यतः आह **नच** इति. **तत्तुल्यता** इति, शुद्धयापादकधर्मादीनाम् उभयत्रापि साम्येन उपलम्भाद् इति अर्थः. **ज्ञानस्यापि** इति. चित्तशुद्धिः भक्तौ स्वातिरिक्तम् अपेक्षते यदि तदा ज्ञानोत्पत्तावपि तथात्वापत्तिः इति भावः.

स्वसिद्धान्तम् आह **तस्माद्** इति. अनुपलब्धसाधनस्य जीवस्य सृष्ट्यारम्भे इयं प्रथमतया **प्रवृत्तिः भक्तौ या दृश्यते सा केवलानुग्रहात्** साधनान्तरासहकृतादेव भवति, साधनानाम् अनुपलम्भात्, प्रकारान्तरेण उपपत्त्यभावाद् इति अर्थः. ननु अनुमितिसद्भावात् कथं न साधनान्तरोपलम्भः ? तथाहि विवादाध्यासिता प्रवृत्तिः अनुग्रहेतरपूर्विका, क्रियात्वाद्, भुजिक्रियावद् इति चेद, न, प्रतिपक्षसद्भावात्. तथाहि पूर्वोक्ता प्रवृत्तिः न अनुग्रहेतरपूर्विका भक्त्यर्थिक्रियात्वात्. नारदप्रह्लादादिक्रियावद् इति. अस्य अनुग्राहकं

ननु एवमपि मदुक्तमेव अनुवदति भवान्. यतो "अनुग्रहरूपसहकारिविशेषं प्राप्य सत्त्वशुद्धिरेव भक्तिं जनयति, अप्राप्य तं न ताम्" इति वदति. अन्यथा शुद्धेः पूर्वमेव भक्त्युत्पत्तिप्रसंगस्य दुर्वारत्वम् इति चेत्, तर्हि आवश्यकत्वाद् लाघवात् च अनुग्रहएव तद्धेतुः अस्तु. कृतं शुद्ध्यादिभिः. नच विनिगमकाभावाद् दण्डचक्रादेः घटकारणतावद् अत्रापि वाच्यं, तत्र अन्योन्यसापेक्षतयाएव कार्यजनकत्वात् तथात्वम् उच्यते. न इह तथा, साधनरहितानामपि भक्तिदर्शनात्. नच जन्मान्तरीयतदनुमानं तेषु इति वाच्यं, इतरसाधननिषेधश्रवणात्. तथाहि "न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्मः उद्धव! न स्वाध्यायः

प्रमाणं "**यमेव एषः वृणुते**" (कठोप.१।२।२३) इति पूर्वोक्तश्रुतिः अनुसन्धेया.

भ्रान्तः शंकते ननु इति, शुद्ध्यनन्तरभाव्य**नुग्रहरूपसहकारिविशेषं प्राप्य** इति अर्थः. तम् अनुग्रहं अप्राप्य **तां** भक्तिम् इति अर्थः **अन्यथा** इति, अनुग्रहसहकारिविलम्बनिबन्धनो भक्त्युत्पत्तिविलम्बो यदि न उच्यते तदा उक्तदोषः स्याद् इति अर्थः. **आवश्यकत्वाद्** इति. "**यमेव एषः वृणुते**" (कठोप.१।२।२३) इत्यादिप्रमाणान्यथानुपपत्त्या अनुग्रहस्य सर्वकारणापेक्षया पूर्वभावित्वम् अवश्यम् अभ्युपेयम् अतः आवश्यकत्वाद् लघुनि प्रमाणानां पक्षपातः इति न्यायाच्च. अनेकधर्मादीनां कारणत्वे गौरवं, तदपेक्षया वरम् एकस्यैव अनुग्रहस्य, "तद्धेतोरेव अस्तु किं तेन" इति न्यायाद् इति अर्थः. यथा घटकारणदण्डचक्रकुलालादीनाम् एकत्रैव कारणता वैशिष्ट्यनिश्चायकाभावाद् अविशेषेण सर्वेषां कारणत्वम् एवम् अनुग्रहस्यापि धर्मादिसहभावएव किं न स्याद् इति आशंक्य आह **नच** इति. **तत्र** इति, घटोत्पत्तौ चक्रादीनां सहभावेनैव कार्यकारित्वं दृष्टम् अतः तत्र दृष्टानुरोधेन **तथा** कल्पनम् उचितम्, **प्रकृतेतु** न तथा, साधनराहित्येऽपि भक्तिसद्भावाद् इति अर्थः. ननु "समाप्तिदर्शनाद् जन्मान्तरीयमंगलानुमानवद् अत्रापि भक्तिकार्यदर्शनात् तत्कारणं धर्मादिरूपं प्राक्तनं कल्प्यतां, तथाच न व्यभिचारः स्याद्" इत्यतः आह **नच** इति. **इतर...** इति. अनुग्रहेतरसाधनानाम् इति अर्थः. तथा सति हेतोः स्फुटमेव साध्याभाववद्गामित्वम् इति भावः.

तपः त्यागो न इष्टापूर्तं न दक्षिणाः, व्रतानि यज्ञः छन्दांसि तीर्थानि नियमाः यमाः यथा अवरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि मां, सत्संगेन हि दैतेया यातुधानाः खगाः मृगाः'' (भाग.पुरा.११।१२।१-३) इति उपक्रम्य, अग्रे भगवता उच्यते ''ते न अधीतश्रुतिगणा न उपासितमहत्तमाः अव्रतातप्ततपसः सत्संगाद् माम् उपागताः, ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः अञ्जसा'' (भाग.पुरा.११।१२।७-८) इति. अत्र पूर्वोक्तानां जन्मान्तरीयतत्सत्त्वे ''ते न अधीत...'' इत्यादिना तन्निषेधो न उपपद्यते. किञ्च, ''यद् न योगेन सांख्येन दान-व्रत-तपो-ऽध्वरैः, व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि'' (भाग.पुरा.११।१२।९) इति साधनरहितप्राप्तस्वरूपस्य इतरसाधनाप्राप्यत्वं श्रीगोकुलप्राणनाथेन उक्तमिति अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारोक्तेः न तद्धेतुत्वगन्धोऽपि. अत्र निःसाधनानां ''केवलेन हि भावेन'' (भाग.पुरा.११।१२।८) इत्यादिना स्नेहभक्तिनिरूपणाद् भक्तेः तदसाध्यत्वम् अवसीयते.

ननु ''जन्मान्तरसहस्रेषु'' इत्यादिवाक्यानां का गतिः? उच्यते : भगवता स्वप्राप्त्यर्थं मार्गद्वयं प्रकटितं : मर्यादारूपं पुष्टिरूपं च. तत्र

अनुमानप्रकारस्तु ''इयं भक्तिः साधनपूर्विका, भक्तित्वात् साधनमार्गीयभक्तिवद्-'' इति. अत्र साध्याभावप्रमित्यर्थं **''न शोधयति मां योगः''** (भाग.पुरा.११।१२।९) इत्यादिप्रमाणप्रदर्शनं ज्ञेयम्.

ननु श्रीगोकुलस्थानामपि अन्यैः कैश्चिदपि अज्ञातः सुसूक्ष्मो धर्मादिरिव प्राक्तनो भविष्यति इत्यतः न साध्याभावः इति चेद्, न, एवं सति **''ते न अधीतश्रुतिगणाः न उपासितमहत्तमाः''** (भाग.पुरा.११।१२।७) इत्यादि सर्वज्ञेश्वरवचनं विरुद्ध्येत. नहि **भगवतोऽपि** अज्ञातपदार्थः कश्चन सम्भवतीति. व्यतिरेकव्यभिचारप्रदर्शनाय **''यद् न योगेन''** (भाग.पुरा.११।१२-।९) इत्यादि ज्ञेयम्. तत्र एवं ज्ञेयं : यत्र साधनपूर्वकत्वाभावः तत्र भक्तित्वाभावः इति. गोकुलवासिष्वेव साधनपूर्वकत्वाभावेऽपि भक्तिमत्त्वसद्भावाद्, भक्तेः साधनसाध्यत्वप्रतिपादकवाक्यानां सर्वथा वैयर्थ्यम् आशंक्य समाधत्ते **भगवता**

येषां जीवानां मर्यादायाम् अंगीकारः, तेषां साधनक्रमेणैव भगवत्प्राप्तिः. यथा आसुरावेशिनामपि मुक्तिं ददत् स्वरूपं दृष्टवतोऽपि मुचुकुन्दस्य दोषवर्णनपूर्वकं तद्रहिताग्रिमजन्मनि स्वप्राप्तिकथनम्. येषाञ्च पुष्टिमार्गे अंगीकारः तेषां केवलानुग्रहेणैव, न साधनापेक्षा इति सिद्धान्तः. यथा व्रजादिस्थिताः. तत्र-तत्र अंगीकारेच इच्छैव हेतुः, स्वतन्त्रेच्छत्वाद् न अन्यनियम्यता. तथाच साधनवाक्यानि मर्यादामार्गपराणि इति ज्ञेयम्. तत्र अंगीकृतानां तथैव प्रवृत्तिः, तथैव फलं च. एतेन ''भक्त्यर्थिषु सदाचारोच्छेदप्रसंगः'' इति दूषणं निरस्तं वेदितव्यम्. येषु जीवेषु यथा भगवदिच्छा, तथैव तेषां प्रवृत्तेः आवश्यकत्वात्. अतएव भक्त्यर्थिनां निःशंकप्रवृत्त्यभावप्रवृत्त्युच्छेदौअपि निरस्तौ.

अपरञ्च, ''तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह, यत् कर्मभिः यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यद् योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिः इतरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति, न किञ्चित् साधवो धीराः भक्ताः हि एकान्तिनो मम वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यम् अपुनर्भवम्'' (भाग.पुरा.११।२०।३१-३४)

इति. **येषाञ्च** इति. **पुष्टिः** अनुग्रहः. **तेषां** केवलः साधनरहितो यो गुर्वनुग्रहः तन्मात्रेणैव भक्तौ प्रवेशः. **यथा** इति, गुर्वनुग्रहलभ्यत्वं व्रजातिरिक्तस्थले ज्ञेयम्. अन्यथा ''न उपासितमहत्तमाः'' इति विरुद्ध्येत. **व्रजादिस्थिताः** इत्यत्र, ''व्रजः आदिः येषाम्'' इति जहत्स्वार्थलक्षणबहुव्रीहिणा व्रजस्य उपलक्षणत्वं ज्ञेयम्. तत्र-तत्र इति. पुष्टिमर्यादयोः प्रवेशाप्रवेशयोः इति अर्थः. एकस्य तथात्वे अन्यस्य अतथात्वे स्वतन्त्रेच्छैव हेतुः. एवं व्यवस्थितौ साधनसाध्यत्वप्रतिपादकवचनविरोधो अधिकारिभेदेनैव परास्तः. अतएव न सदाचारोच्छित्तिदोषोऽपि इति तात्पर्यम्. **येषु** इति. **अतएव** इति. यतो भगवदिच्छाधीनत्वं प्रवृत्तेः अतो भगवता यो यस्मिन् मार्गे प्रवर्तितः सः पुनः पुनः तदर्थमेव यतते श्रद्धते च भगवदनुग्रहलब्धविश्वासाद् निःशंकः साधने सदाचारे च प्रवृत्त्युपपत्तिरपि इति भावः. मर्यादामार्गीयव्यवस्थाम्

इत्यादिवाक्यैः ज्ञानवैराग्यरहितानामेव भक्तिकथनाद् भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वेन इतरसकलसाधनसाध्यसाधकत्वोक्तेः च न इतरसाधनसापेक्षता भक्तौ. "भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" (भाग.पुरा.५।६।१८) इति श्रीशुकवचनैः मुक्तिसाधनपूर्णानामपि भगवद्दाने भक्तिप्राप्तिः, अदानेच अप्राप्तिः इति निरूपणादपि अनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं भक्तौ निश्चीयते. उक्तमार्गद्वये च अंगीकारो अनुग्रहेणैव इति न मर्यादामार्गेऽपि भक्तेः साधनबलसाध्यत्वम्; अन्यथा, "जायस्व म्रियस्व" (छान्दो.उप.५।१०।८) इति तृतीयमार्गएव अंगीकारं कथं न कुर्यात्?

उक्त्वा पुष्टिमार्गीयाम् आह **अपरञ्च** इति. **ज्ञानवैराग्यरहितानामेव** इत्यत्र. तद्रहितानामपि इति युक्तं नोचेत् तद्राहित्यम् अधिकारशरीरप्रविष्टं स्यात्. **इतर...** इति. अनुग्रहेतराणि यानि सर्वाणि साधनानि कर्माणि तैः प्रत्येकसमुदायाभ्यां साध्यं प्राप्यं यत् फलं तत्साधकत्वं सर्वसाधनराहित्यसहितभक्तेरेव, न अन्यस्य इत्यतो युक्तं कल्पतरुत्वम्. **मुक्तिसाधन...** इति. वशीकृतमुक्तीनां वशीकृतसाधनानाम् इति अर्थः, मुक्तिहेतुपूर्णानाम् इति वा. यदि सा भक्तिः भगवदनुग्रहं विना प्रकारान्तरलभ्यापि स्यात् तदा सर्वदुर्लभमोक्षपर्यन्तं धावद्भिः किमिति न प्राप्ता. **"सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते"** (भग.गीता ४।३३) इति गीतावचनाद् मुक्तैरपि प्रार्थ्यभक्तौच अनुग्रहेतरासाध्यत्वम् इति भावः. **उक्तमार्ग...** इति. पुष्टिमर्यादयोः इति अर्थः. वस्तुतो मूलान्वेषणे क्रियमाणे मर्यादामार्गेऽपि भक्तिः अनुग्रहैकलभ्या, न साधनलभ्या. साधनकथनन्तु अनुग्रहरूपकल्पवृक्षस्य शाखाविस्तारः एतावान् इति ज्ञापनार्थं नतु स्वातन्त्र्येण भक्तिजनकत्वकथनार्थम्. इदन्तु त्वयापि भक्तिमार्गीयेण अवश्यम् अभ्युपेयम् इतितु रहस्यम्. **अन्यथा** इति, भगवदनुग्रहं विना साधनानां भक्तिजनकत्वोक्तौ **"जायस्व म्रियस्व"** (छान्दो.५।१०।८) **"मृत्वा पुनः मृत्युम् आपद्यन्ते अर्द्यमानाः स्वकर्मभिः"** (   ) इत्याद्युक्तो यः तृतीयमार्गः प्रवाहाख्यः तत्रापि कथं न अंगीकारं कुर्यात्. साधनमात्राचरणस्य तुल्यत्वाद् इति अर्थः.

पुष्टौ साधनानां व्यभिचारादेव न हेतुत्वं शंकितुमपि शक्यम् इति अलम् उक्तिभिः. एवं सति साधनमार्गकरणं यतः तद् वक्ष्यते "पोषणं तदनुग्रहः" (भाग.पुरा.२।१०।१४) इति वाक्यात् पोषणलीलायाः स्वतन्त्रत्वाद् "यस्य अनुग्रहम् इच्छामि" (द्र.स्क.पुरा.१।३।२।१६) इति वाक्याच्च अनुग्रहो धर्मान्तरमेव. अनुग्रहानुरूपाच इच्छा सर्वत्र सहकारिणी. सहकारिनिरपेक्षानुग्रहसाध्या भक्तिः इत्यपि गुडजिह्विका. वस्तुतस्तु "कार्यमात्रम् इच्छाधीनमेव" इति त्वयापि उररीकार्यम्. तथाहि, यदा-यदा यद् यत् कार्यं भवति, भावि, अभूद् वा,

---

ननु अनुग्रहस्य उभयत्रापि आवश्यकत्वे मर्यादायामेव साधनोपदेशः पुष्टावपि कथं न इत्यतः आह **पुष्टौ** इति, "**न रोधयति मां योगः**" (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यादि पूर्वोक्तवचनैः **साधनानां** व्यभिचारित्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुटमेव. अतः तत्र तद्धेतुत्वं **शंकितुमपि** असम्भावि इति सिद्धान्तः. **एवं सति** इति, अनुग्रहैकलभ्यत्वे तुल्येऽपि सति मर्यादायां यत् **साधनमार्गस्य** साधनाचरणस्य **करणम्** उपदेशो येन अभिसन्धिना तद् वक्ष्यते पूर्वं ज्ञापितमपि **वस्तुतस्तु...** इत्यादिना स्फुटं कथयिष्यते इति अर्थः. स्वैकदेशिमतं निरस्यति, **पोषणम्** इति. सर्गविसर्गादिवद् अनुग्रहस्यापि धर्मान्तरत्वमेव उचितम्. तथा सति **अनुग्रहानुरूपा** अनुग्रहपूर्विका भक्तकार्येच्छा सा **सर्वत्र** तत्तन्मार्गीयभक्तकार्यमात्रे **सहकारिणी** कारणान्तरम् अपेक्ष्य कार्यजनिका इति अर्थः. भक्तिरूपे कार्ये परम् इयान् विशेषो यद् अन्यनिरपेक्षानुग्रहसाध्यत्वम् इति अर्थः. आपातरमणीयम् इति अर्थः. अत्र अस्वरसबीजं कार्यमात्रस्य इच्छाधीनत्वे अनुग्रहस्यापि कार्यत्वात् तदिच्छाधीनत्वमेव उचितम्. तस्माद् अवान्तरव्यापारत्वमेव अनुग्रहस्य भक्तौ जनयितव्यायां कारणन्तु इच्छैव इति भावः.

वस्तुतस्तु इति. सहकारिनिरपेक्षानुग्रहवादिनामपि **उररीकार्यम्** अंगीकर्तव्यम् इति अर्थः. तत्र उपपत्तिप्रकारम् आह **तथाहि** इति. **यदा** इति. यस्मिन् यस्मिन् काले, येन-येन इत्यपि ज्ञेयं, वीप्सायां द्विरुक्तिः. **यद् यद्** इति कार्यनिर्देशः. मुख्यकर्तुः भगवतः एकत्वेन वीप्साविषयत्वाभावात्

तत्तत्कालोपाधौ क्रमिकेणैव तेन तेन हेतुना, तत् तत् कार्यं करिष्ये इति ततः पूर्वं भगवदिच्छा अस्ति, आसीद् इति वा मन्तव्यम्. अन्यथा तच्चिकीर्षामात्रस्य नित्यत्वेन युगपत् सकलकार्योत्पत्तिप्रसंगः. नच इतरकारणासमवधानाद् न तथा इति वाच्यं, तस्यापि कार्यत्वेन तच्चिकीर्षायाअपि पूर्वम् अवश्यं वाच्यत्वात्. तस्याः कार्यमात्रे कारणत्वात् तदपि युगपत् स्यात्. नच तत्पूर्वक्षणः प्रतिबन्धकः इति वाच्यं, तत्प्रागभावकाले अग्रिमकार्योत्पत्तिप्रसंगात्.

कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितम्. **भवति** इति, वर्तमानकालोपाधिः. भावी इति भविष्यत्कालोपाधिः, **अभूद्** इति, अतीतकालोपाधिः एतेषु यथायथं **क्रमिकेणैव** क्रमप्राप्तेनैव हेतुना तत्तकार्यं करोमि करिष्यामि इत्येवं प्रकारिका **भगवदिच्छा अस्ति आसीद्** इति मन्तव्यं, सत्यसंकल्पत्वाद् भगवतः. **ततः पूर्वं** तत्कार्योत्पत्तेः प्रागेव इति अर्थः. **अन्यथा** इति, कालोपाधिक्रमिककार्यानंगीकारे. साधारणकारणचिकीर्षायाएव हेतुत्वे प्राप्ते तत्कार्यकारणोभयविषयिण्योः तयोः सर्वदा सत्त्वाद् एककालमेव सकलकार्योत्पत्तिप्रसंगदोषः प्रसज्येत इति अर्थः.

ननु दण्डादिषु एकस्य असत्त्वेऽपि घटानुत्पत्तिवद् अत्रापि चिकीर्षेतरकारणासमवधानाद् न युगपदुत्पत्तिप्रसंगः इत्यतः आह **नच** इति. **तस्यापि** इति. चिकीर्षेतरकारणसमवधानस्यापि इति अर्थः. समवधानस्यापि कार्यत्वात् तत्कारणचिकीर्षायाः पूर्ववद् अत्रापि सत्त्वात् पुनरुक्तदोषएव इति अर्थः.

ननु प्रतिबन्धकसत्त्वात् तत्र न कार्योत्पत्तिः इति चेत् तत्र आह **नच** इति. **तत्पूर्वक्षणः** इतरकारणसमवधानाव्यवहितपूर्वक्षणः इति अर्थः. **तत्प्रागभावकाले** इति. सामग्रीसमवधानाव्यवहितपूर्वक्षणात् प्राक्काले प्रतिबन्धकाव्यवहितपूर्वक्षणस्य असत्त्वात् तदानीं कार्योत्पत्तिप्रसंगः इति अर्थः. ननु यस्मिन् यस्मिन् क्षणे यद् यत् कार्यं जायते तत्तत्कार्यं तत्तत्क्षणाधिकरणकं भवति, तादृशकार्यं प्रति तस्यैव कार्यस्य प्रागभावेन अवच्छिद्यते विशेष्यते अन्यस्मात् पृथक् क्रियते इति यावत्, सः प्रागभावावच्छिन्नः कालः,

नच तत्तत्क्षणाधिकरणकतत्तत्कार्यं प्रति तत्तत्प्रागभावावच्छिन्नस्थूलकालोपाधिः तथा सृष्टौ प्रलयकालइव इति वाच्यम्, एवं हि प्रलयाभावस्य सृष्टौ हेतुत्वमिति तत्पूर्वकालसत्त्वनियमेन तदधिकरणकालस्य प्रलयसृष्टिकालातिरिक्तत्वापत्तेः. प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वेन तत्पूर्वक्षणवर्तित्वस्य अवश्यं वाच्यत्वात्. कार्यतदभावातिरिक्तकालस्य च उक्तानि अन्यतराभावेनैव परास्तत्वात्. नच एवं वक्तुं शक्यम्,

---

सच सूक्ष्मोऽपि सम्भवति इत्यतः स्थूलो महान् यः कालः सएव उपाधिरूपः प्रतिबन्धको भवतु, यथा प्रलयकाले सिसृक्षायां सत्यामपि सृष्टिप्रागभावावच्छिन्नो अनेकमन्वन्तरपरिमितः स्थूलकालोपाधिः प्रतिबन्धकः, अन्यथा तत्रापि सृष्टिः केन प्रतिबध्येत. यथा च संजिहीर्षायां सत्यामपि प्रलयप्रागभावावच्छिन्नः स्थूलः सृष्टिकालः प्रतिबन्धकः अन्यथा तत्रापि प्रलयप्रसंगाद्; एवम् अत्रापि सामग्रीसमवधानाधिकरणक्षणप्रागभावावच्छिन्नः स्थूलकालोपाधिः प्रतिबन्धको अस्तु इति चेत्, तत्र आह नच इति. एवं हि इति. सृष्टिप्रलययोः तमःप्रकाशवत् परस्परं विरुद्धस्वभावत्वाद् एकस्य सत्त्वे अपरस्य असत्त्वं वाच्यं, ततः सृष्टौ भवितव्यायां प्रतिबन्धकाभावत्वेन प्रलयाभावो हेतुः वाच्यः, सच स्वकार्यात् पूर्वकाले सत्त्वं नियतम् अपेक्षते, अतः सृष्टिकारणप्रलयाभावाधिकरणीभूतकालस्य न प्रलयाधिकरणत्वं, तदसत्त्वात्. नापि सृष्ट्यधिकरणत्वं जनिष्यमाणत्वात् तस्याः. अतः उभयानधिकरणस्यापि सत्त्वाद् अतिरिक्तकालसिद्धिप्रसंगः स्यात्. सच प्रकृतानुपयुक्तत्वाद् व्यवहाराविषयत्वाद् न शक्यवचनः इति अर्थः.

ननु एवंविधोऽपि कालः कुतो न इत्यतः आह कार्य... इति. कार्यं सृष्टिः, तदभावः प्रलयः, ताभ्याम् अतिरिक्तस्य तदुभयानधिकरणस्यापि कालस्य, उक्तौ यौ सृष्टिप्रलयौ तयोः मध्ये एकस्यापि अधिकरणं न भवति. एतदुभयव्यवहारातिरिक्तव्यवहाराभावात् तत्साधकं कार्यान्तरमपि न अस्ति इत्यतः सुतरां तत्सिद्ध्यभावः इति अर्थः. ननु यस्मिन् कालोपाधौ यत् कार्यं जायते तत्कालोपाधिप्रागभावः तत्कार्ये प्रतिबन्धकः इति चेत्,तत्र आह नच इति. तस्य इति. कार्याधिकरणकालोपाधिकप्रागभावस्य,

अप्रसिद्धेः. नच तत्तत्कालोपाध्यभावएव प्रतिबन्धकः, तस्य प्रागभावरूपत्वेन प्रतियोगिसामग्र्याएव च तन्नाशकत्वेन तत्सत्त्वे तत्सत्त्वासम्भवात्. नच उत्तरक्षणचिकीर्षितघटस्य अधुनैव अकरणे उत्तरक्षणाभावएव त्वयापि प्रतिबन्धको वाच्यः, इच्छाभावस्यैव तथात्वेऽपि ''सविशेषणे हि'' (लौ.न्या.सा.१५७) इति न्यायेन क्षणाभावएव पर्यवसानाद् इति वाच्यं, क्लृप्तकारणैः कार्योत्पत्तिसम्भवे येन कार्याभावः तदभावस्य हि प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणत्वं दाहे मण्यभावस्येव; दण्डाद्यभावे घटानुत्पादेऽपि न तेषां प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणता, किन्तु दण्डत्वादिना. प्रकृतेऽपि तत्क्षणविशिष्टेच्छायाः हेतुत्वेन पूर्वं तदभावात् तद्विशिष्टतल्लक्षणहेत्वभावादेव कार्याभावः.

प्रतियोगिप्रतिबन्धकत्वोक्तौ कारणसामग्र्याएव स्वकार्यप्रतिबन्धकत्वात् कार्यं किमपि न उत्पद्येतैव इति अर्थः.

ननु भाविकार्याधिकरणक्षणस्यापि कारणत्वात् तदभावप्रयुक्तः इदानीन्तनकार्याभावः इति चेत् तत्र आह नच इति. **क्लृप्तकारणैः** इति. श्रुतिसिद्धम् इच्छायाः कारणत्वम् अतः तस्याएव कारणत्वम् उचितम्. बहुत्वाभिधानन्तु विषयभेदाभिप्रायेण ज्ञेयम्. इच्छायाः भावरूपत्वाद् लाघवम्. क्षणाभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् तस्य कारणत्वे गौरवम्. यत्रापि न आन्तरीयकतया कारणत्वं प्राप्तं तत्रापि न सम्मुखेन, किन्तु प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कारणता. यथा दाहकार्ये उत्तेजकाभावविशिष्टमणेः प्रतिबन्धकत्वाद् उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कारणता, न स्वरूपेण. तर्हि दण्डादीनामपि किम् एवमेव कारणता न इति आह **दण्डाद्यभावे** इति. **प्रकृतेऽपि** इति. इच्छायाएव कारणत्वपक्षेऽपि तत्तत्कार्याधिकरणक्षणविशिष्टायाएव हेतुत्वं वाच्यं, तेन कार्यप्रागभावकाले विशेष्यसत्त्वेऽपि उभयाभावस्य सत्त्वाद् विशेषणाभावापत्तौ विशिष्टाभावः इति न्यायात्. यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं यदभावाद् यदभावः तत् तद्धेतुकम् इति अभिप्रेत्य

ननु एवमपि ‘‘सविशेषणे हि’’ इति न्यायेन क्षणस्यैव कारणत्वम् आयाति. किञ्च, इच्छात्वेनैव लाघवात् कारणत्वम् इच्छायाः, नतु तद्विशिष्टत्वेन गौरवात्, तथाच तत्क्षणलक्षणसहकार्यभावाद् न इच्छामात्रेण अन्यदा तत्कार्यम् इति चेद्, अत्र वादी प्रष्टव्यः. तत्क्षणाभावे को हेतुः इति. तत्साधनाभावः इति चेद् वदेत् तदा तत्रापि एवं प्रश्ने, तेन तत्तत्साधनपरम्पराभावएव हेतुः वाच्यः. साधनपरम्परा च साध्यपरम्परायाम्. एवञ्च सति तत्तत्परम्परासत्त्वासत्त्वयोः भगवदिच्छैव केवला हेतुरिति तेनापि मन्तव्यम्. अन्यथा तयोः आकस्मिकत्वप्रसंगात्.

ननु अजन्यायाः तस्याः केवलायाः तथात्वे सर्वाभावएव स्यात्,

क्षणस्यैव कारणत्वम् आशंकते ननु इति. **एवमपि** विशेपणासत्त्वाद् विशेष्यासत्त्वे उच्यमानेऽपि. ‘‘**सविशेषणे हि प्रसक्तौ विधिनिषेधौ विशेषणम् उपसंक्रामतो विशेष्ये बाधके सति**’’ (लौ.न्या.सा.१५७) इति न्यायात् क्षणस्यैव कारणत्वम् आगतम्. **किञ्च** इति दूषणान्तरम्. येनापि इच्छायां कारणत्वं वाच्यं तेनापि **इच्छात्वेनैव** नतु तत्तत्क्षणविशिष्टेच्छात्वेनापि, **गौरवग्रस्तत्वात्**. घटकारणतायां दण्डत्वेनैव यथा न दृढदण्डत्वेनापीति. कार्योत्पत्तौतु क्षणलक्षणसहकारिम् अपेक्ष्यैव कार्यकारित्वं न तन्मात्रेण इति चेद् ब्रूयात् तदा **प्रष्टव्यः** सः इति अर्थः. **साधनपरम्परा च** इति. साधनमेव साध्यत्वेन ज्ञेयम्. **एवञ्च** इति. यत्र यत् कार्यं जायते तेन कार्येण तत्पूर्वतरपूर्वतमसाधनपरम्परा अस्ति इति ज्ञायते. साच क्वचिद् विश्रान्ता वाच्या अन्यथा [१]अनवस्थादोषः आपतेत्. अस्तु प्रामाणिकी सा इति चेत्, ‘‘**सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय**’’ (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिश्रुतिविरोधाद् न तथा. तथा सति प्रमाणान्तरसिद्धत्वाद् अनन्यगतिकत्वात् त्वयापि कारणत्वेन इच्छा अवश्यं वाच्या. **अन्यथा** इच्छायां कारणताव्यवस्थितौ अनुच्यमानायां तयोः साधनसाध्यपरम्परासत्त्वासत्त्वयोः कार्यतदभावयोः वा आकस्मिकत्वं स्यात्. तथा सति बाह्यमतप्रवेशः स्याद् इति भावः.

---

[१] अव्यवस्थादोषः इति क ग घ पुस्तकेषु.

सर्वं वा युगपत् स्याद् इति चेद्, अत्र एवं ज्ञेयम्. त्वदुक्तरीत्या हि सर्गादिकारणे विमर्शः पर्यवस्यति. तच्च, श्रुति-सिद्धप्रकारकमेव अंगीकर्तव्यम् आस्तिकैः. तत्रच केवलेच्छायाएव हेतुत्वम् उच्यते. तथाहि वाजसनेयिशाखायां ''आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यद्'' (बृह.उप.१।४।१, शत.ब्रा.१४।४।२।१) इति उपक्रम्य, अग्रे पठ्यते ''सः वै नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते, सः द्वितीयम् ऐच्छत्, स ह एतावान् आस, यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ सः इममेव आत्मानं द्वेधा आपातयत् ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्'' (बृह.उप.१।४।३,शत.ब्रा.१४।४।२।४) इत्यादि. अत्र द्वितीयसृष्टौ इच्छामात्रस्यैव हेतुत्वम् उच्यते रमणेच्छायाश्च तदिच्छाप्रयोजकत्वम्. तथाच स्वक्रीडार्थमेव जगत्करणम् इति अर्थः सम्पद्यते. अतएव श्रीभागवतेऽपि ''क्रीडाभाण्डं विश्वम् इदं यस्य विभूम्नः'' (भाग.पुरा.४।७।४३) ''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे ईश! कुर्युः'' (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्याद्युक्तम्. एवं सति वस्तुनियमाभावे वैचित्र्याभावेन क्रीडाऽसम्भवात् तदर्थं

वादी स्वमतं सदोषम् आज्ञाय सिद्धान्तिमतं स्वीकृत्य शंकते ननु इति. परस्परविरुद्धसर्गसंहारयोः सिसृक्षासंजिहीर्षालक्षणोभयकारणयोः सर्वदा सत्त्वात् सार्वकालिकी सृष्टिरेव स्याद् वा सार्वकालिकः प्रलयो वा इत्यत्र कथं समाहितिः इति प्रश्ने उत्तरं **त्वदुक्त...** इति. सर्वं स्यात् सर्वमपि न स्याद् इत्येवंविधा या त्वदुक्तप्रश्नरीतिः तयातु रीत्या सर्गप्रलययोः **कारणे** निश्चीयमाने **विमर्शो** विचारः, इदम् उपपन्नं न वा इति एवंविधः **पर्यवस्यति** सम्भवति इति अर्थः. **तच्च** इति तद्विचारणमपि वक्ष्यमाणश्रुत्यादिषु यः सृष्ट्यादिप्रकारः उक्तः तेनैव प्रकारेण **आस्तिकैः** परलोकमतिमद्भिः कर्तव्यम् इति अर्थः. तथा सति सिद्धम् इच्छायाएव सर्वकारणत्वम् इति भावः. **तदिच्छा...** इति. सृष्टीच्छाप्रयोजकत्वम् इति अर्थः. **एवं सति** इति. स्वक्रीडार्थमेव जगन्निर्माणम् इति एवंरूपे अर्थे सिद्धे सति. जगत्कारणेच्छारूप-**वस्तुनियमाभावे** तन्निबन्धनं जगद्वैचित्र्यं न स्याद् तदभावे च क्रीडापि न स्यात् इति अर्थः. **तदर्थम्** इति. वैचित्र्यपूर्वकक्रीडार्थम्.

कालावच्छेदे सति तदा तां तां लीलां करोति करिष्यति अकरोद् इति अन्यज्ञापनार्थं च तदवच्छेदिकां सूर्यादिगतिं विधाय तथा करोति इति श्रुत्यर्थापत्त्या अवसीयते. एवं सति यदा यथा येन यत्र यद् भवति, नश्यति, न भवति वा, तदा तथा तेन तत्र तद् भवतु, नश्यतु, मा भूद् इति सृष्टेः पूर्वमेव नियमः कृतः, इति न सर्वस्य अभावो युगपद्भावो वा प्राप्तावसरः. यतः साधनानां साध्यसाधनक्षमत्वं तत्तत्साध्यसाधकत्वनियमश्च तत्कृतएव, नतु स्वाभाविकः. अतएव कर्तृत्वमपि ईश्वराधीनमेव इति श्रुतिः आह ''एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषति'' (कौषी.ब्रा.उप.३।८) इत्यादिना. व्यासोऽपि ''परात्तु तच्छ्रुतेः'' (ब्र.सू.२।३।४१) इत्यादिना इममेव अर्थं निर्णीतवान्. यथाच एतत् तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम् अस्माभिः.

ननु न इदं मदुक्ते बाधकम्, ईदृशस्यैव साधनत्वस्य कर्मस्वपि वक्तुं शक्यत्वाद् इति चेत्, स्याद् एतद् एवं यदि तन्निषेधो न

कालस्य अवच्छेदकत्वे सति, तदा-तदा तत्तत्कालावच्छेदेन अतीतानागतवर्तमानत्वादिज्ञापनाय तद्भेदकसूर्यादिगतिं कालपरिमित्यर्थं विधाय यथा इदानीम् अस्मदादीनां वर्तमानत्वादिना प्रतीतिः उत्पद्येत तथैव भगवान् करोति इति वैदिकवाक्यात् श्रुत्यर्थस्य इच्छाकारणत्वस्य अनुपपत्त्या **अवसीयते** निश्चीयते इति अर्थः. एवं सति **यत्र यदा यद् यथा प्रतीयते तत् तत्र तदा** तथैव इति **नियमः** सृष्ट्यारंभएव भगवता कृतः इति पूर्वोक्तसर्वाभावयुगपद्भावौ न प्रसज्येयाताम् इति अर्थः. इदानींतनानां कर्तृत्वम् अस्मदादीनामपि ईश्वराधीनमेव न स्वाधीनम् इति आह **यतः** इति. **साधनानां** धर्मादीनां स्वर्गादिफलसम्पादनसामर्थ्यं नियतफलसाधकत्वं च भगवदेककर्तृकमतः सर्वकर्तृत्वं तस्यैव इत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति ''**एष उ वा**'' (कौषी.ब्रा.उप.३।८) इत्यादिना.

ननु मन्मतेऽपि ईश्वरप्रेरितानां कर्मणां साधनत्वे न किञ्चिद् बाधकम्

स्याद् इत्युक्तम्. श्रुतिश्च ''न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'' (कठोप.१।२।२२, मुण्ड.उप.३।२।३) इति इतरसाधननिषेधं कृत्वा ''यमेव एषः वृणुते तेन लभ्यः'' (कठोप.१।२।२२, मुण्ड.उप.३।२।३) इत्यादिना भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वं भगवति आह. किञ्च, ''न कर्हिचिद् मत्पराः शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति नो अनिमिषो लेढि हेतिः, येषाम् अहं प्रियः आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवम् इष्टम्'' (भाग.पुरा.३।२५।३८) ''तान् न उपसीदत हरेः गदया अभिगुप्तान् न एषां वयं नच वयः प्रभवाम दण्डे'' (भाग.पुरा.६।३।२७) इत्यादिवाक्येषु भक्तानां कालानधीनत्वश्रवणादपि न कर्मसाध्यत्वं भक्तौ. कर्मणां तत्तत्कालएव विधानेन तदधीनत्वात्. कालसाध्यसाधनसाध्यफलस्यापि तत्परिच्छेद्यत्वनियमात् स्वर्गादेरिव ब्रह्मभावस्यापि कालसाध्यत्वात् तत्साध्यम् उक्तावपि तथात्वम्. अपरञ्च, ''यदा यम् अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः सः जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्'' (भाग.पुरा.४।२९।४६) इति वाक्यात् तादृशानुग्रहएव भक्तिमार्गे लोकवेदातीतत्वज्ञानं विश्वासश्च इति, तद्रहितेषु तदधिकनिरूपणं व्यर्थमिति तद्वत्सु स्वज्ञानलेशमात्रम् एतेन प्रकाशितम् इति अलं विस्तरेण.

गोपीशपदसर्वस्वः पितृपादाब्जसेवकः।।
निर्णतवान् भक्तिहेतुं निगूढाशयविठ्ठलः ।। १ ।।

अस्ति, अतः तेषामपि कारणत्वम् अस्तु इत्यतः आह **स्याद्** एतद् एवम् इति. भवेद् एवं कर्मणां कारणत्वं यदि साक्षाद्वचनोत्थो **निषेधो** न उपलभ्येत. तस्मात् सिद्धं भगवदिच्छाधीनत्वम्. किञ्च कालाधीनसाधनस्य क्षयिष्णुत्वाद् भक्तेरपि तत्फलत्वोक्तौ स्वर्गादितत्फलवद् भक्तिमुक्त्यादीनामपि क्षयिष्णुत्वापत्तिः अतो न अधिकं वाच्यम् इति अर्थः.

तद्रहितेषु भक्तिविश्वासादिरहितेषु इति अर्थः. **तद्वत्सु** भक्तिमार्गे लोकवेदातीतत्वज्ञानविश्वासवत्सु इति अर्थः.

अहं कुरंगीदृग्भंगिसंगिनांगीकृतोऽस्मि यः ।
अन्यसम्बन्धगन्धोऽपि कन्धरामेव बाधते ।। २ ।।

।। इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरदीक्षितविरचितो ।।
।। भक्तिहेतुनिर्णयः सम्पूर्णः ।।

भक्तिहेतुं विनिश्चित्य प्रवृत्तो भजनेतु यः ।
तन्मनस्तोषकारिण्यस्त्वियं कृतिरखण्डिता ।।
श्रीविट्ठलपदाम्भोजस्मृतिमात्रहृताशुभः ।
कृतवान् रघुनाथोऽहं भक्तिहेतुप्रकाशनम् ।।

।। इति श्रीश्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ ।।
।। भक्तिहेतुविवृत्तिः समाप्ता ।।

◆

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणप्रणीतो ॥

॥ भक्तिहंसः ॥

श्रीमद्रघुनाथप्रणीतया भक्तितरंगिण्या श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतेन तत्तीर्थेन स्वतन्त्रेण विवेकेन च संगतः

जयन्ति पितृपादाब्जरेणवो यत्प्रसादतः ॥
भक्तिः प्राप्ता तदन्याध्वमोहाभावश्च पण्डितैः ॥१॥

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

यदंघ्रिसंगिसंगेन निसंगाः संगिनोऽङ्गिनः ॥
भवन्ति भागिनो भक्तेः तमीशं विट्ठलं नुमः ॥१॥
भक्तिभागीरथीतीरि हंसाः कंसारिसारिणः ॥
रुवन्ति रुचिरारावा यद्भुतं तदुदीर्यते ॥२॥

अथ कर्मज्ञानोपासनामात्रपराणां तत्तन्मतानुसारिभक्तिपदार्थवादिनां याथार्थ्यम् अविदुषां मतं निरसिसिषवो भक्तिमतसिद्धं तत्पदार्थं निरूपयन्तः प्रयोजनभेदेन मंगलद्वयम् आचरन्ति **जयन्ति** इति. ते **पितृपादाब्जरेणवो**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

श्रीविट्ठलेश्वरं नत्वा रघुनाथं दयापरम् ॥
तीर्थं भक्तितरंगिण्याः करोति पुरुषोत्तमः ॥१॥

ग्रन्थप्रयोजनं वदन्तो मंगलम् अवतारयन्ति **अथ** इति. **प्रयोजनभेदेन** इति. भक्तिप्राप्तिः प्रथमस्य प्रयोजनम्. तत्र हेतुः श्रीमदाचार्यचरणानां प्रसादः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

प्रणम्य श्रीविट्ठलेशचरणाब्जरजांस्यहम् ॥
विवेकं भक्तिहंसीयं दर्शये तत्कृपाबलात् ॥१॥

अथ गीतायां **''पुरुषः सः परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्तु अनन्यया''** (भग.गीता ८।२२) इति वाक्ये पुरुषोत्तमस्य अनन्यभक्तिलभ्यत्वकथनात् तदिच्छूनां भक्तिपदार्थज्ञानस्य आवश्यकत्वेन लोकप्रसिद्धेभ्यः आराध्यत्वज्ञानोपा-

मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिः यः।।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु सः मेऽस्तु सर्वस्वम्॥२॥

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

जयन्ति. येषां प्रसादतः **पण्डितैः** सदसद्विवेकचतुरैः भक्तिः प्राप्ता ज्ञाता च. किञ्च, ततो भक्तिमार्गाद् अन्ये ये अध्वानः प्राप्त्युपायाः [1]शुष्ककर्मज्ञानादयः तेषु यो मोहो वैचित्यम् इदं सम्यग् इदं वा इति एवंविधं तदभावः तद्विषयकभ्रान्त्यभावः. **च** शब्देन प्राप्तिः **समुच्चिता**॥१॥

मन्त्रोपासन...इति. कर्मकाण्डान्तःपाति [2]कामोपाधिकस्य गायत्र्यादेः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति भक्तीच्छुभिः तत्र परमभक्तिः तदुक्तिषु विश्वासश्च कर्तव्यः इति तेन सूचितम्. मंगलन्तु वस्तुनिर्देशरूपम्. भगवति सर्वस्वत्वबुद्धिः द्वितीयस्य. अत्रापि आशीर्मुखेन तादृशी बुद्धिः कार्या इति सूच्यते. **कर्मज्ञानादयः** इत्यादिपदेन उपासनायोगसांख्यसंग्रहः.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

सनाश्रवणादिभ्यो भिन्नं भक्तिपदार्थं भक्तिहंसग्रन्थेन निर्णिनीषन्तो विवक्षितभक्तेः इदानीं श्रीमदाचार्यप्रसादादेव प्राप्तिः इति ज्ञापयितुं तादृशमेव मंगलम् आचरन्ति **जयन्ति** इति. **तदन्याध्वमोहाभावः** इति. तस्याः भक्तेः सकाशाद् **अन्ये ये अध्वानः** कर्मज्ञानोपासनाद्याः तेषु यो मोहः स्वेष्टसाधनत्वबुद्धिदार्ढ्यं तदभावः. [3]एतेन भक्तेः अनन्यत्वं विवृत्तम्. इतरसाधननिष्ठाराहित्यपूर्वकत्वं तद् इति. अथवा प्रसादः पाण्डित्येऽपि हेतुः. तेन पूर्वं विचारसामर्थ्यं प्राप्य ततो भक्ताः जाताः इति अर्थः. एतेन भगवद्भक्तीच्छुभिः तत्र भक्तिपूर्वकं तदुक्तिषु विश्वसनीयम् इति प्राथमिकी कक्षा सूचिता. **मंगलन्तु** अत्र वस्तुनिर्देशरूपम्॥१॥

अग्रिमां कक्षाम् उपदेष्टुं प्रस्तुतं वादम् उपक्षिपन्तो मंगलान्तरम् आहुः **मन्त्र**...इति. मन्त्रोपासनं गायत्र्यादेः यस्य कस्यचिद् मन्त्रस्य पुरश्चरणपूर्वकं

---

[1] तीर्थे गृहीतप्रतीकानुरोधाद् इह शुष्कपदं न अस्ति इति तन्मतं प्रतिभाति. [2] कामौपाधिकस्य इति ख.ग. [3] एतेन भक्तितुल्यत्वं निवृत्तम्. इतरसाधननिष्ठाराहित्यपूर्वकं तदिति इति ख.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

यस्य कस्यचिद् मन्त्रस्य पुरश्चरणपूर्वकं साधनम् उपासनम् इति उच्यते. **वैदिकी** दीक्षा सौमिकी. **तान्त्रिकी** पञ्चरात्राद्यागमोक्ता:. **अर्चनं** द्रव्यादिना अन्यद्वारा कारणम्. एतै: विधिभि: **अस्पृष्टो** अनधीनो भक्तिमात्राधीन: सन् निजभक्तेषु यो रतिं मन्यते सर्वस्वास्पदीभूत: सएव अस्तु इति अर्थ:॥२॥

ननु किम् अनेन अपूर्वग्रन्थपरिश्रमेण; यत: स्वस्वमते तत्तत्पदार्थानां

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

''यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम्, स: वै दुर्ब्राह्मणो ज्ञेयम्'' (कूर्मपुरा.२।२१।२७) इति **''अदीक्षितस्य वामोरु कृतं सर्वम् अनर्थकम्''** (नार.पुरा.उ.भाग.२२।६०) **''दीक्षाहीनो नरो मृत:''(दीक्षया रहितो नर: इति नार.पुराणे.२२।६०)** इत्यादिवाक्येषु दीक्षाभावे निन्दास्मरणात् तस्या: पृथङ्निर्देशे इति आशयेन आहु: वैदिकी इत्यादि. मूले **अर्चनादि**...इत्यादि पदेन जप: संगृह्यते. ''[1]**परिहाप्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च. गायत्रीमात्रम् आश्रित्य द्विजो भवति निर्भय:''** (वै.गृ.सू.१।२६६) इत्यादौ जपादपि भयाभावोक्ते: तस्याअपि उक्ततुल्यकक्षत्वात्॥२॥

निर्णीतत्वेन इति. परमफलसाधनतया निर्णीतत्वेन इति अर्थ:

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

साधनम्. **वैदिकी** दीक्षा सौमिकी. नारायणाष्टाक्षरादिदीक्षा वा. तान्त्रिकी पञ्चरात्राद्यागमोक्ता:. अर्चनं स्वयम् अन्यद्वारा वा प्रतिमादिपूजनम्. आदिपदेन दानादीनि अन्यानि. तेषां विधिभि: [2]चोदनाभि: अस्पृष्ट: [3]फलत्वविधेयत्वोद्देश्यत्वै: असंबध्यमानत्वात् [4]तदनधीन:. निजभक्तेषु स्वीयत्वेन अंगीकृतेषु भक्तेषु **रमते** तदधीन: सन् क्रीडति. स: मे सर्वस्वम् अस्तु [5]आत्मात्मीयज्ञातिधनरूपो अस्तु इति अर्थ:. भगवति सर्वस्वत्वबुद्धि: द्वितीयाकक्षा. सा आशीर्मुखेन सूच्यते॥२॥

अत्र भगवति मन्त्रोपासनाद्यसम्बन्धम् असहमान: चोदयति—

(पा.भे.)[1]. परिहाप्याऽपीति क.परिहायेति स्यात्. [2]. शास्त्रादिभि: इति ख. [3].कर्मत्वेति ख. [4].अस्पृष्ट: इति ख. [5].सकलपदार्थविषयोरूपो अस्तितु इति अर्थ: इति ख.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

निर्णीतत्वेन सन्देहाभावाद् अप्रसिद्धसाधने अप्रामाण्याद् अनारम्भएव श्रेयान् इति चेत्, सत्यम्. भवेदेव त्वदुक्तं यदि सन्देहाभावपूर्वकं निर्णयः स्यात्, तदेव न उपलभामहे. तथाहि “**श्रोतव्यो मन्तव्यो...**” (बृह.उप.२।४।५) इत्याादिवाक्यैः श्रवणादीनां विधेयत्वं श्रूयते, यागादिवत्. “**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः**” (भाग.पुरा.७।५।२३) इत्यादिषु भक्तिरूपत्वञ्च. तथाच भवत्यत्र सन्देहः, किम् इदं श्रवणं द्विरूपम् एकरूपम् अनुभयरूपं वा इति. द्विरूपत्वे अप्रार्थितफलप्राप्तिः अधिकारविरोधश्च. एकरूपत्वे उभयत्र विधानवैयर्थ्यात्. तृतीयस्य अशक्यवचनत्वात्. केचन् ज्ञानरूपत्वं तच्छेषत्वं च भक्तेः निरूपयन्ति. केचन् शुद्धस्नेहरूपत्वं स्वतन्त्रफलत्वम् इति अनेकप्रकारकसन्देहप्राप्तेः तत्परिहाराय युक्तएव अयम् आरम्भः इति अभिसन्धाय साक्षेपं विचारम्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

अप्रसिद्धसाधने इति. अप्रसिद्धस्य तत्तद्विध्यस्पर्शस्य साधने इति अर्थः. **भक्तिरूपत्वञ्च** इति चकाराद् अविहितत्वम्. “**इति पुंसा अर्पिता विष्णौ भक्तिः चेद् नवलक्षणा क्रियते भगवति अद्धा तन्मन्ये अधीतम् उत्तमम्**” (भाग.पुरा.७।५।२४) इति वाक्ये सिद्धार्थानुवादेन विध्यभावात्. **तथाच** इति विधानाविधानाभ्याम् इदम् इति भक्तिरूपम्. नच श्रुतौ ‘आत्म’पदाद् अत्रच विष्णुपदाद् विषयभेदेन श्रवणभेदात् सन्देहानुदयः शंक्यः, ‘आत्म’पदस्य विष्णौ विशिष्यशक्तेः. “**दत्तं दुर्वाससं सोमम् आत्मेशब्रह्मसम्भवान्**” (भाग.पुरा.४।१।१५) इति ज्ञापकात्. “**सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति**” (कठोप.१।२।१५) “**वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः**” (भग.गीता १५।१५), “**सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्**” (ब्र.सू.१।२।१) “**सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषाद्**” (ब्र.सू.३।३।१) इति श्रुतिस्मृतिन्यायैः विषयभेदनिरासात्. नच प्रमाणभेदाद् भेदः, अप्रयोजकत्वात्. उक्तवाक्येषु सर्वपदोक्तेः. नच क्रमभेदाद् भेदः शंक्यो, मननादेः इतरोपलक्षकत्वस्यापि शक्यवचनत्वात्. स्वाध्यायादीनामपि श्रुतौ दर्शनात्. पुराणस्य उपबृंहणत्वेन नानाशाखोक्तसाधनसंग्राहकत्वे बाधकाभावाच्च इति. श्रवणादीनां लक्षणम् अग्रे वाच्यम्. **अशक्यवचनत्वाद्**

ननु किम् इदम् अपूर्वतरमिव उच्यते, सत्यम्. [1]अपूर्वतरमपि श्वभ्रकूपपतितभेकसदृशां त्वादृशां, नतु विदुषाम्. पूर्वमेव

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

आरभन्ते — **ननु** इति. इदम् इत्यनेन विध्यस्पर्शो भक्त्यधीनत्वं यद् उक्तमिव इत्यनेन वास्तवाज्ञानं सूचितम्. तदनुपदं स्वयमेव वक्ष्यन्ति. भूच्छिद्रायितात्पकूपस्थमण्डूकतुल्यानाम् अनेकप्रमाणसिद्धत्वं दर्शयन्ति. **तथाहि** इत्यादिना. "**ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च**" (तैत्ति.उप.१।९) इति अनुवाकोक्तमुख्यतपस्तु अस्य स्वाध्यायप्रवचनयोरेव **प्रसिद्धेः** आदौ तन्निषेधपूर्वकमेव साधनलभ्यत्वं निषिध्यते.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति. "**परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः**" (न्या.कुसु.३।८) इति न्यायात् **तथा** इति अर्थः. एवं भक्तेः धर्मविषयकः सन्देहो दर्शितः. स्वरूपविषयकं फलविषयकं च दर्शयितुं मतानि आहुः — **केचन** इति. उपासनाभक्तिवादिनः **केचन** इति. शुद्धभक्ताः श्रुतौ प्रथमतः प्रवचननिर्देशस्य हेतुं प्रकाशयन्ति **ऋतम्** इत्यादि. अस्मिन् अनुवाके एतयोरेव अभ्यासाद् उपसंहारे "**तद्धि तपः तद्धि तपः**" (तैत्ति.उप.१।९) इति कथनाद् हि यस्माद् हेतोः तत् ते स्वाध्यायप्रवचने तपः तस्मात् तएव अनुष्ठेये इति

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

ननु इत्यादि. **इदं** विध्यसम्बद्धत्वकथनम् [1]अपूर्वतरं, मन्त्रशास्त्रे उपासनप्राप्यत्वकथनात्. भगवान् मन्त्रोपासनादिविधिसम्बद्धः, तद्विहितक्रियाफलत्वात्. यद्यद्विहितक्रियाफलं तत्तद्विधिसम्बद्धम्. "**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**" (मैत्रा.उप.६।३६) इत्यादिविहितक्रियाफलभूतस्वर्गादिवद् इत्याद्यनुमानाच्च[2] सम्बन्धसिद्धेः अप्रामाणिकमिव इत्यनेन सिद्धान्तिनः आग्रहवादित्वम् अज्ञानञ्च सूचयति. तत्र सिद्धान्तं वदिष्यन्तः तदुक्तम् उपगम्य [3]तमेव तादृशम् आहुः **सत्यम्** इत्यादि. श्वभ्रं छिद्रम्. तथाच भूच्छिद्रायिताल्पकूपपतितमण्डूकतुल्यानाम् अल्पज्ञानेन कर्णकटुः जल्पतां त्वादृशां तथैव नतु बहुज्ञानाम् इति अर्थः. एवं प्रतिवादिनम् आक्षिप्य प्रतिज्ञातस्य

---

१. अपूर्वतरतममपीति क्वचित् पाठः. २. इत्याद्यनुमानात् असम्बद्धसिद्धेः अप्रामाणिकत्वम् इति ख. ३. तमेव वादिनम् इति क.

अनेकप्रमाणसिद्धत्वात्. तथाहि : ''न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेव एषः वृणुते तेन लभ्यः'' (मुण्ड.उप. ३।२।३) इति श्रुतौ 'यमेव' इति सामान्योक्त्या अग्रिमेण च भगवदंगीकारमात्रैकलभ्यत्वोक्त्या 'प्रवचना'दिपदानि आत्मीयत्वेन भगवदंगीकारातिरिक्तयावत्साधनोपलक्षकाणि इति ज्ञायते. तेन जीवकृतिसाध्यसाधनैः अप्राप्यत्वम्

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

'प्रवचनम्' अध्यापनम्. 'मेधया' धारणशक्त्या, ग्रन्थस्फूर्तिबलेन न बहुपाठेन. 'वृञ्' वरणे इति धातो रूपम्. 'वृणुते' स्वीकरोति. 'यम्' कञ्चित्. अग्रिमेण तेन लभ्यः इति वचनेन. प्रवचनादिपदानि ''**प्राणभृतः उपदधाति**'' (शतपथब्रा.८।१।१।१) इतिवत् सर्वसाधनोपलक्षणतया उक्तानि. **तेन** इति.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

व्याख्यानाद् मुख्यतपस्तु अस्य तयोरेव प्रसिद्धेः इति अर्थः. **प्राणभृतः उपदधाति इतिवद्** इति. यथा ''**अयं वै पुरो भुवः... तस्य प्राणो भौवायनः**'' (शतपथब्रा.८।१।१।४-५) इति एकमन्त्रगतप्राणशब्दभृत्त्वरूपलिंगसादृश्येन तत्सहपठिताः मन्त्राः [१]प्राणभृत्त्वेन उपलक्ष्यन्ते इति [२]तन्मन्त्रेण उपधेया इष्टकापि ''**तद्वान् आसाम् उपधानो मन्त्रः**'' (पा.सू.४।४।१२५) इति सूत्रेण प्राणभृत्त्वेन बोधिताः तथा अत्र [३]प्रवचनादिपदैरपि जीवकृतिसाध्यत्वरूपलिंगकानि ऋतादीनि अन्यानि च साधनानि उपलक्ष्यन्ते इति तथा इति अर्थः. अत्र यत् फलितं तद् आहुः मूले. **तेन** इत्यादिना.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

प्रमाणसिद्धत्वम् उपपादयितुं तानि उपन्यस्य व्याचक्षते **तथाहि** इत्यादिना. **न अयम्** इत्यादि. इयं श्रुतिः कठवल्यां श्वेताश्वेतरोपनिषदि च वर्तते. उभयत्रापि ब्रह्मैव उपक्रान्तम् इति 'अयम्' इत्यनेन परमएव [४]आत्मा उच्यते. 'प्रवचन'पदं वेदे रूढम्. तदत्र वाच्यतासम्बन्धेन तदुक्तसाधनानि लक्षयति. 'मेधा' धारणावती बुद्धिः. साच पुरुषनिष्ठस्वाभाविकसाधनानि. श्रुतञ्च आगन्तुकानि. तदेतद् अभिसन्धाय आहुः **प्रवचनादि** इत्यादि.

---

१. प्राणेन उपलक्ष्यन्ते इति क. २. तन्मन्त्रेण उपध्येयाः इति क. ३. प्रवचनानि अन्यानि च साधनानि उपलक्ष्यन्ते इति तथा इति अर्थः इति क. ४. आत्मा इति उच्यते इति ख.

उक्तम् भवति. पूर्वं जीवगतोत्कर्षोऽपि अप्रयोजकः इत्यपि. वरणोक्त्या यथा कन्या स्वाभिमतमेव स्वपतित्वेन वृणुते वरो वा तादृशीमेव कन्यां स्वस्त्रीत्वेन तथा भगवान् स्वदासत्वेन आत्मीयत्वेन अंगीकरोति इति उच्यते. तथाच यथा तदनन्तरं न अन्यत्र विनियोगः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

भगवत्कृतिसाध्यानुग्रहसाध्यत्त्वम् इति शेषः. यद्यपि अनुग्रहो ज्ञातुम् अशक्यः तथापि महापुरुषानुग्रहानुमेयो अस्तीति ज्ञायते. पूर्वं महदनुग्रहात्. उत्कर्षो महाकुलीनत्वादिः. वरणोक्तेः तात्पर्यं वर्णयन्ति यथा इति. तदनन्तरं वरणानन्तरम्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

तेन इति. प्रवचनादिपदानां जीवकृतयावत्साधनोपलक्षकत्वेन इति अर्थः. एवं फलितार्थकथनेन यत् सिद्ध्यति तद् आहुः तेन इति. तथाच फलितकथने अग्रिमग्रन्थविचारेण एतावान् विशेषो बोध्यः इति अर्थः. ननु भगवदिच्छायाइव भगवदनुग्रहस्य सर्वदा ज्ञातुम् अशक्यत्वाद् मूले पूर्वपदेन उत्तरावधिः को अभिप्रेयते? तं वक्तुम् आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **इति ज्ञायते** इति. तथाच अयं भगवदनुगृहीतः महापुरुषानुगृहीतत्वात्. प्रचेतोनलकूबरादिवद् इति कार्यलिंगकानुमानेन ज्ञायते इति अर्थः. **पूर्वम्** इत्यादि. तथाच महदनुग्रहरूपं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

आत्मीयत्वं जीवसम्बन्धित्वम्. तस्य विषयितासम्बन्धेन अंगीकारेऽपि सत्त्वात् तद्वारणाय अंगीकारातिरिक्तेति. **उपलक्षकाणि** इति. उपलक्षकं नाम विशेष्यतानवच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकम्. यथा "[१]**जटाभिः तापसः**" इति लोके जटा तापसत्वोपलक्षिका. वेदे च "**प्राणभृतः उपदधाति**" (शतपथब्रा.८।१।१।१) इत्यत्र **तथा** "[२]**अयं वै पुरो भुवः...तस्य प्राणो भौवायनः**" (शतपथब्रा.८।१।१।४-५) इति उपधानकरणभूतैकमन्त्रगत-[३]प्राणशब्दभृत्त्वरूपलिंगसादृश्येन तत्सहपठिताः मन्त्राः प्राणभृत्त्वेन उपलक्ष्यन्ते इति प्राणभृत्त्वं तत्सहपठितमन्त्रोपलक्षकम्. तथा अत्र विशेष्यतानवच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकेन आत्मीयत्वेन प्रवचनादिपदैः जीवनिष्ठानि [४]त्रिविधानि

---

[१]. जटा तापसत्वोपलक्षिका इति क.[२]. अयं पुरो भुवः इति क. [३]. प्राणशब्दभृत्त्वलिंगरूपलिंग इति ग. [४]. विविधानि इति ख.

तस्या: तथा एतस्यापि इति ज्ञापितं भवति. पूर्वं केनापि ज्ञातुम् अशक्यम् इत्यपि. एवं सति विहितक्रियाफलत्वेन स्वर्गादिवद् भगवति पूर्वोक्तविधिसम्बन्धस्तु न शक्यवचन:, स्वकृत्यसाध्यत्वाद् यागादिवदपि-

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इति अर्थ:. **तथा एतस्य** इति. तस्य भगवतोऽपि अन्यत्र विनियोजकत्वाभाव: इति अर्थ:. यथा लौकिकपति: स्वभार्याम् अन्यासक्तिराहित्यपूर्वकं स्वासक्तामेव करोति तथा अत्रापि इति भाव:. **पूर्वम्** इति. फलानुमेयमेव इति भाव:. **एवम्** इति. यथा स्नानदानादिविहितक्रियाकर्तु: स्वर्गादिकं फलं स्वसम्बद्धम् उत्पद्यते, न तथा भगवान् कस्यचित् कर्मण: फलीभूत: तत्सम्बद्धो भवति इति अर्थ:. **स्वकृति**...इति. स्वरूपस्य सर्वदा सिद्धत्वाद् न यागादिवत्-

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

कार्यमेव उत्तरावधि: इति अर्थ:. दृष्टान्ते वृताया: उक्तत्वाद् दार्ष्टान्तिके यद्यपि जीवो वाच्यो वृतत्वेन तथापि वरणस्य भगवदधीनत्वात् फलितं पदार्थं निष्कृष्य तदर्थम् आहु: **एतस्य** इत्यादि **फलानुमेयम्** इति. महापुरुषानुग्रहभगवदेकतानतादिरूपफलानुमेयम् इति अर्थ:. **एवम् इति** इति. उक्तश्रुतौ उपलक्षणविधया जीवकृतसर्वसाधनप्राप्यतानिषेध: इति अर्थ:. **स्वसम्बद्धम्** इति. विधिसम्बद्धम् इति अर्थ:. **आत्मा** इति. सिद्धनिर्देशविचारेण आहु: **स्वकृति**...इति. **तदाधार:** इत्यादि. तदाधार: कृत्याधार:. **तथाच**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

साधनानि उपलक्ष्यन्ते इति तानि तथा इति अर्थ:. **इत:** आरभ्य इति उच्यते इत्यन्तेन पदानाम् अर्थो विचारित:. वाक्यार्थम् आहु: **तथाच** इत्यादि. फलितार्थम् आहु: **एवं** [१]**सति** इत्यादिना. **एवं सति** इति. पदार्थे वाक्यार्थे च विचारिते सति **न शक्यवचन:** इति. पूर्वार्धविचारात् तथा इति अर्थ:. एतेन श्रुतिविरोधाद् मन्त्रशास्त्ररूपस्मृतीनां [२]तन्मूलकानुमानस्य च अप्रामाण्यं सूचितम्. भगवान् मन्त्रोपासनादिविध्यसम्बद्ध: वर्णातिरिक्तसाधनाप्राप्यत्वेन [३]श्रावितत्वाद् इति प्रत्यनुमानेन पूर्वोक्तस्य हेत्वाभासत्वं च सूचितम्. आत्मपदार्थविचारेण आहु: **स्वकृति**...इत्यादि. ननु अस्तु फलत्वेन [४]विधेयत्वेन

---

[१] एवं सति इत्यादि इति क. [२] तन्मूलकाप्रामाण्यम् इति ख. [३] श्रुतत्वाद् इति अनुमानेन पूर्वोक्तस्य हेतुत्वाव्याप्यत्वं सूचितम् इति ख. श्रुतत्वाद् इति प्रत्यनुमानेन इत्यादि ग. [४] कर्मत्वेन इति ख.

न तथा. अतः परम् इन्द्रादिवत् तदुद्देश्यत्वेन तत्सम्बन्धो अवशिष्यते. तत्रापि वदामः. "सर्वस्य वशी सर्वस्य इशानः" (बृह.उप.४।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यो "देवो असुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्वएव वा भजन्

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

-कृतिनिष्पाद्यत्वं तदाधारोत्पाद्य[1]विकार्यसंस्कार्यत्वलक्षणं फलकर्मत्वं वा [2]वक्तुं शक्यम् इति अर्थः. **अतः परम्** इति. पक्षद्वयनिरासानन्तरम् इति अर्थः. **तदुद्देशेन** कर्माचरणलक्षणः इति अर्थः. **तत्रापि** इति. यादृशे सम्बन्धः उच्यमाने न दोषः तादृशं **वदामः** इति अर्थः. सर्वोपास्यत्वलक्षण-

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

"घटं करोति" "ग्रामं गच्छति" "व्रीहीन् वहति" "व्रीहीन् प्रोक्षति" [3]इत्यादिवद् न कृतिफलत्वं फलशालित्वं वा वक्तुं शक्यम् इति भावः. श्रुतौ उद्देश्यतायाः अनिषेधाद् मन्त्रप्रकाश्यत्वतदधिष्ठातृत्वाभ्यां पूज्यत्वादिना च यः तत्तद्विधिसम्बन्धो मूले अवशिष्टत्वेन उक्तः तत्स्वरूपम् आहुः **तदुद्देशेन** इत्यादि. **तत्रापि** इति. श्रवणादिरूपम् इत्यन्तस्य ग्राहकम् इदं प्रतीकम्. **वदामः** इति एवम् उक्तौ बीजम् आहुः **सर्वोपास्य** इत्यादि. "**सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति**" (कठोप.१।२।१५) "**वेदैश्च सर्वैः**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

च असम्बन्धः परन्तु उक्तश्रुतौ उद्देश्यतानिषेधकस्य अभावाद् मन्त्रप्रकाश्यत्वतदधिष्ठातृत्वाभ्याम् उद्देश्यतया सम्बन्धः केन वार्यः. तथाच मन्त्रोपासनादिविधिसम्बद्धः तच्छास्त्रविहितक्रियोद्देश्यत्वात्. तदुद्देश्यः तच्छास्त्रप्रतिपाद्यत्वात्. तत्प्रतिपाद्यः तत्प्रधानमन्त्रप्रकाश्यत्वाद् अधिष्ठातृत्वात् च. शैवशास्त्रप्रतिपाद्यशिववद् इति अनुमानमपि तत्र प्रमाणम् इति शंकायां तत्र कश्चिद् विशेषं वक्तुम् पूर्वं तदुक्तम् अभ्युपगच्छन्ति **अतः परम्** इत्यादि. तर्हि कथम् अस्पर्शः इति आकांक्षायाम् आहुः **तत्रापि वदामः** इति उद्देश्यत्वेऽपि त्वद्विचारितवैलक्षण्यं वदामः. तथाच त्वद्विचारितरूपेण अस्पर्शः सुस्थः इति अर्थः. तम् उपपादयन्ति **सर्वस्य** इत्यादि. उक्तश्रुतौ 'सर्व'पदाद्

---

[1] प्यविकार्यसंस्कार्यत्वलक्षणकर्मत्वं वा इति क. ख. ग.[2] न वक्तुम् इति घ.

[3] इत्यादिवत् कृतिफलत्वं फलशालित्वं वा वक्तुं शक्यम् इत्यादि क. इत्यादिवद् न इति फलत्वं फलशालित्वं वा न वक्तुम् शक्यम् इत्यादि ख. प्रतिभातन्तु निवेशितम्.

मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्'' (भाग.पुरा.७।७।५०) ''को नु राजन्! इन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं, न भजेत् सर्वतोमृत्युः उपास्यम् अमरोत्तमैः'' (भाग.पुरा.११।२।२) ''मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्'' (भग.गीता ९।३२) इत्यादिस्मृतिभ्यश्च जीवमात्रस्य भगवान् पतिः इति स्त्रियाः स्वपतिभजनवद् जीवमात्रस्य भगवद्भजनम् इष्टम् इष्टसाधनञ्च इति अंगीकार्यं सर्वथा. तच्च श्रवणादिरूपम्. एवं सति भगवानिव तद् नामादिकमपि सर्वान् प्रति अविशिष्टम् इति मन्तव्यम्. मन्त्रशास्त्रेतु निगद्यते ''राममन्त्रः तदधिष्ठातृभजनं च

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

सम्बन्धस्तु सर्वैरपि अंगीकार्यः. [1]सच्च **''सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः''** (बृह.उप.४।४।२२) इत्याद्युदाहृतश्रुत्यर्थपर्यालोचने अनुग्रहएव पर्यवस्यति. न तेन अस्मदनिष्टं किञ्चिद् इति भावः. **इष्टम्** इति स्वतः पुरुषार्थत्वोक्त्यभिप्रायेण उक्तम्. एवं सति इति. उदाहृतप्रमाणनिचयेन सर्वोपास्यत्वेन अविशिष्टस्य

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

अहमेव वेद्यः'' (भग.गीता १५।१५) **''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्''** (ब्र.सू.१।२।१) **''सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्''** (ब्र.सू. ३।३।१) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धत्वात् सर्वैः अंगीकार्यः. परन्तु तदुपास्यत्वं केन रूपेण इति आकांक्षायां सः सम्बन्धः उक्तश्रुतिविचारे सर्वेश्वरत्वेन सर्वाविशिष्टत्वेन रूपेण इति भानम् अनुगृहीतानामेव भवतीति अनुग्रहएव पर्यवस्यति. तथाच

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

जीवमात्रस्य भगवान् पतिः. स्मृतिषु देवादिपदैः **'इन्द्रियवत्'**पदेन येऽपि इत्यादिपदैश्च जीवमात्रस्य भगवद्भजनम् इष्टम्. **स्वस्तिमान् स्याद्** इत्यादिपदैश्च इष्टसाधनम् इति अंगीकार्यम् इति अर्थः. **तच्च** इत्यादि. उक्तवाक्योक्तं भजनं च श्रवणादिरूपं, नतु मन्त्रोपासनादिरूपम् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **एवं सति** इत्यादिना. **एवं सति** इति. उक्तश्रुतिस्मृतिभिः [2]सर्वाधिकारकत्वे

---

[1] सतु इति ग. इतः प्राक् ''तत्र श्रवणादिरूपं भजनम् इति अर्थः'' इति अयम् अंशो अधिको दृश्यते तत्रैव.

कस्यचिद् मित्रं, कस्यचिद् अरिः, कस्यचित् सिद्धं, कस्यचित् साध्यम्'' इत्यादि. एवमेव गोपालादिमन्त्राः तदधिष्ठातृभजनानि च इति. एवं सति तदधिष्ठातृरूपस्य पुरुषोत्तमत्वे पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिन्यायेन सर्वान् प्रति भजनीयत्वेन अवशिष्टं स्याद् नतु तथा इति अन्यथानुपपत्त्यैव

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

उपासनासाधनानामपि अविशिष्टत्वम् उचितम्. तथा सति रामगोपालादीनां

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

अनुगृहीतैः स्वस्वानुग्रहानुरूपप्रनाड्या [1]मन्त्रादिभिः उपास्यः इति वक्तव्यम्. तत्तु अस्माकमपि इष्टमेव. अतः तद्व्यतिरिक्तरूपेण उद्देश्यत्वनिवारणम् उपपादयामः इति अर्थः. अत्र मूले श्रुत्या सर्वेश्वरत्वम् उक्तम्. प्राथमिकस्मृत्या सर्वपदार्थैकदेशभूतान् देवादीन् संगृह्य भगवद्भजनस्य तदिष्टसाधकत्वम् उक्तम्. द्वितीयया अनिष्टनिवारकत्वम्. तृतीयया आश्रयस्य तथात्वम् उक्तम्. तदर्थो जीवमात्रेत्यादिना संगृहीतः. तच्च इत्यादिना भजनस्वरूपम् उक्तम्. एतेषु नवसु स्मरणं ''**मय्यावेश्य मनो ये माम्**'' (भग.गीता१२।२) इति उक्तोपासनस्य संग्राहकम्. दास्यम् आश्रयस्य उपलक्षकं ज्ञेयम्. **एवं सति** इति प्रतीकं धृत्वा [2]फक्किकार्थम् आहुः **उदाहृत** इत्यादि **उचितम्** इत्यन्तम्. तथाच **एवं सति** इत्यस्य सर्वान् प्रति अविशिष्टत्वे सति इति अर्थः. अस्त्वेवं सर्वविशिष्टत्वं भगवत्तद्भजनयोः. तावता मन्त्रोपासनादिविध्युद्देश्यत्वं केन रूपेण वारितं भवति इति आकांक्षायां तद् रूपं मूले आहुः **मन्त्रशास्त्रे** इत्यादिना. **एवं सति** इति. मन्त्रादेः भजनोपकरणत्वे सति. **अवशिष्टम्**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

सिद्धे सति. अस्तु अवशिष्टम्. तावता कथं वादिविचारितोद्देश्यत्वनिवृत्तिः इति आकांक्षायां वैधर्म्याद् निवृत्तिं वक्तुं वैधर्म्यम् आहुः **मन्त्र...**इत्यादि. **च इति** इति. निगद्यते इति पूर्वेण अन्वयः. निवृत्तिं व्युत्पादयन्ति—**एवं सति** इत्यादिना. **एवं सति** इति. त्वद् विचारितरीत्योद्देश्यत्वे सति. **अविशिष्टं**

---

१. प्रणाममन्त्रादिभिः इति क. २. अधिकार्थम् आहुः इति क. ३. सर्वाधिकारित्वे इति ख.

तत्पुरुषोत्तमस्य विभूतिरूपं भिन्नमेव इति मन्तव्यम्. ननु विहितप्रकारेण

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

मन्त्राधीनपुरुषोत्तमत्वे सिद्धसाध्यत्वाद्यंगीकार्यं फलप्राप्तितदभावान्यथानुपपत्त्या. एवं सति सर्वोपास्यत्वहानिः. तथा सति शास्त्रप्रामाण्यानुरोधेनापि विभूतिरूपोपासनमेव कल्प्यम्. तादृशस्य [1]विशिष्टत्वेऽपि सामञ्जस्यमेव इति अर्थः. यत्र फलतदभावौ सिद्धादिनिबन्धनौ प्रतीयेते तत्र विध्युक्तभजनाभावहेतुकौ

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति मन्त्राधिष्ठातृरूपम् इति शेषः. एवं ग्रन्थं मनसि कृत्वा टीकायाम् आहुः **तथा सति** इत्यादि. तथा सति मन्त्राधिष्ठातृत्वे सति. **एवं सति** इति. सिद्धादिभावे सति. **तथा सति** इति. शास्त्रयोः विरोधे सति. **कल्प्यम्** इति. शास्त्रद्वयसामञ्जस्य अर्थं कल्प्यम्. तथाच मन्त्रशास्त्रीयविधौ मन्त्राधिष्ठातृतया उद्देश्यत्वेन विभूतेरेव सम्बन्धइति तावतैव तेषां भगवत्परत्वं, नतु साक्षाद् इति तत्र मूलरूपेण उद्देश्यत्वं निवारितम् इति अर्थः. एवञ्च अत्र भक्तिमार्गीयश्रवणादीनाम् उपासनामार्गीयश्रवणादीनां च आपाततः सारूप्येऽपि रूपभेदाद् भेदो बोधितः. यथाहि आमिक्षाधिकरणे (जै.सू.४।१।३) द्रव्यदेवते यागस्य रूपमिति तद्भेदाद् आमिक्षावाजिनयागयोः भेदः तथा अत्र श्रवणादित्रयस्य विषयो रूपं पादसेवनादीनां परिचरणीयादि रूपमिति तद्भेदाद् भेदः. नच नामरूपलीलानां सामान्याद् विषयादिरूपयोः [2]देवतयोः अभेदः शंकनीयः, तत्सामान्येऽपि भेदस्य शास्त्रसिद्धत्वात्. शिवपुराणे संहाररुद्रमाहात्म्यं प्रस्तुत्य "सः एषः भगवान् ईशः तेजोराशिः अनामयः. अनादिनिधनो धाता भूतसंकोचको विभुः. परमैश्वर्यसंयुक्तः परमेश्वरभावितः.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

स्याद् इति मन्त्रो देवता तद्भजनं च तथा स्यात्. **मन्तव्यम्** इति, तथाच मन्त्रशास्त्रीयविधौ उद्देश्यत्वेन विभूतेरेव सम्बन्धो नतु [3]साक्षाद् भगवतइति त्वद्विचारितरूपेण उद्देश्यत्वे निवृत्ते तथा विध्यस्पर्शः सुस्थएव इति अर्थः. एतेन असम्बद्धः, अनुद्देश्यत्वात्. अनुद्देश्यः, तच्छास्त्राप्रतिपाद्यत्वात्.

---

१. विशिष्टत्वेऽतीति ख. घ. २. देवतयोः भेदः इति क. ३.तस्य भागवतः इति ख.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

न पूर्वोक्तहेतुकौ तौ इति भ्रान्त्याकुलितचित्तः शंकते ननु इति.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

तच्छक्त्या अधिष्ठितः शश्वच्चिह्नैरपि चिह्नितः तन्नामनाम तद्रूपः तत्कार्यकरणक्षमः, तत्तुल्यव्यवहारश्च तदाज्ञापरिपालकः" (शिवपुरा.७।१।१४-।७) इति वाक्यात्. पराशरपुराणेऽपि "**माहेश्वरपुराणानि**" (पराशरोपपुराण.३।-११) इत्यादिना शैवपुराणानां परमशिवसंहाररुद्रोभयपरत्वम् उक्त्वा "**वैष्णवानि पुराणानि समस्तानि महामुने! त्रिमूर्तीनां हरेः नाम्ना मूर्त्या तस्य परं पदं, प्रवदन्ति पुराणे द्वे ब्राह्मे चैव अनया दिशा**" (पराशरोपपुराण.३।१४) इति गुणिविष्णुपरमविष्ण्वोः नामरूपलीलैक्येऽपि भेदकथनात्. महाभारतेऽपि "**मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाः च**" (महाभा.आदिप.१।१।१०२) इति. अंशावतरणे "**कृष्णः केशावतारः**" ( ) इति कथनाच्च. श्रीभागवतेऽपि "**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**" (भाग.पुरा.१।३।२८) इति. "**तौ इमौ वै भगवतो हरेः अंशौ**" (भाग.पुरा.४।१।५९) इति कथनाच्च. एवं नामाद्यभेदेऽपि सिद्धे पदार्थभेदे रूपभेदाद् भेदो निर्बाधः इति दिक्. **विध्युक्तभजनाभावहेतुकौ** इत्यादि तथाच "**मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा**" (पाणिनीयशिक्षा.५२) इति न्यायेन विध्यपराधादेव तत्र फलवैषम्यं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

अप्रतिपाद्यः तच्छास्त्रोक्तधर्मरहितत्वात्, तद्विरुद्धधर्मकत्वाच्च. यदेवं तदेवम्. [१] वैष्णवशास्त्रप्रतिपाद्यशिववद् इति प्रत्यनुमानं बोधितम्. इदञ्च श्रुत्यनुगृहीतत्वात् पूर्वोक्तबाधकम्. तथाच भक्तिविरुद्धधर्मकत्वाद् उपासनायाअपि भक्तिभिन्नत्वं साधितम्. नच नामरूपलीलानां सामान्याद् रामादिरूपाणां विभूतित्वांगीकरणम् असंगतम् इति शंक्यं तत्सामान्येऽपि भेदस्य शास्त्रसिद्धत्वात्. तथाहि : शिवपुराणे संहारकरुद्रमाहात्म्यं प्रस्तुत्य "**सः एषः भगवान् ईशः तेजोराशिः अनामयः अनादिनिधनो धाता भूतसंकोचको विभुः. परमैश्वर्यसंयुक्तः परमेश्वरभावितः. तच्छक्त्या अधिष्ठितः शश्वत्तच्चिह्नैरपि चिह्नितः. तन्नामनाम**

---

[१] 'विष्णुवद्'इति इति ख.

भजनं हि सर्वस्यापि इष्टदम् अतो न अनुपपत्तिः काचिद् इति चेद्, उच्यते. "यान् आस्थाय नरो राजन्! न प्रमाद्येत कर्हिचिद्

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

समादधते **यान् आस्थाय** इति आरभ्य **नतु अन्यथा** इत्यन्तेन. अत्र अयम् आशयः. यदि गोपालादिमन्त्राणां पुरुषोत्तमाधिष्ठितत्वमेव न विभूतिपरत्वं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

नतु पुरुषोत्तमाधिष्ठातृकत्वाभावाद् इति न तेन पुरुषोत्तमस्य उद्देश्यत्वं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तद्रूपः [१]तत्कार्यैकरणक्षमः, तत्तुल्यव्यवहारश्च तदाज्ञापरिपालकः" (शिवपुरा.-७।१।१४।५-७) इति. पराशरपुराणेऽपि 'माहेश्वरपुराणानि' इत्यादिना शैवपुराणानां परमशिवसंहाररुद्रोभयपरत्वं व्यवस्थाप्य "**वैष्णवानि पुराणानि समस्तानि महामुने! त्रिमूर्तीनां हरेः नाम्ना मूर्त्या तस्य परं पदं, प्रवदन्ति पुराणे द्वे ब्राह्मे चैव अनया दिशा**" (पराशरोपपुराण.३।१४) इति गुणिविष्णुपरमविष्णवोः नामरूपलीलैक्येऽपि भेदबोधनात्. महाभारतेऽपि "**मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च**" (महाभा.आदिप.१।१।१०२) इति. [२]अंशावतरणे "**कृष्णः केशावतारः**" इति [३]कथनाच्च. श्रीभागवतेऽपि "**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**" (भाग.पुरा.१।३।२८) इति. "**तौ इमौ वै भगवतो हरेः अंशौ इह आगतौ**" (भाग.पुरा.४।१।५९) इति कथनाच्च. एवञ्च अत्र वक्ष्यमाणानां भक्तिमार्गीयाणाम् उपासनामार्गीयाणां च श्रवणादीनाम् आपाततः स्वरूपतौल्येऽपि रूपभेदाद् भेदो अनुसन्धेयः इति सूचितम्. यथाहि आमिक्षाधिकरणे "द्रव्यदेवते यागस्य रूपम्" इति तद्भेदाद् आमिक्षावाजिनयागयोः भेदः तथा अत्र श्रवणादित्रयस्य विषयो रूपं पादसेवनादीनां परिचरणीयादीनि रूपमिति तद्भेदाद् भेदः इति. एवञ्च मन्त्रशास्त्रीयमन्त्रप्रकाश्यः पुरुषोत्तमः श्रुत्युक्तः [४]तन्नामरूपलीलकत्वात्. भक्तिशास्त्रसिद्धपुरुषोत्तमवद् इति प्रत्यनुमानस्य [५]विभूतिसाधारण्येन व्यभिचारितया हेत्वाभासत्वं बोध्यम्. अत्र चोदयति

---

१. तत्कार्यैकरणाक्षमः इति ख. २. अंशावतारणे इति ख. ३. चकारो अयं क्वचिदपि नास्ति. प्रतिभातस्तु निवेशितः. ४. श्रुत्युक्ततन्नामरूपलीलाकथनाद् इति ख. ५. उभयसाधारण्येन इति ख.

धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेद् न पतेद् इह'' (भाग.पुरा.११।२।३५) इति वाक्ये भगवद्धर्मास्थितिमात्रेणैव भगवत्प्राप्त्यर्थम् अत्यार्त्या नित्यसाधनपरित्यागे शास्त्रगुरूल्लंघनेऽपि फलविलम्बः फलाभावो वा न भवति इति निरूप्यते. आस्थितिस्तु कायवांगमनसां तदीयत्वम्. एवं सति मन्त्रोपासनायाअपि यदि भगवद्धर्मत्वं स्यात् तदा

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

तदेतद् उपासनमपि साक्षाद्भगवद्भजनव्यपदेशभाग् भवेत्. तथा सति भक्तिमार्गीयभगवद्धर्मपरस्य स्नेहोत्पत्तौ कदाचिद् मार्गबलेन अन्यथा आचरणेऽपि न नियतकालीनफलसमयातिक्रमो नापि फलाभावः इति यथा मार्गप्रविष्टस्य श्रूयते तथैव उपासनानिष्टस्य अरिमन्त्रपरस्यापि स्यात्. दृश्यतेतु अन्यथा. तथा सति शास्त्रसम्प्रदायविरोधः स्यात्. तस्माद् विभूतिपरत्वमेव इति सिद्धम्. कायवांगमनसां तदीयत्वं तत्परत्वम् इति अर्थः. ननु अत्रापि स्नेहोत्पत्तौ सत्याम् अन्यथा आचरणं न दोषाय इति [1]समः समाधिः इति चेद्, न. तादृशस्नेहरूपकार्यस्य ऐहिकम् आमुष्मिकं वा किञ्चिद् भक्तिमार्गीयमेव वाच्यं कारणम्. अन्यथा फलश्रवणं विसंवादि भवेत्. अकामितफलप्राप्तिकथने अवाञ्छितानिष्टमपि कदाचिद् भवेत्. तस्माद् न [1]समः समाधिः इति

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

ननु इत्यादि. तथाच "**मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो**" (पाणिनीयशिक्षा.५२) इति न्यायेन [2]साध्यादिस्थले फलविलम्बफलाभावौ विध्यपराधनिबन्धनौ, साध्यस्थले अधिकारिणो जघन्यत्वाद्, अरिस्थले अनधिकाराच्च. ननु इदं वैषम्यं, पुरुषोत्तमानधिष्ठितत्वात्. अतः तत्रापि पुरुषोत्तमस्य साक्षाद् अधिष्ठातृत्वं निर्बाधमिति तद्विध्युद्देश्यत्वं न अस्मद् रीत्यापि हीयते इति तदाशयः. यद्यपि सिद्धत्वादीनां कण्ठोक्तत्वेन न्यायापेक्षया प्रबलत्वाद् आशंकैव न उदेति तथापि वादिनो ग्रहिलत्वात् तदनुक्त्वा प्रकारान्तरेणैव समादधते [3]**उच्यते** इत्यादि **नतु अन्यथा** इत्यन्तम्. तदीयत्वम् इति तत्परत्वम्.

---

[1] मनःसमाधिः इति घ. [2] बाधादिस्थले इति ख. [3] मैवम् इत्यादि नतु अन्यथा इत्यन्तम् इति ख.

तत्परत्वमात्रेणैव यस्य कस्यचिद् इष्टमेव फलं भवेद् नतु अन्यथा. ननु "सर्वेषु वर्णेषु तथा आश्रमेषु नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु, दाता फलानाम् अभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र: एष:" (क्रमदीपिका.१।४) इति वाक्यात् सर्वाभीष्टदत्वं गोपालमन्त्रोपासनायाम् अस्ति इति न उक्तरूपता इति चेत्, सत्यम्. अस्ति सर्वाभीष्टदत्वम्. [1]नतु उक्तरूपतापि

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

भाव:. यथा पुरुषोत्तमो भक्तिमार्गे सर्वाभीष्टद: तथा मन्त्राणामपि फलश्रुते: तादृशफलप्रदत्वं न पुरुषोत्तमविषयत्वम् अन्तरेण इति आशयेन आह **ननु** इति. **नतु उक्त...** इति. [2]भजनरूपत्वं न इति अर्थ:. अनारभ्याधितत्वाभावाद् न सर्वप्रकृतिरूपपुरुषोत्तमपरत्वं युक्तं [3]पर्णमयीत्ववत्. तत्तत्काण्डान्त:पातिततत्तत्प्रकरणानां स्फुटम् उपलम्भात्. नहि इति. कर्मांगत्वेन कर्मसाद्गुण्यार्थं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

वारयितुं शक्यते इति अर्थ:. **इति भाव:** इति. तथाच भगवद्धर्मेषु विध्यपराधनिषेधाद् उपासनायाश्च तच्छालित्वाद् मूलएव कुठारइति न अत्र भगवत: उद्देश्यत्वं सम्भावयितुं शक्यम्. अत: पूर्वोक्तम् अदुष्टम् इति भाव:. मूले सर्वाभीष्टदत्वं सर्वेषाम् अभीष्टदातृत्वम्. तथाच मित्रार्यादिभावकथनाद् मन्त्राणां विभूतिपरत्वांगीकारो अप्रयोजक: इति सिद्धे भगवद्धर्मत्वे भगवत: साक्षादुद्देश्यत्वम् अदण्डवारितम् इति अर्थ:. अत्र समादधते **सत्यम्** इत्यादि. **उपासनामार्गीयत्वाद्** इति तथाच प्रकरणभेदाद् न तत्र पुरुषोत्तमस्य उद्देश्यत्वम् इति भाव:. एतद् व्याकुर्वते [4]**नतु उक्त...** इत्यादिना **पर्णमयीत्ववद्**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

तथाच आस्थाय भगवत्परै: कायवांगमनोभि: कृत्वा इति अर्थ:. **यस्य कस्यचिद्** इति. अरिमन्त्रोपासकस्य. तथाच भगवद्धर्मेषु विध्यपराधनिषेधाद् उपासनायां [5]तत्सत्त्वाद् न भगवद्धर्मत्वं शक्यवचनम् इति तद्विधौ

---

१. न त्वनुक्तरूपतापि इति क्वचिद्. २. भगवद्रूपत्वं न इति घ. ३. पर्णमयीवद् इति ख. ४. ननु उक्तत्यादिना इति द्वयोरपि पुस्तकयो: पाठ:. व्याख्येयानुरोधाद् एवमेवतु युज्यते. ५. तदभावाद् इति. ख.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति. यथा ''**यस्य पर्णमयी जुहूः भवति न सः पापं श्लोकं शृणोति**'' (तैत्ति.संहि.३।५।७।२) इति अनारभ्योक्तमपि पर्णमयीत्वं वाक्येन क्रतुसम्बन्धितया प्रत्याय्यते तथा. तत्तत्काण्डान्तःपाति-तत्तत्प्रकरणानां रामतापनीये ''[1]**उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना**'' (श्रीरामताप.उ-प.७) इति गोपालतापनीये ''**ते होचुः उपासनम् एतस्य परमात्मनो गोविन्दस्य अखिलधारिणो ब्रूहि**'' (गोपाल.पूर्व.१।४) इति नृसिंहतापनीये मन्त्रोद्धाराद्युपासना

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

भगवतः साक्षादुद्देश्यत्वं दूरनिरस्तम् इति भावः. नच आस्थितिस्वरूपविचारे परिपाकदशायां विध्यपराधनिषेधः फलति नतु आरम्भदशायाम्. तथा सति परिपाकदशायां [2]विध्यपराधो न उद्देश्यत्वं निवर्तयिष्यतीति पूर्वोक्तम् असाम्प्रतम् इति वाच्यम्, ''अपि चेत् सुदुराचारो'' (भग.गीता ९।३०) इति गीतोक्तिविरोधाद्, अत्र आरम्भदशायाएव कथनात्, ''**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**'' (भग.गीता ९।३१) इति अग्रिमवाक्येन तथानिश्चयात्. अतो विध्यपराधेन उपासनायां भगवद्धर्मत्वनिवृत्तिः युक्तैव इति निश्चयः. एवम् उपासनाविध्युद्देश्यत्वे निवारितेऽपि तदर्थम् उपासनाविशेषस्य भगवद्धर्मसाम्यम् आपादयञ्च शंकते **ननु सर्वेषु** इत्यादि. **सर्वाभीष्टदत्वम्** इति. सर्वेषाम् अभीष्टदातृत्वम्. **न उक्तरूपता** इति. न अनिष्टदत्वम्. तथाच गोपालमन्त्रोपासनातिरिक्तोपासनायां [3]मन्त्राणाम् अस्तु विभूतिपरत्वम्. गोपालोपासनायान्तु तथात्वांगीकारो अप्रयोजकः इति सिद्धे तदधिष्ठातृत्वे तेन रूपेण पुरुषोत्तमस्य तद्विध्युद्देश्यत्वं तस्याः भगवद्धर्मरूपत्वञ्च अदण्डवारितम् इति अर्थः. अत्र समादधते **सत्यम्** इत्यादिना. **उक्तरूपतापि** इति. [4]भगवद्धर्मरूपता, 'अपि'शब्दाद् अनिष्टदत्वाभावः. **उपासनामार्गीयत्वाद्** इति. तथाच प्रकरणभेदात् तस्याः [5]भगवद्धर्मरूपत्वाभावे तस्यां पुरुषोत्तमस्य न [6]तदधिष्ठातृरूपेण उद्देश्यत्वम्

---

[1]. उपासनानाम् इति क. [2]. विध्यनपराधः इति क. [3]. कर्मणाम् अस्तु इति ख. [4]. ज्ञानरूपता इति ख. [5]. भक्तिरूपत्वाभावे इति ख. [6]. तत्तदधिष्ठातृरूपेण इत्यपि दृश्यते शोधनात् प्राक्तनो अनिवारितः पाठः क.

उपासनामार्गीयत्वात्. नहि कर्मांगत्वेन क्रियमाणस्य भगवत्स्मरणस्य

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

क्रियमाणस्य इति अर्थः. नहि अन्योद्देशेन विधीयमानम् अन्यत् सम्पादयति

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

-लिंगानां च **तथा** इति अर्थः. प्रकरणभेदेन पुरुषोत्तमपरत्वाभावे दृष्टान्तम् आहुः मूले **नहि** इत्यादि. टीकायां **नहि** इत्यादि. अतिप्रसंगापत्त्या अनुचितम् इति अर्थः. तथाच यथा कौण्डपायिनाम् अयने **"मासम् अग्निहोत्रं जुहोति"** (कात्या.श्रौ.सू.४।२६) इत्यत्र किं नित्याग्निहोत्रानुवादेन मासलक्षणो गुणो विधीयते उत कर्मान्तरं विधीयते इति सन्देहे कर्मणः प्राप्तत्वाद् गुणविधानम् इति पूर्वः पक्षः. [1]तत्स(?) तत्र **"उपसद्भिः चरित्वे"** (द्र.शाबरभा.२।३।२४) इति वाक्यान्तरात् कर्मैक्यपक्षे नित्येऽपि तदापत्तेः मासोपसदोः उभयोरपि विधाने वाक्यभेदापत्तेश्च. अतः प्रकरणभेदात् कर्मान्तरम् इति द्वितीयस्य तृतीये विचारितम्. [2]तथाच 'अग्निहोत्र'शब्दो अनेकार्थत्वस्य अन्याय्यत्वेन गौण्या अंगीकृतः तस्मिन् कर्मणि अग्निहोत्रधर्मातिदेशकः तथात्र

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

इति भावः. अत्र दृष्टान्तम् आहुः **नहि** इत्यादि. **कर्मांगत्वेन क्रियमाणस्य** इति. कर्मसाद्गुण्यार्थं क्रियमाणस्य. तथाच यथा कौण्डपायिनाम् अयने **"मासम् [3]अग्निहोत्रं जुहोति"** (कात्या.श्रौ.सू.४।२६) इत्यत्र किं नित्याग्निहोत्रानुवादेन मासलक्षणो गुणो विधीयते उत कर्मान्तरं विधीयते इति सन्देहे कर्मणः प्राप्तत्वाद् गुणविधिः अत्र इति पूर्वपक्षीकृत्य तत्र **"उपसद्भिः चरित्वे"** (द्र.शाबरभा.२।३।२४) इति वाक्यान्तरात् कर्मैक्यपक्षे नित्याग्निहोत्रेऽपि तदापत्तेः मासोपसदोहो उभयोरपि विधाने वाक्यभेदापत्तेश्च प्रकरणभेदात् कर्मान्तरं तद् इति द्वितीयस्य तृतीये चिन्तितं, तेन [4]अनेकार्थत्वस्य अन्याय्यत्वात् तत्र 'अग्निहोत्र'शब्दो गौण्या प्रवर्तमानो नित्याग्निहोत्रधर्मातिदेशकत्वेन अंगीकृतः तथा अत्रापि प्रकरणभेदाद् उक्तवक्ष्यमाणधर्मभेदाच्च

---

[1] तन्मतत्र इति क. [2] यथा अग्निहोत्रशब्दः इति ख. [3] "अग्निहोत्रं जुह्वति" इति पाठः [4] अनेकार्थत्वस्य आम्नायगौय इति क.

भक्तिरूपत्वं वक्तुं शक्यं कर्ममार्गीयत्वात्. अपरञ्च तत्र [1]वरांगना

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इति उचितम्. पुरुषोत्तमपरत्वे दूषणान्तरमपि आहुः **अपरञ्च** इति. [2]वरांगनावशीकरणादेरपि पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वे फलदात्रैक्येन ब्रह्मसूत्रादिकमपि तादृशे कर्मणि उपयुञ्जीत अविशेषाद् इत्यपि सुवचं स्यात्. ततो वैराग्यादिविधानं व्यर्थमेव स्याद् इत्याद्यपि ऊह्यम्. **अतएव** इति. यतः पुरुषोत्तमसम्बन्धि कार्यम् इदम् अनर्थकरं न युज्यते सर्वागमविरोधात्. किन्तु

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

प्रकरणभेदाद् मन्त्रोपासनायां 'भक्ति'पदप्रयोगो मन्त्राधिष्ठातरि च गोपालादिप्रयोगो गौण्या तदेकतानत्वादीनां भक्तिधर्माणाम् उपासकभक्तानुग्राहकत्वादीनां च अतिदेशकइति न नामादिना भ्रमितव्यम् इति भावः. ननु उपासनामार्गीयत्वेऽपि गोपालमन्त्रोपासनायां सर्वाविशिष्टत्वस्य अनपायाद् भक्तित्वमपि सुवचम्. तथा सति मार्गभेदो अप्रयोजकः, लिंगापेक्षया प्रकरणस्य नैर्बल्यात्. अथवा **"देवत्वञ्च पितृत्वञ्च यमस्य अस्ति द्विरूपता"** (स्क.पुरा.२।४।१।४१) इतिवद् द्विरूपत्वं वा अस्तु. तथा सति तस्यां पुरुषोत्तमस्य उद्देश्यत्वे किं बाधकम् इति शंकां हृदि कृत्वा आहुः **पुरुषोत्तम...इत्यादि ऊह्यम्** इत्यन्तम्. तथाच फलभेदाद् न गोपालमन्त्रोपासनस्य भक्तिरूपत्वम् अतएव

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

मन्त्रोपासनायां यो 'भक्ति'पदप्रयोगः तदधिष्ठातरि च यः [3]'पुरुषोत्तमा'दिपदप्रयोगः सोऽपि गौण्या उपासनायां तदेकतानत्वादीनां भक्तिधर्माणाम् उपास्ये च अनुग्राहकत्वादीनां पुरुषोत्तमधर्माणाम् अतिदेशकएव नतु तयोः भक्तिपुरुषोत्तमाभेदापादकः इति भावः. ननु उपासनामार्गीयत्वस्य प्रकरणसिद्धत्वाद् [4]भक्तित्वस्य सर्वाविशिष्टत्वरूपलिंगसिद्धत्वाद् लिंगापेक्षया प्रकरणस्य दौर्बल्याद् न पूर्वोक्तं साधीयः इति शंकायां लिंगनैर्बल्यायाः आहुः **अपरञ्च** इत्यादि **विरोधाद्** इत्यन्तम्. तथाच गोपालोपासनं भक्तिः सर्वाविशिष्टत्वात्. न

---

१. वारांगना इति क्वचित्. २. वेश्यावशीकरणादेः इति क. ख. ग. ३. गोपालादिपदप्रयोगः इति क. ४. ज्ञानत्वस्य इति ख.

–वशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयते. नहि पुरुषोत्तमभक्तेः तत् फलीभवितुम् अर्हति, अनर्थरूपत्वाद् ‘‘अनर्थो उपशमं साक्षाद् भक्तियोगम् अधोक्षजे’’ (भाग.पुरा.१।७।६) ‘‘तस्माद् निराशिषो भक्तिः निरपेक्षस्य मे भवेद्’’ (भाग.पुरा.११।२०।३५) इत्यादिवाक्यविरोधात्. अतएव शूद्रप्रतिष्ठापितमूर्तौ ब्राह्मणनमस्कारनिषेधो धर्मशास्त्रे युज्यते. ‘‘यः शूद्रस्थापितं

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

मन्त्राधिनान्यदेवताकार्यमिव इदम्. अतः कारणात् शूद्रप्रतिष्ठापितप्रतिमालिंगादिषु देवतान्तरसान्निध्यात् शूद्रकर्तृकदोषसंवलितत्वात् सर्वोपास्यत्वाभावाद् द्विजादिनमस्कारनिषेधो युज्यते. नो चेद् अप्रणामी [1]प्रत्यवेयादेव. ‘‘देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनं, नमस्कारं न कुर्यान् चेत् प्रायश्चित्ती भवेद् नरः’’ (द्र.संस्कारदी.पृ.२५७) इत्याद्यागमविरोधोऽपि इति अर्थः.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

न द्विरूपत्वमपि इति भावः. कर्ममार्गियभगवत्स्मरणादौ भक्तिरूपत्वाभावम् अतिदेष्टुं कर्ममार्गीयनमस्कारे भक्तित्वाभावगमकं धर्मम् आहुः **अतएव** इति मूले. तद् व्याकुर्वन्ति **यतः** इत्यादि. **नो चेद्** इति. प्रतिष्ठापितस्य पुरुषोत्तमत्वे. तथाच सोऽपि नमस्कारो वन्दनभक्तिरूपो न इति भावः. एवं मन्त्रफलादेः तद्धर्मान्तरस्य च [2]विचारेण उपासनादिमार्गीयाणां मन्त्राणां

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

भक्तिः. अनर्थफलकत्वाद् इत्येवं भक्तिलिंगस्य [3]सप्रतिसाधनत्वेन निर्बलत्वाद् असञ्जातविरोधं प्रकरणमेव बलीयइति पूर्वोक्तम् अक्षुण्णमेव इति अर्थः. ननु अस्तु एवम् उपासनायां तथापि कर्ममार्गीयस्मरणस्य भक्तित्वं दुर्वारं सर्वविशिष्टत्वस्य अनर्थोपशामकत्वस्य च तत्र अक्षुण्णत्वाद्, लिंगद्वयापेक्षया प्रकरणस्य एकस्य नैर्बल्याद् इति आशंकायां तत्रापि पूर्ववद् लिंगनैर्बल्यम् आहुः **अतएव** इत्यादि **वाक्याद्** इत्यन्तम्. **अतएव** इति. लिंगनैर्बल्यादेव. **न नमस्यः क्वचित्.** अत्र काकुः बोध्या. तथाच सर्वत्र नमस्यएव इति

---

[1] प्रत्यवायी स्यादेव इति घ. [2] विचारेण न उपासनादिमार्गीयाणाम् इति क.

[3] सप्रतिपक्षसाधनत्वेन इति ग.

लिंगं विष्णुं वा विनमेद् द्विजः सः याति नरकं घोरं यावद् आहूतसम्प्लवम्'' (   ) इति. नहि ब्राह्मणानाम् ईश्वरो न नमस्यः क्वचित्. ''किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः'' (भग.गीता ९।३३) इति वाक्यात्.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

पुरुषोत्तमस्य मन्त्राधीनत्वम् अनुपपन्नं प्रमाणविरोधात्. भक्त्यधीनत्वं च उपपन्नं प्रमाणसद्भावादिति आहुः **किञ्च** इति आरभ्य **पुरुषोत्तमे अवधेयम्**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

भक्तित्वं निवारितम्. इदानीं तदधिष्ठातुः विभूतित्वं यत् प्रागुक्तं तद् दृढीकर्तुं वैलक्षण्यं वदन्ति इति आशयेन आहुः **पुरुषोत्तमस्य** इत्यादि तथा च अत्र मूले [१]भेदकनिदर्शनात् पुरुषोत्तमस्य [२]न तदुद्देश्यत्वम् इति

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

अर्थः. अयम् आशयः. कर्ममार्गैर्हि ''**यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तम् अच्युतम्**'' (श्रीविष्णुपूजास्तोत्र.४२) इत्यादिवाक्यैः पुरुषसूक्तेन पूजाविधानाच्च स्मरणकीर्तनवन्दनार्चनानि विष्णुविषयकाण्येव प्रायः सन्ति इति स्मरणीयत्वादिवद् वन्दनीयत्वमपि तस्यैव सिद्ध्यति तथा प्रतिमायामपि प्रतिष्ठादिना तस्यैव [१]आवेशादि. तस्य च पुरुषोत्तमत्वे शूद्रप्रतिष्ठापितमूर्तावपि तस्यैव आविष्टत्वात् तद्वन्दनमपि सर्वाविशिष्टं स्यात्. [२]ततश्च उक्तविधवाक्यानि विरुद्ध्येरन्. अतः तदविरोधाय तत्र विष्ण्वन्तरावेशएव वक्तव्यः. तथा सति सकृत्प्रवृत्तावगुण्ठनन्यायेन भग्ने वन्दनस्य आविशिष्टत्वे स्मरणादेरपि तद्विषयकत्वेन वन्दनतुल्ययोगक्षेमत्वाद् भग्नमेव[३] सर्वाविशिष्टत्वम्. ततश्च कर्ममार्गीयवन्दनं भक्तिः [४]सर्वाविशिष्टत्वादिति साधने हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम् तथा [५]तदीयविष्णुस्मरणादिः भक्तिः सर्वाविशिष्टत्वाद् इति साधनेऽपि न भक्तिः विष्ण्वन्तरविषयकत्वात् तत्रत्य वन्दनवद् इति प्रतिसाधनसद्भावाद् असाधकत्वेन सिद्धे लिंगनैर्बल्ये प्रकरणस्य [६]बलवत्त्वाद् न

---

१. तस्यैवावेदिः इति क. तस्यैवाविवेशादि इति ग, ख पुस्तकेषु नास्त्येव किमपि. इष्यते तु एवम्. २. उक्तविधिवाक्यानि इति ग. ३. एवकारो नास्ति इति ख. ४. सर्वस्य आविशिष्टत्वाद् इति ख. ५. त्वदीयः इति ग. ३. बलवत्त्वाद् एतस्यापि अभक्तित्वम् इति ख.

किञ्च, मन्त्राधीनत्वं तत्तद्देवतायाः उच्यते. पुरुषोत्तमस्तु ''न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्मः उद्धव! न स्वाध्यायः तपः त्यागो यथा भक्तिः मम उर्जिता'' (भाग.पुरा.११।१४।२०) ''न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्मएव च न स्वाध्यायः तपः त्यागो न इष्टापूर्तं न दक्षिणा व्रतानि यज्ञाः छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः'' (भाग.पुरा.११।१२।१-२) इति. ''न अहं वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया शक्यः एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवान् असि मां यथा'' (भग.गीता ११।५३), ''भक्त्यातु अनन्यया शक्यः अहम् एवंविधो अर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप!'' (भग.गीता ११।५४) इत्यादिवाक्यैः ''न अयम् आत्मा'' (कठोप.१।२।२३, मुण्डकोप.३।२।३) इत्याद्युक्तश्रुत्या च न मन्त्रोपासनाद्यधीनः इति महद् वैलक्षण्यम्. ''अहं भक्तपराधीनो हि अस्वतन्त्रइव द्विज!, साधुभिः ग्रस्तहृदयो भक्तैः भक्तजनप्रियः. न अहम् आत्मानम् आशासे मद्भक्तैः साधुभिः विना. श्रियञ्च आत्यन्तिकीं

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इत्यन्तेन. **न रोधयति** न स्वातन्त्र्यगतिम् अवरुणद् हि इति अर्थः.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

बोधितम्. एवं रूपभेदेन उपासनाभक्त्योः भेदे सिद्धे फलभेदधर्मभेदाभ्यां च उपोद्बलिते पुनः उपासनायाः भक्तिरूपत्वम् आपाद्य मन्त्राधीनत्वं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तस्याअपि भक्तित्वमिति. एवम् उपासनसम्बन्धिफलादेः धर्मान्तरस्य च विचारेण मन्त्रोपासनस्य कर्ममार्गीयवन्दनादेश्च भक्तित्वं तद्विधीनां भगवदुद्देश्यकत्वञ्च निवारितम्. अतः परम् उपास्यधर्मविचारेण तदधिष्ठातुः विभूतिरूपत्वं दृढीकर्तुं वैलक्षण्यं वदन्ति **किञ्च** इत्यादि **अवधेयम्** इत्यन्तम्. **न रोधयति** इति. न वशीकरोति. शेषम् अतिरोहितार्थम्. एवम् उपास्यनिष्ठधर्मविचारेण

---

१. भेददर्शनाद् इति क. २. नेति नास्ति क.

ब्रह्मन् येषां गतिः अहं परा, ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तम् इमं परं हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुम् उत्सहे, मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा'' (भाग.पुरा.९।४।६३-६६) इत्यादिभिः. ''न अलं द्विजत्वं देवत्वम् ऋषित्वं वा असुरात्मजाः, प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता, न दानं न तपो न इज्या न शौचं न व्रतानि च, प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्'' (भाग.पुरा.७।७।५१-५२) इत्यादिभिः. ''भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः'' (भाग.पुरा.११।१४।२१), ''भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय'' (भाग.पुरा.७।९।९) इत्यादिवाक्यसहस्रैः भक्तिमात्राधीनत्वोक्त्या च ततो वैलक्षण्यं पुरुषोत्तमे अवधेयम्. ननु मन्त्रादेरपि भगवदीयत्वात् तत्सम्बन्धि सर्वं भक्तिरूपमेव इति न उक्तानुपपत्तिः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

''**येऽपि अन्यदेवताभक्ताः**'' (भग.गीता ९।२३), ''**यो यो यां यां तनुं भक्तः**'' (भग.गीता ७।२१), ''**वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः**'' (भग.गीता १५।१५) इत्यादिवाक्यैः सर्वेषां भक्तिफलरूपश्रीकृष्णसम्बन्धित्वकथनाद् मन्त्रादीनामपि भक्तिरूपत्वम् उपपद्यतएव इति आह ननु इति. अतिमूर्खोक्तिः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

[१]तद्विध्युद्देश्यत्वं वा शंकते इति आहुः **येऽपि अन्य** इत्यादि **सर्वेषाम्** इति. यजनार्चनज्ञानोपासनानाम् आह इति. **मन्त्राधीनत्वांगीकारेऽपि दोषाभावम्** आह इति अर्थः. मूले **भगवदीयत्वाद्** इति. परब्रह्मात्मकत्वमेव उपक्रम्य पठितत्वेन तथात्वात्. **तत्सम्बन्धि** इति मन्त्रसम्बन्धिपुरश्चरणपूजादिकम्.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तदधिष्ठातुः भेदः साधितः. एवं रूपभेदेन उपासनभक्त्योः सिद्धे भेदे फलभेदधर्मभेदाभ्याम् उपोद्बलितेऽपि अनाघ्रातमीमांसागन्धत्वात् पुनः हेत्वन्तरेण उपासनायां भक्तित्वम् आशंकते **ननु मन्त्रादेः** इत्यादि.

---

१. तद्विध्युपदेश्यत्वम् इति ख.

इति चेद्, हन्त इदं ‘‘पाण्डुरमृत्पानीयमेव शुनः तक्रम्’’ (   ) इति आभाणकम् अनुहरति. ननु कथम् एवम्? इत्थम्. श्रीमदुद्धवपृष्टेन यदुवंशोदयाचलचूडामणिना पूजामार्गं निरूप्य ‘‘प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयं, पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिः मत्सार्ष्टिताम्/मत्साम्यताम् इयात्’’ (भाग.पुरा.११।२७।५२) इति प्रत्येकसमुदायाभ्यां फलभेदं निरूप्य ‘‘मामेव [1]नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति, भक्तियोगं सः लभते एवं यः पूजयेत माम्’’ (भाग.पुरा.११।२७।५३) इति निरूपितम्.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इथम् इति दृष्टान्तेन विविनक्ति **हन्त** इति. ‘हन्त’इति विषादे. इदं ते शंकावाक्यम्. पाण्डुरमृत्सम्बन्धि पानीयमेव अन्तःसारासारानभिज्ञस्य शुनः तक्रम् इत्येवं विधम् **आभाणकं** लोकोक्तिप्रहेलिकावद् वाक्यम् **अनुहरति** सादृशं प्राप्नोति इति अर्थः. सादृशनिबन्धनोऽपि भ्रमो न घटते स्फुटभेदोक्तेः इति आहुः **इत्थम्** इति. एकादशस्कन्धे भगवद्-उद्धवसंवादे प्रतिष्ठानिकेतनपूजानाम् एकैकशः सार्वभौमादिफलं समुदितानां समानैश्वर्यं फलं सकामस्य. नैरपेक्ष्येण शुद्धस्वरूपमात्रनिष्ठभक्तियोगेन पूजाफलं भक्तिः इति आह **भक्तियोगं सः लभते** इत्यनेन. उभयोः तात्पर्यं दर्शयन्ति **अत्र** इति. ‘‘**मामेव नैरपेक्ष्येण**’’

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

न उक्तानुपपत्तिः इति. न पुरुषोत्तमत्वतद्विध्युद्देश्यत्वानुपपत्तिः. टीकायां **दृष्टान्तेन विविनक्ति** इति. मन्त्रादिसम्बन्धिनि भक्तित्वं निराकर्तुं तदुक्तेः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

भगवदीयत्वात् परब्रह्मात्मकत्वमेव उपक्रम्य पठितत्वेन तथात्वात् तत्सम्बन्धि [2]मन्त्रसम्बन्धि सर्वम् अर्चनपुरश्चरणादिकं भक्तिरूपम् इति न उक्तानुपपत्तिः न उपास्ये पुरुषोत्तमत्वानुपपत्तिः न वा तद्विध्युद्देश्यत्वानुपपत्तिः इति अर्थः. अत्र समाधातुं प्रतिवादिनो अनाघ्रातमीमांसागन्धत्वं स्फुटीकुर्वन्ति हन्त इत्यादि. पाण्डुरमृत् कठिनी. **शुनः** इति. अन्तःसारासारानभिज्ञस्य. समादधते **श्रीमद्** इत्यादि. [3]‘सार्ष्टि’ समानैश्वर्यत्वम्. ‘नैरपेक्ष्येण’ फलाकांक्षाविरहेण.

---

१. निरपेक्षेण इति क्वचित्. २. कर्मसम्बन्धि इति ख. ३. सार्ष्टिम् इति ग.

अत्र पूर्वार्धे 'एव'कारेण पूर्वोक्तपूजाफलव्यवच्छेदपूर्वकं स्वस्य भक्तियोगफलत्वम् उक्तम् इति फलभेदादपि स्वरूपभेदः आयात्येव. उत्तरार्धे च पूजायाः साधनत्वं भक्तेश्च फलत्वञ्च इति स्पष्टएव

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इत्यत्र 'एव'कारेण. उत्तरार्धे "**भक्तियोगं सः लभते**" इति वाक्ये. अतः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

स्वरूपं दृष्टान्तेन स्फुटीकरोति इति अर्थः. मूले **फलभेदादपि स्वरूपभेदः आयाति** इति. कर्मभेदाध्याये यावज्जीवपादारम्भे विचारितं "**यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति**" (   ) "**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**" (मैत्रा.उप.६।३६) इति वाक्याभ्यां किं भिन्नं कर्म विधीयते उत काम्ये अग्निहोत्रएव यावज्जीवरूपकालसम्बन्धो धर्मो विधीयते उत नित्यकाम्यप्रयोगभेदो विधीयते इति. तत्र नामैक्याद् रूपैक्याद् भेदकान्तराभावाच्च कर्मभेदस्य वक्तुम् अशक्यत्वात् काम्याग्निहोत्रएव कालरूपो विधीयते इति पूर्वपक्षः. सिद्धान्तस्तु 'यावज्जीव'शब्दो न कालवाचकः किन्तु लक्षकः. वाच्यो अर्थस्तु [1]कृत्स्नजीवनम्. पुरुषधर्मः सः न कर्मधर्मत्वेन विधातुं शक्यः. अतः तं निमित्तीकृत्य प्रयोगो विधीयते. नच अग्निहोत्रानाम् अभ्यासः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

एवम् इति. नैरपेक्ष्येण. फलभेदादपि स्वरूपभेदो आयात्येव इति कर्मभेदाध्याये यावज्जीवपादे चिन्तितम्. "**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**" (मैत्रा.उप.६।३६) "**यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति**" (   ) इति वाक्याभ्यां किं भिन्नं कर्म विधीयते उत काम्याग्निहोत्रएव यावज्जीवरूपकालसम्बन्धो धर्मो विधीयते उत कर्मैक्येऽपि नित्यकाम्यप्रयोगभेदो विधीयते? इति सन्देहे नामैक्याद् रूपैक्याद् भेदकान्तराभावाच्च कर्मभेदस्य वक्तुम् अशक्यत्वात् काम्याग्निहोत्रएव यावज्जीवकालसम्बन्धो धर्मो विधीयते इति पूर्वपक्षः. राद्धान्तस्तु यावज्जीवशब्दो न कालवाचकः किन्तु कृत्स्नजीवनविशिष्टकाललक्षकः

---

[1] कृत्स्नजीवनपुरुषधर्मः इति क.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

कर्मभेदहेतुः निमित्तविशेषं पुरस्कृत्य [1]श्रुतत्वेन अविशेषपुनःश्रुतेः अभावात्. अतो जीवनस्य निमित्तत्वात् प्रयोगभेदः पर्यवस्यति. सति निमित्ते नैमित्तिकत्यागायोगाद् नित्यत्वं तस्य अर्थसिद्धम्. तस्माद् जीवननिमित्तत्वाद् नित्यकाम्यप्रयोगौ भिन्नौ इति. एवं सति यथा तत्र कर्माभेदेऽपि निमित्तभेदात् प्रयोगभेदे नित्यं काम्यम् इति स्वरूपभेदो अर्थसिद्धः तथा अत्र 'ब्रह्मलोक'पदसूचितकामनया 'नैरपेक्ष्य'पदोक्तेन तदभावेन च [2]पुरुषधर्मरूपनिमित्तभेदलाभाद् ऐक्यांगीकारेऽपि प्रयोगभेदसिद्धौ नित्यकाम्यवत् फलभेदात् स्वरूपभेदो न दुर्घटः इति अर्थः. भेदकान्तरम् आहुः **उत्तरार्धे** इत्यादि. एतद् निरूपणप्रयोजनकथनमुखेन स्वरूपभेदं दृढीकुर्वन्ति. **भगवद्...**इत्यादि

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तस्य वाच्यो अर्थस्तु कृत्स्नजीवनम्. पुरुषधर्मः सः न कर्मधर्मत्वेन विधातुं शक्यः. अतः तं निमित्तीकृत्य प्रयोगभेदो विधीयते. नच अग्निहोत्रनामाभ्यासः कर्मभेदहेतुः निमित्तविशेषं पुरस्कृत्य श्रुतत्वेन अविशेषपुनःश्रुतेः अभावात्. अतो जीवनस्य निमित्तत्वात् प्रयोगभेदः पर्यवस्यति. सति निमित्ते [3]नैमित्तिकत्यागायोगात् तस्य नित्यत्वम् अर्थसिद्धम्. तस्माद् नित्यकाम्यप्रयोगौ भिन्नौ इति. एवं सति यथा तत्र कर्माभेदेऽपि निमित्तभेदात् प्रयोगभेदएव फलं विध्यते इति फलभेदाद् नित्यं काम्यम् इति स्वरूपभेदो अर्थसिद्धः तथा अत्र [4]'ब्रह्मलोक'पदसूचितपुरुषधर्मरूपया कामनया 'नैरपेक्ष्य'पदोक्ततदभावेन च निमित्तेन पूजैक्येऽपि प्रयोगभेदसिद्धौ [5]नित्यकाम्यप्रयोगन्यायेन फलभेदात् स्वरूपभेदो अर्थादेव आयाति इति अर्थः. ग्रहिलत्वाद् आर्थिकभेदकानंगीकारे शाब्दं भेदकान्तरम् आहुः **उत्तरार्धे** इत्यादि. एतद् निरूपणप्रयोजनकथनमुखेन

---

१. विशेषपुनःश्रुतेः इति क. २. पुरुषधर्मरूपनिमित्तभेदलाभाद् इति द्वयोरपि पाठः. युज्यतेतु एवम्. ३. नैमित्तिकात्यागात् तस्य इति ख. ४. पुरुषधर्मरूपतया इति घ. ५. नैमित्तिकेऽपि इति ख. पूज्यैक्येऽपि इति ग.

पूजादे: भक्ते: भेद:. भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वम्. भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्. अतो न पूजादि: भक्ति: इति निरूपणार्थमेव 'मामेव'इत्यादि निरूपितम् इति वेदितव्यम्. अन्यथा पूजाप्रकरणे तन्निरूपणम् असंगतं स्यात्. ''यत् कर्मभि: यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यद्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभि: इतरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा'' (भाग.पुरा.११।२०।-३२-३३) इतितु भक्तिसाध्यं न अन्येन सिद्ध्यति अन्यसाध्यं भक्ते: आनुषंगिकम् इति कथनार्थं, कल्पतरुस्वभावत्वज्ञापनाय च उक्तम्. अग्रे ''स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति'' (भाग.पुरा.११।२०।-३३) इति वचनात्. तेन भक्तिरेव कार्या न अन्यद् इति फलितं

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इति. यत: स्वरूपफलकत्वं निरपेक्षभक्तियोगस्यैव. यदि पूजादिकमपि भक्तित्वेन अभिमतं स्यात् तदा **''अनेन मां विदन्ति''** इत्येव ब्रूयात्. **''मामेव नैरपेक्ष्येण''** इति पार्थक्येन वचनम् अन्यसाधननिरूपणावसरे निरर्थकं स्यात्. किञ्च यदि केवलभक्ते: कुत्रापि असामर्थ्यं भवेत् तदा सहायभूतत्वेनापि कर्मादीनां भक्तित्वं शंक्येत. तच्च सुतरां न अस्ति इति आहु:

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

स्याद् इत्यन्तम्. तदेतत् सर्वं हृदि कृत्वा टीकायाम् आहु: **यदि** इत्यादि **निरर्थकं स्याद्** इत्यन्तम्. तथाच एवं सिद्धे स्वरूपभेदे पूजाया: भक्तित्वाभावाद् न तत्र साक्षाद् भगवत: उद्देश्यत्वम् इति भाव:. अग्रिमं विवृण्वन्ति **किञ्च** इत्यादि. ननु फलभेदो अत्र न स्वरूपभेदापादक:.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

स्वरूपभेदं दृढीकुर्वन्ति **भगवद्**...इत्यादि **स्याद्** इत्यन्तम्. तथाच एवं सिद्धे स्वरूपभेदे उपासनादिमार्गीयपूजाया: भक्तित्वाभावाद् न तद्विधौ साक्षाद् भगवत: उद्देश्यत्वम् इति भाव:. ननु फलभेदो न स्वरूपभेदापादक: **''यत् कर्मभि:''** इति वाक्ये भक्तेरेव फलान्तरकथनाद् इति आशंकायाम् आहु: **यत् कर्मभि:** इत्यादि. अग्रे इत्यादिना उक्तो हेतु: **तर्कपर्यवसायी.**

भवति. ''दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिः विविधैः च अन्यैः कृष्णे भक्तिः हि साध्यते'' (भाग.पुरा.१०।४७।२४) इति वाक्याच्च

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

''**यत् कर्मभिः**'' इति भक्तेरेव फलान्तरकथनादिति शंकातु मूलेनैव आपास्ता अन्यथा 'स्वर्गापवर्गम्' इत्यादेः वैयर्थ्यापत्तेः इति. ''**यत् कर्मभिः**'' इत्यादिकथनस्य **प्रयोजनम्** आहुः मूले **तेन** इत्यादिना. तथाच अत्र आनुषंगिकत्वेन फलान्तरकथनात् तत्र च तस्य मुख्यत्वेन कथनाद् अत्रापि फलभेदस्य स्वरूपभेदसाधकत्वं न दुर्घटम् इति अर्थः. पूजादेः भक्तित्वे व्युदस्ते मा अस्तु तस्याः तथात्वम्. जपादेस्तु तथात्वे बाधकाभावः इति आकांक्षायां मन्त्रजपादेः भक्तित्वं व्युदस्यन्ति **दान**...इत्यादि. ''**मदर्थे अर्थपरित्यागः**'' (भाग.पुरा.११।१९।२३) इति सन्दर्भे अर्थत्यागादितपोन्तेषु अंगचेष्टया पूजायाअपि उक्तत्वात् तस्याः भक्तित्वम् आशंक्य परिहरन्ति **भगवदर्थम्**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

यदि भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वं न अभिप्रेयात् 'स्वर्गापवर्गः' इत्यत्र 'कथञ्चित्' पदं न वदेत्. स्वर्गेत्याद्यर्द्धमेव वा न ब्रूयाद् इति. ननु प्रयोजनम् अन्तरेण तथा स्वभावज्ञापनमपि अनर्थकम् अतो न तथा इति आशंकायां तदुक्तिप्रयोजनम् आहुः तेन इत्यादि. ''**उद्यतस्यहि कामस्य प्रतिवादो न** [1]**शस्यते**'' (भाग.पुरा.३।२२।१२) इति तदौत्कण्ठ्येऽपि तदर्थं साधनान्तरं न विधेयं किन्तु कर्दमवद् भक्तिरेव कार्या इति अर्थः. तथाच अत्र आनुषंगिकत्वेन फलान्तरं कथ्यते [2]नतु मुख्यत्वेन इति फलभेदस्य मुख्यत्वेन [3]विशेषणे अत्रापि तस्य स्वरूपभेदसाधकत्वम् अनिवार्यम् इति भावः. ननु फलान्तरकथनाद् मा अस्तु पूजायां [4]भक्तित्वं मन्त्रजपादेस्तु तथात्वं केन वार्येत इति आकांक्षायां तत्रापि एतत्तुल्यकक्षत्वाद् भक्तित्वाभावम् आहुः **दान** इत्यादि. ''**मदर्थे अर्थपरित्यागः**'' (भाग.पुरा.११।१९।२३) इति सन्दर्भे अर्थत्यागादितपोन्तेषु अंगचेष्टापदेन पूजायाअपि संग्रहीतुं शक्यत्वाद् भगवदर्थाया:

---

[1] शक्यते इति क. ग. [2] तत्रतु मुख्यत्वेन इत्यादि क. [3] विशेषणापि इति ख. [4] तथात्वम् इति ख.

न मन्त्रजपादेः भक्तित्वम्. भगवदर्थमेव कृता भगवत्पूजा भक्तिः भविष्यति इति आशंकानिरासाय उत्तरार्धे तादृश्याः तस्याः तत्साधनत्वम् उक्तम्. अन्यथा पूजादिना इत्यादिना विरोधः स्यात्. एतेन लोके शास्त्रे वा क्वचित् तादृश्यां तस्यां 'भक्ति'पदप्रयोगः औपचारिकः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

"**यत् कर्मभिः**" इति. उत्तरार्धे "**एवं धर्मैः मनुष्याणाम्**" (भाग.पुरा.११।१९।-२४) इत्यत्र. अन्यथा इति. पूजादीनां देवतोद्देशेनैव प्राप्तत्वाद् नान्तरीयकतदर्थित्वसद्भावमात्रेण भक्तित्वोक्तौ पूजादिना इत्यादि असंगतं स्याद् इति अर्थः. अतादृश्याः तत्त्वेन शाब्दव्यवहारस्तु अन्यथापि उपपद्यतएव इति आहुः **एतेन** इति. एवं "**यः पूजयेत माम्**" (भाग.पुरा.११।२७।५३) इत्यत्र द्वितीयया कर्मत्वं पुरुषोत्तमे प्राप्तं कथम् अपोद्यते

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इत्यादि. 'उत्तरार्ध'पदस्य संदिग्धत्वात् टीकायां तदर्थम् आहुः **एवं धर्मैः** इत्यादि. [1]यद्यपि "**एवं यः पूजयेत माम्**" (भाग.पुरा.११।२७।५३) इत्यत्र **एवम्** इत्यनेन पूर्वार्धोक्तभक्त्यतिदेशाद् नैरपेक्ष्यप्राप्तौ पूजायाअपि भगवदर्थत्वं प्राप्यते, तथापि न कण्ठोक्तम्. ऊनविंशाध्यायसन्दर्भेतु कण्ठोक्तम्. अतएव उक्तम्. **नान्तरीयक...**इति. भक्त्यविनाभूतः इति अर्थः. ननु भगवदर्थायां पूजायां सर्वत्र 'भक्ति'पदं प्रयुज्यते तस्य का गतिः? इति अपेक्षायां तत्साधनाय वदन्ति इति आहुः **अतादृश्याः** इत्यादि. "**भक्तियोगं सः लभते**" (भाग.पुरा.११।२७।५३) इति वाक्यविचारे पुरुषोत्तमस्य अर्चनविध्युद्देश्यत्वम् अक्षुण्णम् इति शंकायां वदन्ति इति आशयेन आहुः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तस्याः भक्तित्वम् आशंक्य परिहरन्ति **भगवदर्थ...** इत्यादि. तेन फलितम् आहुः **एतेन** इत्यादि. ननु मा अस्तु पूजायाः भक्तित्वं तथापि "**भक्तियोगं सः लभते**" (भाग.पुरा.११।२७।५३) इति वाक्यविचारे पुरुषोत्तमस्य पूजाकर्मत्वबोधनाद् अर्चनविध्युद्देश्यत्वं न हीयते इति प्रतिज्ञाहानिः अनिवार्या इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. तथाच अन्यथानुपपत्या अत्र लक्षणैः

---

[1] यद्यपि इति न अस्ति क.

इति ज्ञापितम्. नच 'माम्'इति पदेन पूजायाअपि विषय: पुरुषोत्तमएव इति वाच्यं, विभूतिरूपस्यापि भगवद्रूपत्वात् [१]तथा उक्तम्. पुरुषोत्तमत्वे बाधकम् उक्तमेव मन्त्रशास्त्रे इत्यादिना. अन्यफलाद्यनुसन्धानराहित्यपूर्वकं भगवद्भावनायां क्रियमाणायां पुरुषोत्तमावेशोऽपि अन्त:करणे पूज्ये च भवतीति ज्ञापनाय वा 'माम्'इति उक्तम्. अतएव भक्ति:

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इति आशंक्या आहु: नच इति. **विभूतिरूपस्य** इति. अवान्तरप्रलये अम्भसि शयानस्य ब्रह्मणो 'नारायण'पदवाच्यत्वं यथा-तथा अत्रापि इति भाव:. **बाधकम्** अनर्थहेतुत्वं वशीकरणादौ. प्रकारान्तरेणापि कर्मत्वम् उपपादयन्ति **अन्यफल...** इति. **अतएव** इति. यत: आविष्टपुरुषोत्तमे आविष्टपुरुषोत्तमस्य

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

एवम् इत्यादि. उक्तव्याख्याने [२]लक्षणादोषाद् आहु: **प्रकारान्तर...** इत्यादि. तथाच विभूते: आवेशस्य वा द्वारत्वाद् न साक्षाद् उद्देश्यत्वं पुरुषोत्तमस्येति न अनेन वाक्येनापि तत्सिद्धि: इति मूलाशय:. **आविष्टपुरुषोत्तमे**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

वा आदरणीय: इति अर्थ:. ननु तथापि प्रकृतवाक्ये तात्पर्यानुपपत्तिगमकस्य अभावाद् बीजाभावेन अत्र लक्षणानुपपन्नैव इति आकांक्षायां पक्षान्तरम् आहु: **अन्य...**इत्यादि. तथाच मा अस्तु लक्षणा [३]तथापि आवेशस्यैव [४]द्वारत्वाद् न पुरुषोत्तमस्य साक्षाद् उद्देश्यत्वसिद्धिरिति न प्रतिज्ञाहानि: इति अर्थ:. ननु आवेशएव अत्र अभिप्रेत: इत्यत्र किं गमकम्? इत्यत: आहु: **अतएव** इत्यादि. आवेशद्वारकत्वादेव निरपेक्षपूजया भक्ति: फलिष्यति. तथाच फलमेव आवेशगमकम्. अन्यथा भक्ताविव अत्रापि स्वप्राप्तिरेव फलत्वेन उक्ता: स्याद् अत: तथा इति अर्थ:. ननु पुरुषोत्तमस्य यदि उद्देश्यतयापि न सम्बन्ध: तर्हि [५]भावनया आवेशोऽपि कथं भवेद्?

---

१. तथोक्ते: इति क्वचित्. २. लक्षणदोषाद् आहु: इति क. ३. तथापि आवेशस्य च अभावाद् न पुरुषोत्तमस्य इति ख. ४. द्वारेत्यारभ्य तथाच निरपेक्षभक्तियोगे स्वस्य इत्यन्तो ग्रन्थो न अस्ति. ग. ५. भावनापि तस्य कथं भवेद् इति ख.

तया फलिष्यति ''यमेव एषः वृणुते'' (कठोप.१।२।२३, मुण्ड.उप.३।२-।३) इति श्रुतेः तदैव तद्वरणात्. [1]अत्र अधिकारिभेदेन पूजाफलभेदोक्त्या 'यमेव' इति श्रुतौ कर्मज्ञानभक्तिषु निःशंकं फलार्थिप्रवृत्तिः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

कृतिः अतः तया भावनया विषयस्वाभाव्याद् भक्तिः फलं भवति न अन्यद् इति अर्थः. **तदैव** इति. यदैव पुरुषोत्तमविषयभावना तदैव ततः पूर्वमेव तद्वरणात् तद्वरणफलास्तित्वनिश्चयाद् इति अर्थः. **अत्र** इति. पुरुषोत्तमभावनाभावितत्वाभावितत्वाभ्याम् अधिकारिविशेषणाभ्याम् अधिकारि-

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति. पूज्ये इति शेषः. मूले अत्र **अधिकारि...** इति [2]**फक्किकायां श्रुतौ** इति पदम् **इति अनुपपत्तिः** इत्यनेन सम्बध्यते. **श्रुतौ 'यमेव'** इति सामान्योक्त्या [3]स्वविषयकानुग्रहास्तित्वनिश्चयाभावेन [4]लाभनिश्चयाभावे

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

इति आकांक्षायाम् आहुः **यमेव** इत्यादि. **तदैव** इति. निरपेक्षपूजनेच्छाऽव्यवहित-पूर्वकालएव. तथाच तादृशेच्छारूपकार्येण वरणानुमानात् तेन आवेशः इति अर्थः. ननु लोकानां नानासाधनेषु प्रवृत्तिदर्शनाद् भगवत्पूजादिषु कस्यचिद् या प्रवृत्तिः सा वरणहेतुकैव वक्तव्या. **एवं निश्चिते वरणे 'यमेव' इति श्रुतौ** स्वलाभस्यैव फलत्वेन कथनाद् यथा कथञ्चित् पूजायां प्रवृत्तस्यापि भगवत्प्राप्तिरेव भवित्री इति निश्चये कर्मज्ञानभक्तिषु फलान्तरं शृण्वतः तत्तत्फलेच्छोः निःशंका प्रवृत्तिः न स्यात्. सशंकं प्रवृत्तौ च फलमपि न स्यात्, ''**संशयात्मा विनश्यति**'' (भग.गीता ४।४०) इति वाक्यात्. अतः श्रुतिविरुद्धा कथम् अत्र पूजाफलभेदोक्तिः ? इति आकांक्षायाम् आहुः **अत्र** इत्यादि. **श्रुतौ** या उक्तरूपानुपपत्तिः सा उक्तरीतिकफलभेदोक्त्या निरस्ता इति अन्वयः. तथाच प्रवृत्तिः वरणहेतुकत्वेऽपि

---

[1] अधिकारभेदेन इति सर्वत्र उपलब्धेषु पुस्तकेषु पाठः. भक्तितरंगिण्यनुरोधेनतु एवम्. [2] तट्टीकायाम् इति क. [3] निश्चयाभावे इति क. [4] लाभनिश्चयाभावे इति नास्ति क.

अनुपपन्न: इति अनुपपत्ति: निरस्ता वेदितव्या. कर्मादिविधिषु विविधफलश्रवणात् तत्तत्फलरागवान् तत्र-तत्र यतिष्यते इति उपपत्ते:. ननु एवं पुरुषोत्तमार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्ति:, मा एवम्, तदर्थित्वस्यैव

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

-द्वैविध्यनिबन्धन: पूजाफलभेद: पुरुषोत्तमविषयत्वे भक्तिफलकत्वम् अन्यथा पूर्वोक्तब्रह्मलोकादिफलकत्वम् इति विवेकादि 'यमेव' इति सामान्योद्देश्येन साधनश्रमवैयर्थ्यम् आशंक्य त्रिष्वपि तत्तत्फलार्थिनां प्रवृत्ति: न उपपद्यते इति शंकानुदयो अधिकारिविशेषनिश्चयादेव इति भाव:. **कर्मादिविधिषु** इति. चोदनावाक्येषु इति अर्थ:. स्वविषयकवरणास्तित्वानिश्चयात्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

लाभोपायभूतेषु कर्मज्ञानादिषु तथा इति अर्थ:. इदञ्च अनुग्रहस्य सत्फलमात्रं प्रति कारणत्वं मनसि कृत्वा उक्तम्. अन्यथा तृतीयमार्गएव प्रवेशयेद्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

तत्तत्फलरागानुमितेश्वरेच्छाया: प्रतिबन्धकत्वेन सहकारिविरहाद् अधिकारे रागेण भिन्ने सुखेन तत्र [1]प्रवृत्त्युपपत्ति: इति आशयेन पूजाफलभेदोक्ति: इति अर्थ:. [2]अत्र पुन: आशंकते ननु इत्यादि. एवम् इच्छाविशेषस्य प्रतिबन्धकत्वसहकारित्वांगीकारे सहकारिवैशिष्ट्यादे: ज्ञातुम् अशक्यत्वेन तथा इति अर्थ:. यद्वा, ननु [3]फलान्तरानपेक्षया भगवद्भावनायां 'यमेव' इति श्रुत्या वरणानुमानं यद् उक्तं तद् न युक्तं, "योगा: त्रयो" (भाग.पुरा.११।२०।६) इत्यादिना श्रेय:साधनत्वेन विहितेषु कर्मज्ञानभक्तिरूपेषु साधनेषु प्रवर्त्स्यमानस्य तच्छ्रुतिश्रवणेन स्वविषयकवरणास्तित्वसंशयोत्पत्त्या तेषु नि:शंकप्रवृत्तिविघातापातात्, सशंकप्रवृत्तौ च फलाभावप्रसंगात्. अत: सर्वश्रुतिविरुद्धम् एतद् अनुमानम् इत्यत: आहु: अत्र इत्यादि तथाच इष्टसाधनताज्ञानौत्कट्यादेव नि:शंकप्रवृत्त्युपपत्ते: श्रुतिविरोधाभावेन तदनुमानं

---

१. प्रवृत्त्युपपत्ति: इति अर्थ: इति ख. २. अत्र इत्यत: आरभ्य सुखेन उपपत्ति: इति अर्थ: इति यावद् नास्ति ग्रन्थ: ख. गपुस्तके च नास्ति तथाच निरपेक्षभक्तियोगे स्वस्य इत्यन्तोंश:. तदत्र यथाबुद्धि: स्वयमेव शोध्यते. शोधनन्तु तत्स्थले ज्ञाप्यतैव.
३. फलान्तरानपेक्षयया इति क. शोधनन्तु एवम्.

वरणकार्यत्वात्. अन्यथा [१]तदनुत्पत्तेः. वरणे च अस्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेन. आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तः तथैव

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

पुरुषोत्तमभजनं न उपपद्यते इति आशंक्या आह **ननु** इति. **यदेव वरणकार्यं** निश्चायकं कारणस्य तस्य पुरुषोत्तमार्थित्वस्य स्फुटम् उपलम्भाद् इति अर्थः. **अन्यथा** इति कारणम् अन्तरेणैव कार्योत्पत्तेः आकस्मिकत्वं च आपद्येत इति भावः. ननु कुत्रचिद् वरणकार्यपुरुषोत्तमार्थित्वं विनापि स्वतः सम्बन्धः पुरुषोत्तमे दृश्यते. तस्य च अवश्यं कारणपूर्वकत्वं वाच्यं, तच्च प्रकृते तदर्थित्वम् अन्तरेण अनुपपन्नम् इत्यतः आहुः **वरणे च** इति.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति. **इति उपपत्तेः** इति. उक्तश्रुतौ आत्मलाभस्यैव [२]वरणसाध्यत्वेन कण्ठतः उक्तत्वाद् उपपत्तेः इति अर्थः. तदेतद् विवृण्वन्ति **अत्र** इत्यारभ्य **इति अर्थः** इत्यन्तम्. [३]अग्रिमशंकातात्पर्यम् आहुः **स्वविषयकः** इत्यादि. तदर्थित्वेत्यादिना उक्तं हेतुं व्याचक्षते **यदेव** इत्यादिना. तथाच कार्येण [४]वरणानुमाने सुखेनैव प्रवृत्त्युपपत्तिः इति अर्थः. ननु तदर्थित्वस्य वरणकार्यत्वे किं मानम् अतः आहुः **अन्यथा** इति. वरणाभावेऽपि तदर्थित्वांगीकारे. तथाच अर्थापत्तिरेव मानम् इति अर्थः. अग्रिमम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादि. **दृश्यते** इति. व्रजस्थेषु दृश्यते. मूले **तत्साधने** इति. भगवत्प्राप्त्युपायभूत-

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

युक्तमेव इति अर्थः. अत्र पुनः आशंकते **ननु** इत्यादि. तथाच निरपेक्षभक्तियोगे स्वस्य फलत्वेन कथनात् तत्र प्रवर्त्स्यमानस्य एतच्छ्रुतिश्रवणे विरोधप्रतिसन्धानात् तत्प्रवृत्त्यनुपपत्तिः वज्रलेपायितः इति अर्थः. तत्र समादधते **मा एवम्** इत्यादि. तथाच कार्येणैव कारणसामग्र्यनुमानात् सुखेन उपपत्तिः इति अर्थः. ननु एवं कार्येण चेत्, सामग्र्यनुमितिः तदा [५]पुरुषोत्तमार्थी भक्तावेव

---

[१] तदनुपपत्तेः इति क्वचित्. [२] शरणसाध्यत्वेन अन्ते उक्तत्वाद् इति क. [३] अत्र इदं शंकातात्पर्यम् इति क. [४] चरणानुमाने इति क. [५] पुरुषोत्तमस्य भक्तावेव इति ख.

तद्वरणात्. परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजक: तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यते इति विधे: अप्रयोजकत्वम्. द्वितीयस्यतु प्रवृत्त्यप्रवृत्ती अप्रयोजिके, [१]भगवता स्वस्यैव साधनत्वेन अंगीकारात्. अतएव ''अहन्यापृतं निशि शयानम् अतिश्रमेण'' (भाग.पुरा.२।७।३१) इति गोकुलविशेषणं द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मणा उक्तम् इति सर्वम् अवदातम्. किञ्च, विष्णुविषयकत्वेनैव भक्तित्वे

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

साधने प्रवर्त्य तदनुरूपफलदानम् आस्नेहोपत्ते: इति मर्यादामार्गस्वरूपम्. **द्वितीयस्य** इति. यद्यपि प्रथमेऽपि स्वकृतप्रवृत्त्यप्रवृत्ती न स्वरूपसम्बन्धं कर्तुं शक्नुत: तथापि अवान्तरकृतिरपि द्वितीये न अपेक्षितइति वैलक्षण्यम्. अनुग्रहस्तु उभयत्रापि आदिकारणत्वेन सर्वैरपि अंगीकार्यएव. ''यदि

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

-स्नेहोत्पादके साधने **तथैव** इति. ''साधनद्वारैव भक्तिं माञ्च प्राप्नोतु'' इति इच्छा इति अर्थ:. किञ्च इत्यादिग्रन्थम् अवतारयन्ति **यदि** इत्यादि.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

प्रवर्त्स्यति न कर्मादौ. भगवता च [२]मार्गत्रयं न उच्येत इति आकांक्षायां तत्समाधानाय आहु: **वरणे** इत्यादि **अवदातम्** इत्यन्तम्. **तत्साधने** इति. भगवत्प्राप्त्युपायभूते ज्ञानकर्मादिरूपे साधने. **तथैव** इति ''साधनद्वारैव [३]मां भक्तिं वा प्राप्नोतु'' इत्याद्याकारिकया इच्छया. तादृशे वरणे [४]प्रनाडीं बोधयन्ति **परन्तु** इत्यादि. अत्र उदाहरणभूता **अम्बरीषादय:**. शेषं स्फुटमेव. [५]तथाच सामग्रीज्ञानसत्त्वेन तस्य तथा प्रवृत्ति: सुखेन उपपद्यतइति न कोऽपि शंकालेश: इति अर्थ:. तदेतद् उक्तं [६]**सर्वम् अवदातम्** इत्यनेन. एवं मन्त्रादे: भगवदीयत्वेन भक्तित्वं शंकमान: समाहितोऽपि पूजादौ

---

१. प्रभुणेत्यपि क्वचित्. २. मार्गक्रमो न उच्येत इति आकांक्षायाम् इति ख. ३. मां भक्त: प्राप्नोतु इति आद्याकारिका इच्छया इति ख. ४. प्रणाडीम् इति क. ग. ५. तथा सामग्रीज्ञानाभावे तस्य तस्य तथा तथा प्रवृत्ति: सुखेन इत्यादि क. ६. इत्यन्तेन इति ग.

कर्मांगत्वेन क्रियमाणविष्णुस्मरणादेरपि भक्तित्वापत्तिः. कर्ममार्गीयत्वाद् न तथा. पूर्वोक्तन्यायेन विभूतिरूपस्यैव विष्णोः स्मरणादेः तत्र विहितत्वात्

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

वाग्यमलोपः स्याद् जपादिषु कथञ्चन, व्याहरेद् वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद् वा विष्णुम् अव्ययम्'' (   ) इत्यादिविहितभगवद्व्याहरणस्मरणादेः एकविषयत्वाद् भक्तित्वम् आशंक्य मार्गभेदेन भक्तित्वाभावम् उपपादयन्तः सोपपत्तिकं प्रमाणानि दर्शयन्ति **किञ्च** इत्यादिना. **एतेन** इति.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

मूले **कर्ममार्गीयत्वाद् न तथा** इति. पारार्थ्यस्य शेषलक्षणत्वेन कर्मशेषस्यापि भक्तित्वे **''योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः''** (भाग.पुरा.११।२०।६) इत्यत्र उक्तं मार्गत्रित्वं बाध्येत, अंगत्वेन सांकर्यस्य तत्र-तत्र दर्शनात्. अतो मार्गभेदो अवश्यम् अभ्युपेयः. अतएव तादृशस्मरणादिकरणे 'भजते' इति न प्रयुज्यते इत्यपि अनुसन्धेयम्. पूर्वोक्तं रूपभेदं द्रढयितुं तमेव स्मारयन्ति **पूर्वोक्तन्यायेन** इत्यादि. पूर्वोक्तन्यायः सिद्धत्वादिना विशिष्टत्वम्. द्रढयन्ति **कर्म** इत्यादि **वदेद्** इत्यन्तम्. ननु **''यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः''** (भाग.पुरा.१०।७०।४१) इति नारदवाक्याद्, **''मां यजन्तो अध्वरैः युक्ताः''** (भाग.पुरा.१०।७३।२१) इति जरासुतरुद्धराज्ञः प्रति भगवद्वाक्याच्च न उक्तं साम्प्रतम् इति चेद्, न **''एवं यः पूजयेत्त माम्''**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

'भक्ति'पदप्रयोगस्य गौणत्वम् अमन्वानः पुनः प्रत्यवतिष्ठेदिति तत्र प्रयोगस्य गौणत्वं द्रढयितुं दूषणान्तरम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **कर्ममार्गीयत्वाद् न तथा** इति. पारार्थ्यस्य शेषलक्षणत्वेन कर्मशेषस्यापि भक्तित्वे **''योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः''** (भाग.पुरा.११।२०।६) इत्यत्र उक्तं त्रित्वं बाध्येत, अंगसांकर्यस्य तत्र-तत्र दर्शनात्. तादृशे स्मरणे क्रियमाणे 'भजति' इत्यपि प्रयुज्येत. तत्तु न दृश्यते. अतो विष्णुविषयकत्वरूपलिंगापेक्षया प्रकरणस्यैव बलवत्वाद् न तथा इति अर्थः. एतदुपष्टम्भाय सिंहावलोकनेन पूर्वोक्तं स्मारयन्ति **पूर्वोक्त**...इत्यादि. पूर्वोक्तन्यायश्च सर्वाविशिष्टत्वाभावः. ननु

च न तथा, कर्ममार्गे भगवद्विभूतीनामेव इज्यत्वात्. अतएव राजसूयं चिकीर्षुणा धर्मराजेन प्रभुं प्रति विज्ञापितं ‘‘यक्षे विभूती: भवत: तत् सम्पादय: न प्रभो’’ (भाग.पुरा.१०।७२।३) इति, अन्यथा साक्षाद् हरिं विज्ञापयन् ‘त्वाम्’ इत्येव वदेत्. एतेन भगवदिच्छायां सत्यामेव भक्तस्य कर्मकरणम्. तत्र च उक्तानां देवानां तद्विभूतित्वेनैव

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

यक्षे विभूती: इत्यादिप्रमाणै: कर्ममार्गे विभूतीनामेव विषयत्वमिति एवं विदुषो भक्तस्य प्रार्थनया प्रभ्विच्छाभिज्ञानएव भक्तिसमयसंकोचेन कर्माचरणम्.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

(भाग.पुरा.११।२७।५३) इत्यत्रेव अत्रापि विभूतिरूपस्य भगवद्रूपत्वम् अभिप्रेत्यैव तथा उक्ते: तत्र देवेष्वेव कर्मसचिवत्वस्य दर्शनात् [1]प्रैषयाज्यापुरोवाक्यात् त्यागादिभि: तथा निश्चयात्, साक्षात्पुरुषोत्तमपरत्वे विध्यपराधाभावेन प्रायश्चित्तविधिवैयर्थ्यप्रसक्ते:, **‘‘न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म: उद्धव!’’** (भाग.पुरा.११।१२।१) इति पूर्वोक्तभगवद्वाक्यविरोधाच्च. एवञ्च **‘‘विष्णु: उपांशु यष्टव्य:’’** (   ) **‘‘त्रेधा तन्दुलान् विभजेद् ये मध्यमा: स्यु: तान् अग्नये दात्रे पुरोडाशम् अष्टाकपालं कुर्याद्, ये स्थविष्ठा: तान् इन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं, ये अणिष्ठा: तान् विष्णवे [2]शिपिविष्टाय शृते चरुम्’’** (तैत्ति.संहि.२।५।५।२), **‘‘वैष्णवं**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

कर्ममार्गस्य विभूतिपरत्वे उपासनायामिव **गमकं** न उपलभामहइति तत्र अस्तु भगवदुद्देश्यत्वम् इति शंकायां तस्य तथात्वे **गमकम्** आहु: **अतएवं** इत्यादि. **अतएव** इति. विभूतिपरत्वादेव. ननु अस्तु कर्ममार्गस्य विभूतिपरत्वं, तथापि भक्तस्य कर्मकरणे अनन्यत्वं तु भज्येतैव, इतरसाधननिष्ठाराहित्यपूर्वकभक्त्येकनिष्ठत्वस्यैव अनन्यतापदार्थत्वाद् इत्यत: आहु: एतेन इत्यादि. ननु **‘‘यक्ष्ये विभूती:’’** इति वाक्यमात्रेण कर्ममार्गस्य विभूतिपरत्वस्थापनम् अनुचितम्.

---

[1] पुरोनुवाक्यस्य आदिभि: इति ख. [2] शिपिविष्टाय इति वदेवेष्वेव कर्मसचिवत्वस्य दर्शनात्-प्रैषयाज्यापुरोक्याश्रुते चरुम् इति ख.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः, पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये'' (भाग.पुरा.४।७।१७) इत्यादिषु नामरूपसाम्येऽपि इतरतौल्याद् विशेषणाद् ''**धिया विशुद्धया दध्यौ**'' (भाग.पुरा.४।७।१८) इति कथनाच्च विभूतिपरत्वं न क्षुद्यते. तथा पञ्चमस्कन्धे ''**नाभिः अपत्यकामो अप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषम् अवहितात्मा अयजत**'' (भाग.पुरा.५।३।१) इत्युक्ते यागे यः परमपुरुषप्रादुर्भावः सोऽपि ''**तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीकः आत्मानम्**'' (भाग.पुरा.५।३।१) इत्यादिना **आविश्चकारः** इत्यन्तेन द्रव्यमन्त्राद्यगम्यत्वकथनपूर्वकं स्वीयवात्सल्येनैव उक्त इति न तेनापि यागादेः साक्षात्पुरुषोत्तमपरत्वं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

''**यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण**'' (भाग.पुरा.१०।१७।४१) इति राजसूयप्रकरणएव नारदवाक्याद् ''**मां यजन्तो अध्वरैः युक्ताः**'' (भाग.पुरा.१०।७३।२१) इति मागधरुद्धराज्ञः प्रति भगवद्वाक्याच्च इति चेद्, न. ''**एवं यः पूजयेत माम्**'' (भाग.पुरा.१०।२७।५३) इत्यत्रेव 'त्वाम्' इत्यत्रापि विभूतिरूपस्य भगवदभिन्नत्वम् अभिप्रेत्यैव तथोक्तेः यागे कर्मसचिवत्वस्य देवेष्वेव दर्शनात् [1]प्रैषयाज्यापुरोनुवाक्यादिभिः तथा निश्चयात्, साक्षात्पुरुषोत्तमपरत्वे [2]विध्यपराधाप्रसक्त्या प्रायश्चित्तविधिवैयर्थ्यापत्तेश्च ''**न रोधयति मां योगः**'' (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यादिपूर्वोक्तवाक्यविरोधाच्च. एवञ्च ''**विष्णुरुपांशु यष्टव्यः**'' (   ) इत्यत्रापि विभूतिरूपएव सः ''**विश्वदेवाः उपांशु यष्टव्याः**'' (   ) इत्यादिवाक्यदर्शनिन इतरतौल्यात्. एवम् अन्यत्रापि ज्ञेयम्. नच पञ्चमस्कन्धोक्तेः अपत्यकामस्य नाभेः यागे भगवतः प्रादुर्भावात् कथं विभूतिपरत्वम् इति शंक्यं तत्र भक्त्यै भगवदाविर्भावात्. ''**तस्य ह वाव श्रद्धया यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमो भगवान् भागवतवात्सल्यतया [3]सुप्रतीकः आत्मानम्**

---

[1] तन्निश्चयाद् इति ख. [2] विध्यपराधप्रसक्त्या इति ख. [3] सुप्रतीकआत्मानम् इति क. ग.

यागः. अन्यथा अनन्यत्वभंगप्रसंगः इति सूचितम्. अपरञ्च तत्तदुपासकस्य

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

नो चेद् “**मत्कर्मकृद् मत्परमः**” (भग.गीता ११।५५) “**अनन्यचेताः सततम्**” (भग.गीता ८।१४) “**अनन्याः चिन्तयन्तो माम्**” (भग.गीता ९।२२) इत्याभिः अप्राप्तावसरत्वादेव कर्मणाम् अप्राप्तेः उपस्थितभजनपरित्यागेन स्वामिद्रोहप्रसंगाद् असामञ्जस्यमेव इति ज्ञेयम्. फलभेदादपि कारणभेदो युक्तइति आहुः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

सम्भावयितुं शक्यम्. एवमेव पृश्निसुतपः तपस्यपि ज्ञेयं तत्रापि “**तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः**” (भाग.पुरा.१०।३।३७) इति वाक्यदर्शनात्. एवं सिद्धे कर्मणां विभूतिपरत्वे यत्र तादृशवाक्याभावेऽपि प्रादुर्भावादिकथनं तत्रापि उक्तन्यायकएव शास्त्रार्थो बोध्यः. तदेतत् सर्वं मनसि कृत्वा मूले टीकायां च विभूतीनामेव इति ‘एव’कारः उक्तः. टीकायां **कारणभेदः** इति. तत्तत्फलकारणीभूतानाम् उपासनादीनां भक्तेः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

आविश्कारः” (भाग.पुरा.५।३।२) इति कथनात्. एवमेव पृश्निसुतपः तपस्यपि ज्ञेयं तत्रापि “**तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः**” (भाग.पुरा.१०।३।३७)इति वाक्यात्. एवं सिद्धे कर्मणां विभूतिपरत्वे यत्र तादृशवाक्याभावः तत्रापि प्रादुर्भावहेतुत्वेन [1]भक्तिः कल्प्या इति दिक्. [2]भगवदिच्छा च स्वस्य साधनसम्पत्यनन्तरं तत्कर्मकरणेच्छोत्पत्तौ भगवद्विज्ञापने तदनुकूलसम्भारारम्भणादौ विघ्नाभावाद् भगवद्भक्ताज्ञादिभिः बोध्या. ननु अस्तु कर्मादीनां विभूतिपरत्वं तथापि “**यथा अद्रिप्रभवा नद्यः**” (भाग.पुरा.१०।४०-१०) इति वाक्याद् अन्ततः तैरपि भगवतएव प्राप्तिरिति फलतो विशेषाभावात् तथात्वेऽपि दोषः इति शंकायां तैः विलम्बं तेषां प्रतिबन्धग्रस्तत्वं च वक्तुं ज्ञानमार्गस्यापि क्लेशसाध्यत्वाद् भक्तेः सकाशाद् न्यूनत्वं च वक्तुं सकामकर्मणो अतिजघन्यत्वं च वक्तुम् आहुः अपरञ्च इत्यादि

---

[1] भक्तिः इति नास्ति ख. [2] भगवद् इत्यतः आरभ्यः इत्यादिना इति इति प्रतीकपर्यन्तो ग्रन्थो नास्ति क.

तत्तत्सायुज्यं परमफलं, ‘‘देवान् देवयजो यान्ति’’ (भग.गीता ७।२३) इति वाक्याद्, ‘‘यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं तं तमेव इति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः’’ (भग.गीता ८।६) इति वचनात्. एवञ्च सति एकादशस्कन्धे अस्मत्प्रभुणा ‘‘केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः, ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा माम् इयुः अञ्जसा’’ (भाग.पुरा.११।१२।८) इति महता प्रबन्धेन गोकुलवासिनां स्वप्राप्तिं निरूप्य ‘‘यद् न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि’’ (भाग.पुरा.११।१२।९) इति इतरसाधनवदप्राप्यत्वं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

सकाशाद् भेदः इति अर्थः. अपरञ्च इत्यादौ मूले **तत्तदुपासकस्य** इत्यनेन औत्तरतन्त्रः तत्क्रतुन्यायः स्मार्यते तत्र हि ‘‘**यथाक्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथा इतः प्रेत्य भवति**’’ (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रवणात्. तत्रापि नानादेवोपासकस्य फलव्यवस्थाबोधनाय द्वितीयं वाक्यं यं यं इत्यादि. तथाच्च तस्यापि [1] न भगवत्सायुज्यम् इति भावः. श्रौतस्मार्तानां योगादीनां भगवत्सायुज्यहेतुत्वं प्रतिक्षिपन्तः तेन इष्टसिद्धिम् आहुः एवञ्च इत्यादिना.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

निरूपितः इत्यन्तम्. अत्र तत्तदुपासकेत्यनेन औत्तरतन्त्रः तत्क्रतुन्यायः स्मार्यते तत्र ‘‘**यथाक्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथा इतः प्रेत्य भवति**’’ (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रवणात्. ‘‘**यं यं वापि**’’ (भग.गीता ८।६) इति द्वितीयवाक्येन नानादेवोपासकस्य [2] तत्त्वदीपानुसृता फलव्यवस्थाः उच्यते. तेन यावद् ‘‘**अधिकारम् आधिकारिकम्**’’ ( ) इति न्यायेन **विलम्बः** तेषाम् अभक्तत्वे पुनरावृत्तिश्च ‘‘**अन्तवत्तु फलं तेषाम्**’’ (भग.गीता ७।२३) इति वाक्यानुसारिणी बोध्यते. [3] एवञ्च सति इत्यादिना प्रसंगतो योगादीनामपि असाधकत्वं बोध्यते. तेन **रमते निजभक्तेषु** इति प्रतिज्ञातस्य प्रामाणिकत्वं दृढीक्रियते. **एवञ्च सति** इति. विभूतिपराणां

---

१. नेति नास्ति ख. २. तत्त्वदीपानुसृतापि अवस्थोच्यते इति ख. ३. एवञ्च इत्यादिः परम्परयापि न आगमनम् इति अन्तोंशो नास्ति ग.

स्वस्य निरूपितमिति भक्त्यतिरिक्तसाधनप्राप्यं न पुरुषोत्तमस्वरूपम् इति निश्चीयते. गीतासु च पार्थेन "एवं सततयुक्ताः ये भक्ताः त्वां पर्युपासते, ये चापि अक्षरम् अव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः" (भग.गीता १२।१) इति प्रश्ने कृते "मयि आवेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः उपासते, श्रद्धया परया उपेताः ते मे युक्ततमाः मताः" (भग.गीता १२।२) इति भक्तिमार्गीयोपासनस्य ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षम् उक्त्वा "येतु अक्षरम्" (भग.गीता १२।३) इत्यादिना ज्ञानमार्गिणाम् अपकर्षम् उक्तवान् भगवानिति न ज्ञानमार्गस्यापि पुरुषोत्तमविषयत्वम्. अत्र "ते प्राप्नुवन्ति मामेव" (भग.गीता १२।४) इत्यत्र अक्षरस्यापि पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तद्विभूतिरूपत्वाद् 'माम्' इति उक्तम्. नच अक्षरमेव पुरुषोत्तमः इति वाच्यम्, "कूटस्थो अक्षरः उच्यते" (भग.गीता १५।१६) "उत्तमः पुरुषः तु अन्यः" (भग.गीता १५।१७), "अक्षरादपि च उत्तमः" (भग.गीता १५।१८) इति भगवद्वचनात्. कर्ममार्गोऽपि एवमेव ज्ञेयः. तथाहि, "याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति अविपश्चितः वेदवादरताः पार्थ! न अन्यद् अस्ति इति वादिनः" (भग.गीता २।४२) इत्यादिना. "त्रैविद्याः मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते, ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम् अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्, ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

एवञ्च सति इति. विभूतिपराणां फले उक्तवाक्याभ्यां निर्धारिते सति. तथाच तत्र तेषां फलं निर्धारितम्, अत्र स्वस्य अप्राप्यत्वम् उक्तम्. तेन तत्प्राप्यस्य विभूतित्वं तत्क्रतुन्यायादपि सिद्ध्यति इति अर्थः. ज्ञानमार्गस्यापि तथात्वाय गीतासु इत्यादिग्रन्थः. सकामकर्ममार्गस्य अतिजघन्यत्वाय अग्रिमः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

फले उक्तवाक्याभ्यां निर्धारिते सति. तत्र तेषां फलं निरधारि. अत्र स्वस्य अप्राप्यत्वम् अवादि. तेन तत्प्राप्यस्य विभूतित्वं तत्क्रतुन्यायादपि बोध्यते. गीतासु 'च' इत्यादिना ज्ञानमार्गस्यापि भक्तिमार्गापेक्षया न्यूनत्वं

विशन्ति. एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना: गतागतं कामकामा: लभन्ते''(भग.गीता - ९।२०-२१) इत्यादिभगवद्गीतासु, श्रीभागवते च ''अथ यो गृहमेधीयान् धर्मानेव आवसन् गृहे कामम् अर्थञ्च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूय: पिपर्ति तान्, स: चापि भगवद्धर्मात् काममूढ: पराङ्मुख: यजते क्रतुभि: देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वित:... येतु इह आसक्तमनस: कर्मसु श्रद्धयान्विता: कुर्वन्ति अप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नश:, रजसा कुण्ठमनस: कामात्मानो अजितेन्द्रिया: पितृन् यजन्ति अनुदिनं गृहेषु अभिरताशया:, त्रैवर्गिका: ते पुरुषा: विमुखा: हरिमेधस:, कथाया: कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विष:'' (भाग.पुरा.३।३२।१,१६-१८) इत्यादिना ''जायस्व म्रियस्व'' (छान्दो.-उप.५।१०।८) इति तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपित: इति. ननु नवविधभक्तौ

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

अपरञ्च इति. स्पष्टं व्याख्यातप्रायं मूलएव. पूजाया: कर्मत्वेऽपि भक्तित्वं शंकते, **ननु** इति. पूर्वम् उक्तमपि प्रकारान्तरेण आहु: **अत्र** इति

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

कर्ममार्ग: इत्यादि: ग्रन्थ:. **टीकायां पूजाया:** इत्यादि. एवं भक्त्यतिरिक्तमार्गाप्राप्यत्वे पुरुषोत्तमस्य निर्णीते पूजाया: भक्तित्वेन पुरुषोत्तमप्रापकत्वं भक्तित्वापादनेन **शंकते** इति **अर्थ:**. तथाच उपासनां कर्मकाण्डं च आरभ्य अधीताया: भक्तित्वाभावेऽपि भक्त्यन्त:पातिन्या: तस्या: तदविलक्षणत्वात् तेन रूपेण अर्चनविधौ पुरुषोत्तमस्य उद्देश्यत्वं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेक:

बोध्यते. कर्ममार्गेत्यादिना च सकामकर्मण: परम्परयापि न आगमनं किन्तु अनिष्टपर्यवसायित्वम् इति निरूप्यते. एवमेव ज्ञेय: इत्यत्र हेतु: **इत्यादिना** इति. इत्यादिभगवद्गीतासु इत्यस्य **तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपित:** इत्यनेन सम्बन्ध:. तेन भक्त्यतिरिक्तमार्गे भगवत: साक्षात् सम्बन्धाभावाद् न तद्विध्युद्देश्यत्वं भगवतइति **साधितम्**. तत्र पुन: प्रतिज्ञाहानिम् आपादयन् प्रत्यवतिष्ठते **ननु नव**... इत्यादि. **तथात्वम्** इति भक्तित्वम्.

अर्चनस्यापि उक्तत्वात् कथं न पूजायाः तथात्वम् इति चेद्, अत्र वदामः. श्रवणादिनवकमपि अधिकारीभेदेन क्रियमाणं सत् कर्म-

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

त्रयाणाम् असंकीर्णोदाहरणम् आहुः **तथाहि** इति. **तदा सः तथा** इति. सः श्रवणादिः तथा पूर्वोक्तकर्ममार्गीयएव इति अर्थः. यद्यपि

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

दुष्परिहरम् इति शंकाग्रन्थस्य आशयः. **प्रकारान्तरेण** इति. **नवविधभक्तीनां** स्वरूपविचारेण. एतासां लक्षणन्तु भगवद्वाचकपदवाक्यानां, भगवति शक्तितात्पर्यनिर्धारः 'श्रवणम्'. तादृशनिर्धारपूर्वकम् उच्चारणं 'कीर्तनम्'. तथैव स्वरूपचिन्तनं 'स्मरणम्'. 'पादसेवनं' परिचर्या. 'अर्चनं' पूजनम्. 'दास्यं' कर्मार्पणम्. 'सख्यं' तद्विश्वासादि. 'आत्मनिवेदनं' देहसमर्पणम्. **"यथा विक्रीतस्य गवाश्वादेः भरणपालनादिचिन्ता न क्रियते तथा देहं तस्मै समर्प्य तच्चिन्ता वर्जनम्"** (भाग.पुरा.श्रीधरी.७।५।-२३) इति श्रीधरीये. **अत्र** इति. अनया भंग्या पुरुषोत्तमोद्देश्यत्वशंकायां तस्याः भक्तिबहिर्भावाय **सर्वभक्तीनां स्वरूपभेदं ब्रूमः** इति अर्थः. मूले अधिकारभेदेन तत्तन्मार्गीयत्वं रूपभेदाभावेऽपि नित्यकाम्याग्निहोत्रन्यायेन स्वरूपभेदाद् बोध्यम्. तथा तात्पर्यनिर्णये फलस्यापि पृथक् प्रयोजकत्वात् तेनापि स्वरूपभेदो न दुरुपपादः. तेन भक्तौ फलान्तरनिरूपणं तस्याः कल्पतरुस्वभावत्वज्ञापनाय इति पूर्वं यद् उक्तं [१]तद् अत्र निष्कृष्यते. तथाच अयम् अर्थः. एकादशे विंशाध्याये भगवता कर्मज्ञानभक्त्याख्याः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तथाच उपासनां कर्मकाण्डं च आरभ्य अधीतायाः पूजायाः भक्तित्वाभावेऽपि नवविधभक्त्यन्तःपातिन्याः तस्याः [२]पूर्वोक्ताविलक्षणत्वाद् भक्तित्वेन रूपेण अर्चनविधौ पुरुषोत्तमस्य उद्देश्यत्वं दुष्परिहरं, सिद्धान्तिना श्रवणादिनवकस्य सर्वविशिष्टत्वेन पुरुषोत्तमपरत्वांगीकारात्. ततश्च प्रतिज्ञाहानिः वज्रलेपायिता इति अर्थः तथा समादधते **अत्र वदामः** इत्यादिना. अत्र

---

१. तद्दर्शनम् उच्यते इति क. २. पूर्वोक्तविलक्षणत्वाद् इति ख. पूर्वोक्तेत्यादिः अन्यथा चरणामृतेनापि इति अन्तोग्रन्थो नास्ति ग.

ज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति. तथाहि श्रीभागवत-सहस्रनामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन हि चत्वारोऽपि अर्थाः उच्यन्ते. तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा सः तथा. वृत्त्यर्थं चेत्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

त्रयो योगाः नृणां श्रेयोअर्थम् उक्ताः अधिकारिभेदेन निष्कृष्टाश्च. सप्तदशे च **“यथा अनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिः नृणां भवेत्, स्वधर्मेण अरविन्दाक्ष! तन्मे व्याख्यातुम् अर्हसि”** (भाग.पुरा.११।१७।२) इति प्रश्ने चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यधर्माः च उक्ताः. तथा सति भक्त्यर्थं कर्माणि पूर्वतः सकामस्य [1]कर्मभक्तत्वात् तादृशस्य त्रिवर्गकामनायां तेन क्रियमाणस्य कर्ममार्गीयत्वम्. उपासनायाअपि मानसकर्मत्वेन तच्छेषस्य तथात्वेऽपि [2]कर्ममार्गीयएव अन्तर्भावः. ज्ञानमार्गीयस्यतु तदीयत्वं स्पष्टमेव. भक्तिमार्गीयेऽपि तथात्वं तथा इति अभिसन्धाय आहुः **त्रयाणाम्** इति. एवञ्च कर्मोपासनयोः फलभेदेऽपि कर्ममार्गीयत्वेनैव असंकीर्णता. तथैव भक्तिमार्गीयस्यापि इति त्रित्वं सूपपन्नम्. मूले **अर्थाद्यर्थिभिः** इत्यनेन ‘आदि’पदेन [3]कामपूजे संगृह्येते.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

एवं पुरुषोत्तमोद्देश्यकत्वशंकायां वदामः श्रवणादिनवकस्य अधिकारिभेदेन स्वरूपभेदम् उपपादयामः इति अर्थः. तथाच **“मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तद्, राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्”** (भाग.पुरा.११।२५।-२३) इति एकादशे भगवता एकस्यैव कर्मणो अधिकारिभेदेन नानारूपत्वकथनात् तथैव गीतायामपि प्रतिपादनाद् रूपफलादिवद् अधिकार्यपि स्वरूपभेदकइति तेन भिन्ने श्रवणादिस्वरूपे तादृशस्य श्रवणादेः अविशिष्टत्वे निवृत्तेः ततो भक्तित्वस्यापि निवृत्तेः तत्र विभूतेरेव सम्बन्धइति न [4]भगवतः उद्देश्यत्वम्. प्रवृत्तिस्तु [5]उद्देश्यत्वभ्रमादेव, अन्यथा पूर्वोक्तशास्त्रबाधापत्तेः. एवं निवृत्तः उद्देश्यत्वे प्रतिज्ञा सुस्थिरैव इति भावः. तदेतद् अभिसन्धाय आहुः

---

१. कर्मभक्तित्वाद् इति क. २. कर्ममार्गीयत्वएव इति ख. ३. कामपूजा संगृह्यते इति क. ४. भगवदुद्देश्यत्वम् इति ख. ५. उद्देश्यभ्रमादेव इति ख.

कृषिवद् लौकिकएव. [१]शौचार्थिगंगास्पर्शवच्च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते. प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि. एतेन विहितजातीयं कर्म [२]यथा कथञ्चित् कृतम् उक्तफलाय इति निरस्तम्. तुरीयाश्रमे [३]ज्ञानोदयहेतुचित्तशुद्धिहेतुत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः ज्ञानमार्गीयः "यथा यथा आत्मा परिमृज्यते असौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः" (भाग.पुरा ११।

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

त्रिवर्गमध्ये अर्थार्थित्वम् उक्तमेव तथापि धर्मराहित्यपूर्वकत्वकथनाय पुनर्वचनम्. **वृत्त्यर्थम्** इति. वृत्तिः जीवनम्. एतेन इति. भावभेदात् फलभेदकथनेन इति अर्थः. सांगादेव वैदिककर्मणः फलोदयाद् न कृतिमात्रेण साफल्यम् इति अर्थः. **तुरीयाश्रमे** इति. सर्वत्र कृतिसारूप्येऽपि साधनदशायां

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

वृत्त्यर्थम् इति 'वृत्ति'पदमपि अविहितरीतिककामपूजयोः उपलक्षकम्. [४]**गंगास्पर्श...** इति. नद्यात्मकगंगास्पर्शो नतु उद्धृतजलस्पर्शः, उद्धृतजलस्य तदर्थं स्पर्शे दोषस्य स्मृत्यगोचरत्वादिति स्मार्ताः. भगवद्भक्तास्तु उद्धृतेऽपि तादर्थ्ये दोषं मन्यन्ते, अन्यथा चरणामृतेनापि तथाकरणे दोषाभावप्रसक्तेः. नच विशेषवचनाभावाद् लोकवद् विशिष्टत्वाच्च अत्र दोषो न तत्र इति वाच्यं, तस्य अत्रापि तौल्यादिति. **पापमपि** इति. "**तपो न कल्को अध्ययनं न कल्कः**" (महाभा.११।२५६) इत्यादिवाक्येभ्यः इति अर्थः. टीकायां सांगाद्... इत्यादि. तथाच्च तादृशे **कर्मणि** वैदिककर्मत्वमेव

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

श्रवणादि इत्यादि. **कर्ममार्गीयएव** इति. तादृशाधिकारिणः तन्मार्गीयत्वात् तथा इति अर्थः. अर्थादि इत्यादिपदेन कामः पूजा च संगृह्यते.

---

१. शौच्चार्थं गंगास्पर्शवच्च इति क्वचित्. विवेकेनतु स्पर्शवच्च इति चकारो नास्ति इति भाति. २. कृतं मुक्तिफलाय इति क्वचित्. ३. ज्ञानोदयहेतुः इति सविसर्गः पाठः क्वचित्. ४. गंगास्पर्शः इति, इति द्वयोरपि पुस्तकः पाठः, मूलानुरोधीतु एषः.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

न फलैक्यम् इति तात्पर्यम्. **साक्षाद्...** इति. [१]ज्ञानव्यवधान-

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

दुर्घटं चेत्, तादृशपूजायामपि तादृशत्वाद् भक्तित्वं सुतरां दुर्घटम् इति अर्थ:. मूले कर्ममार्गवद् ज्ञानमार्गेऽपि परम्पराया: तुल्यत्वात् तदीयस्वरूपम् आहु: **तुरीयाश्रमे** इत्यादि. "**यथा यथा आत्मा**" इति. 'आत्मा' अन्त:करणम्. वाक्योत्तरार्धन्तु "**तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षु: यथैव अञ्जनसम्प्रयुक्तम्**" (भाग.पुरा.११।१४।२६) इति. इदं वाक्यम् एकादशीयचतुर्दशाध्यायस्थम्. तत्र आरम्भे "**भवता उदाहृत: स्वामिन् भक्तियोगो अनपेक्षित:, निरस्य सर्वत: संगं येन त्वयि आविशेद् मन:**" (भाग.पुरा.११।१४।२)

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं विवेक:

वृत्त्यर्थम् इति 'वृत्ति'पदम् अविहितरीतिकपूजाकामयोरपि उपलक्षकम्. [२]**गंगास्पर्शवद्** इत्यत्र गंगास्पर्शो [३]नद्यात्मकतत्स्पर्श:, नतु उद्धृततज्जलस्पर्शोऽपि, उद्धृतजलस्य [४]तदर्थं स्पर्शे दोषस्य स्मृत्यनुक्तत्वाद् इति स्मार्ता: भगवद्भक्तास्तु तदर्थम् उद्धृतेऽपि जले दोषं मन्यन्ते अन्यथा चरणामृतेनापि तथाकरणे दोषाभावप्रसक्ते:. नच विशेषवचनाभावाद् लोकवद् विशिष्टत्वाच्च अत्र दोषो न तत्र इति वाच्यम्, तस्य अत्रापि तौल्यादिति. **पापमपि** इति. [५]"**तपो न कल्को अध्ययनं न कल्क:**" (महाभा.१।१।२५६) इत्यादिवाक्येभ्य: इति अर्थ:. **एतेन** इति. लौकिकत्वादिस्थापनेन. द्वितीयं वक्तुं तदधिकार्यादिकम् आहु: **तुरीय** इत्यादि. तथाच [६]ज्ञानोदयहेतुचित्तशुद्धिकामो यति: अत्र अधिकारीति तेन श्रवणादे: भेद: इति अर्थ:. **प्रमाणम्** आहु: **यथा** इत्यादि. आत्मा अन्त:करणम्. [७]वाक्योत्तरार्धन्तु

---

१. ज्ञानाव्यवधानपूर्वकम् इति ख. घ, ज्ञानाद्यवधानपूर्वकम् इति ग. २. गंगास्पर्श: इत्यत्र इति ख. ३. नद्यात्मकतत्स्पर्श: इति अर्थ: इति ख. ४. तदर्थे स्पर्शे इति ख. ५. तपो न कल्को अध्ययनम्. कल्कोऽस्त्री शमलैनसो: इति अमर: कल्क: इत्यादि वाक्येभ्य: तथा इति अर्थ: इति क ५. ज्ञानोदयहेतुचित्तशुद्धिहेतुकयति: अत्र इत्यादि ख. ७. वाक्योत्तरार्धेतु इति ख.

१४।२६) इत्यादि वाक्यैः. साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन तान्त्रिकदीक्षापूर्वकं

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

-पूर्वकशुद्धभावनामात्रेण इति अर्थः. पञ्चरात्रपुराणादिषु अयमेव

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति प्रश्ने सर्वसंगनिरासस्य तुरीयाश्रमधर्मत्वात् तुरीयाश्रमलाभः. सर्वसंगनिरासोपलक्षकं वा तुरीयाश्रमपदम्. **तुरीयाश्रमे** इत्यादिनिरूपणस्य तात्पर्यं टीकायाम् आहुः **सर्वत्र** इत्यादि. **कृतिसारूप्येऽपि साधनदशायाम्** इति. साधनदशायां कृतिसारूप्येऽपि इति अर्थः. **तात्पर्यम्** इति. प्रघट्टकतात्पर्यम्. **साक्षाद्...**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

"**तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुः यथैव अञ्जनसम्प्रयुक्तम्**" (भाग.पुरा.११।१४।२६) इति. वाक्यन्तु एकादशीयचतुर्दशाध्यायस्थम्. तत्र सन्दर्भारम्भे "**भवता उदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगो अनपेक्षितः निरस्य सर्वतः संगं येन त्वयि आविशेद् मनः**" (भाग.पुरा.११।१४।२) इति प्रश्नवाक्योक्तस्य सर्वसंगनिरासस्य तुरीयाश्रमधर्मत्वात् तल्लाभः. सर्वसंगनिरासोपलक्षकं वा तुरीयाश्रमपदम्. तृतीयम् आहुः **साक्षाद्...** इत्यादि. अत्र इदं बोध्यम्. एकादशस्य एकादशाध्याये पूर्वम् "**आत्मारामो अनया वृत्त्या**" (भाग.पुरा.११।११।१७) इत्यन्तेन आत्मारामधर्मान् उक्त्वा तदर्थं सर्वगतस्य मनसः स्वस्मिन् अर्पणं च उक्त्वा तत्र अनधिकारे "**यदि अनीशो धारयितुम्**" (भाग.पुरा.११।११।२२) इत्यादित्रयेण निरपेक्षकर्मणा शुद्धसत्त्वस्य भक्तिम् उक्त्वा "**सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां सः उपासिता, स वै मे दर्शितं [1]'सद्भिः अञ्जसा विन्दते पदम्**'" (भाग.पुरा.११।११।२५) इति स्वपदप्राप्तिः उक्ताः. ततो [2]"**भक्तिः त्वयि उपयुज्येत कीदृशी सद्भिः आदृता**" (भाग.पुरा.११।११।२६) इति प्रश्ने "**मल्लिंगमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्**" (भाग.पुरा.११।११।३४) इत्याद्यष्टभिः पूर्वोक्तोपासनाशेषभक्तिकथने "**वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्**" (भाग.पुरा.११।११।३७) इत्यनेन वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मध्ये गणिता. उपसंहारे च "**इष्टापूर्तेन**

---

[1] रूपम् अञ्जसा इति ख. [2] भक्तिः त्वयि उपपद्येत इति ख.

विहितत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः उपासनामार्गीयः. अयमेव [1]'वैष्णवमार्गः' इति उच्यते, विष्णुधर्मेष्वेव निष्ठावत्त्वात्.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति. अत्र इदं बोध्यम्. एकादशस्य एकादशाध्याये पूर्वम् "**आत्मारामो अनया वृत्त्या**" (भाग.पुरा.११।११।१७) इत्यन्तेन आत्मारामधर्मान् उक्त्वा तदर्थं सर्वगस्य मनसः स्वस्मिन् अर्पणं च उक्त्वा [2]तदनधिकारे "**यदि अनीशो धारयितुम्**" (भाग.पुरा.११।११।२२) इत्यादित्रयेण निरपेक्षकर्मणा शुद्धसत्त्वस्य भक्तिम् उक्त्वा "**सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां यः उपासिता, सः वै मे दर्शितं सद्भिः अञ्जसा विन्दते पदम्**" (भाग.पुरा.११।११।२५) इति स्वपदप्राप्तिः उक्ता. ततो "**भक्तिः त्वयि उपयुज्येत कीदृशी सद्भिः आदृता**" (भाग.पुरा.११।११।२६) इति प्रश्ने "**मल्लिंगमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्**" (भाग.पुरा.११।११।३४) इत्याद्यष्टभिः पूर्वोक्तोपासनाशेषभक्तिकथने वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मध्ये गणिता. [3]एवम् उपसंहारे च "**इष्टापूर्तेन माम् एवं यो यजेत समाहितः, लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

माम् एवं यो यजेत समाहितः, लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया" (भाग.पुरा.११।११।४७) इति उक्तम्. एवं सति उपक्रमे "**सत्संगलब्धया...**" इति वाक्ये यद् उक्तं तद् अत्र साक्षान्मोक्षसाधकत्वेन इत्यन्तेन उक्तम्. या पुनर्मध्ये तान्त्रिकी दीक्षा उक्ता सा **तान्त्रिकदीक्षापूर्वकम्** इत्यनेन स्मारिता. यत् पुनः अन्ते "**यो यजेत समाहितः**" इत्यनेन विध्यनुवादः उक्तः सः **विहितत्वेन** इत्यन्तेन स्मारितः. उपक्रमे **उपासिता** इति कथनाद् उपासनामार्गीयत्वम् [4]एतस्य अत्र उक्तम्. अतः सर्वम् इदं भगवदुक्तमेव प्रमेयम्. तथापि तत्र वैदिक्या दीक्षायाः भक्तिरूपफलस्य च कथनेन तत्प्रावाहिकभक्तिमर्यादाभक्तिसंकीर्णम् इति, तद् अत्र प्रमाणत्वेन न उदाहृतं,

---

१. तान्त्रिकमार्गः इति क्वचित्. २. तत्र अनधिकारे इति ख. ३. एवम् इति नास्ति ख. ४. एतस्यामुक्तम् इति क.

मुक्तिसाधनत्वप्रतिपादकवाक्यैः एवम् अवसीयते. "अचार्यमेव हरये"

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

आचार्यानुग्रहलब्धो वैष्णवधर्मपरो 'वैष्णवमार्गः' उच्यते. **मुक्तसाधन...**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

साधुसेवया" (भाग.पुरा.११।११।४७) इति उक्तम्. एवं सति उपक्रमे "**सत्संगलब्धया...**" इति वाक्ये यद् उक्तं तद् मूले **साक्षान्मोक्षसाधकत्वेन** इत्यनेन उक्तम्. तदेव टीकायां ज्ञानाव्यवधानेत्यादिना व्याख्यातम्. या पुनःमध्ये तान्त्रिकी दीक्षा उक्ता सा मूले **तान्त्रिकदीक्षापूर्वकम्** इत्यनेन स्मारितः. यत् पुनरन्ते "**यो यजेत**" इति विध्यनुवादः उक्तः सः मूले **विहितत्वेन** इत्यनेन उक्तः. उपक्रमे '**उपासिता**' इति '**समाहितः**' इति च कथनाद् उपासनामार्गीयत्वम् अत्र उक्तम्. अतः सर्वम् एतद् एकादशीयमेव प्रमेयं भगवदुक्तत्वेन सन्देहाभावाय उक्तम् इति ज्ञेयम्. एतस्य वैष्णवमार्गत्वे युक्तिम् उक्त्वा प्रमाणं वदन्ति इति आशयेन आहुः **पञ्चरात्र...** इत्यादि. ननु मुक्तिप्रतिपादकवाक्यानां चेद्, उपासनामार्गीयः श्रवणादिः विषयः तदा "**आचार्यमेव हरये**" (भाग.पुरा.११।२।४७) इत्यादेः को वा विषयः तत्र 'भक्त'पदेन कर्मज्ञानमार्गीययोः, [1]'प्राकृत'पदेन भक्तिमार्गीयस्य व्यावर्तनाद्, मुक्त्यप्रतिपादनेन अस्यापि वक्तुम् अशक्यत्वाच्च इति आकांक्षायां तादृग्वाक्योक्तसंग्रहाय वदन्ति इति आशयेन आहुः **चतुर्विधा...** इत्यादि. अस्मिन् वाक्ये '**आर्तः**' प्रतिष्ठाहीनो भ्रष्टैश्वर्यः तत्प्राप्तिकामः. '**अर्थार्थी**' अप्राप्तैश्वर्यविषयतया ऐश्वर्यकामः. एतयोः गुणमात्रं भिन्नम् अधिकारस्तु एकएव. '**जिज्ञासु**' प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपावाप्तीच्छुः. '**ज्ञानी**'तु प्रकृतिवियुक्तात्मास्वरूपे अपर्यवस्यन् भगवन्तं प्रेप्सुः भगवन्तमेव परमप्राप्यं मन्वानः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

अत्र विविक्ततत्कथनस्य अभिसंहितत्वादिति. **अयम्** इति. तान्त्रिकदीक्षाविशिष्टत्वात् [2]पञ्चरात्रादिदक्षिणागमोक्तः विष्णुधर्मेषु निष्ठावत्त्वं [3]वामवैष्णवेष्वपि अस्तीति तन्निरासाय आहुः **मुक्ति** इत्यादि. "**मोक्षम् इच्छेद् जनार्दनाद्**"

---

१. प्राकृतपदेन न अस्यापि वक्तुम् अशक्यत्वाच्च इति आकांक्षायाम् इति ख.

२. पञ्चरात्राद्यागमोक्तः इति ख. ३. वामवामं वैष्णवेष्वपि इत्यादि क.

(भाग.पुरा.११।२।४७) इत्यादिवाक्यानाम् अयमेव विषयः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इति. **“चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो अर्जुन! आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ!”** (भग.गीता ७।१६) इत्यत्र आर्ताधिकारकभजनस्य सर्वसाधारण्येन प्रावाहिकत्वं वक्तुं तल्लक्षणपूर्वकं स्वरूपम् अनुवदन्ति आचार्यामेव इति. **भक्तिमार्गीय** इति. अत्र मर्यादामार्गो

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति रामानुजाचार्याः. श्रीधरीयेतु ‘आर्तो’ रोगाद्यभिभूतः, ‘जिज्ञासुः’ आत्मज्ञानेच्छुः, ‘अर्थार्थी’ इह परत्र वा भोगसाधनभूतार्थलिप्सुः, ‘ज्ञानी’ आत्मविद् इति उक्तम्. मधुसूदनीयेतु द्रौपद्यादयो मुचुकुन्दादयो विभीषणादयः सनकादयो अत्र चतुर्विधोदाहरणत्वेनापि उक्ताः इति विशेषः. तदेतद् मतं न अस्माकं रोचते, आद्यस्य आर्तार्थार्थिनोः अधिकारैक्ये पृथङ्निर्देशप्रयोजनोक्तिशून्यतया असामञ्जस्याद्, द्वितीयस्य क्रमविरोधेन तथात्वात्, तृतीयस्य उदाहरणेऽपि विरोधाच्चेति. अतो ‘अर्थार्थि’पदेन **“अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामः उदारधीः, तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्”** (भाग.पुरा.२।३।१०) इति द्वितीयस्कन्धोक्तो भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थी ग्राह्यः. तथासति आर्तो जघन्यत्वेन शिष्यते. तथाच आर्तः सर्वत्र

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

इति वाक्याद् मुक्तिदो अत्र विष्णुः अभिप्रेयते नतु शक्तिशेषः प्रेतरूपः. तेन तद्धर्मनिष्ठत्वएव वैष्णवमार्गत्वम् अन्यथा शाक्तत्वम् इति अर्थः. ननु यत्र मुक्तिः न उक्ताः **“आचार्यामेव हरये पूजां यः श्रद्धया ईहते, न तद्भक्तेषु च अन्येषु सः भक्तः प्राकृतः स्मृतः”** (भाग.पुरा.११।२।४७) इत्यादौ [१]तत्र प्रतिमायामेव तस्य भगवद्बुद्ध्या [२]अन्यत्र भावाभावेन ज्ञानित्वस्य अशक्यवचनत्वाद् भक्तेषु भावाभावेन भक्ताभक्तयोः तौल्यसूचनेन च भक्तिमार्गीयत्वस्यापि अशक्यवचनत्वाद् अर्चाहर्योः भेदनिदर्शनिन पातिव्रत्यधर्मत्वस्यापि तथात्वात् कुत्र निवेशः इति आकांक्षायाम् आहुः

---

१. तस्य प्रतिमायामेव भगवद्बुद्ध्या इति ख. २. अन्यत्रतु भावाभावेन इति ख.

विषयः. भक्तिमार्गीयभक्तकृतभक्तिसाम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकं मोक्ष-

---

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

'भक्तिमार्गः' इति उच्यते, शास्त्रानुरुद्धत्वाद् न पुष्टिः. भक्ताचार्यैः कृतः प्रवर्तितो यो भक्तिसम्प्रदायः तदनुसारिदीक्षापूर्वकम् इति अर्थः. अन्यत्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

दर्शनात् तदीयस्य भजनस्य उपासनादिमार्गत्रये तथात्वं वक्तुं तथा इति अर्थः. "**अचार्यामेव...**" (भाग.पुरा.११।२।४७) इति वाक्यार्थस्तु—एकत्र भगवन्तम् अयं जानाति पूजाकरणात्. न अयं भक्तिमार्गः [1]भक्तेषु भावाभावात्. 'अर्चा' प्रतिमा. तस्याः हरेश्च भेदनिर्देशाद् अयं भक्तो न पातिव्रत्यधर्माः, न वा ज्ञानम् अन्येषु भावाभावात्, 'च'कारेण भक्ताभक्तयोः तुल्यत्वसूचनाच्च. एकदेशे भगवद्भावाद् अस्य प्राकृतभक्तत्वम् इति. तथाच एतादृशस्य भजनस्य विहिततया क्रियमाणत्वेन उपासनामार्गीयत्वे प्रावाहिकोपासकत्वं तथा प्रावाहिकज्ञानिभक्तत्वम् इति एवं ज्ञेयम् इति अर्थः. तेन अन्यत्र भगवद्भावरहितत्वे सति एकदेशे भगवज्ज्ञानवत्त्वं प्रावाहिकत्वमिति तत्स्वरूपं सिद्ध्यति. तच्च जघन्ये अधिकारे भक्तिमार्गीयस्यापि तुल्यम्. [2]तद् निष्कृष्टुं पूर्वोक्तैकादशीयसन्दर्भे वैदिक्या; दीक्षायाअपि उक्तत्वात् तावन्मात्राधिके शेषस्य पूर्वतुल्यतायां तादृशे मार्गे 'भक्ति'पदस्यापि उक्तत्वात् प्रवाहतौल्यस्यापि सत्त्वात् तं तथा वदन्ति इति आशयेन आहुः **भक्तिमार्गीय...** इत्यादि **समानम्** इत्यन्तम्.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

अचार्याम्... इत्यादि. ज्ञानिभक्तयोः व्युदासे, 'भक्त'पदेन कर्मिणोऽपि व्युदासे, 'श्रद्धा'पदेन विष्णुधर्मनिष्ठाप्राप्त्या, 'प्राकृत'पदेन [3]ज्ञानिभक्तापेक्षया हीनो अभिप्रेयते इति तादृशो अयमेव मार्गो विषयः इति अर्थः. असंकीर्णत्वाद् [4]इदम् अत्र उक्तम्. तुरीयम् आहुः **भक्ति...** इत्यादि. अत्र दीक्षाभेदाद्

---

[1] भक्तौ पूजायाः अभावाद् इति क. [2] तन्निष्कृष्टुं पूर्वोक्तैकादशीयसन्दर्भे वैदिक्या दीक्षायाअपि उक्तत्वात् तादृश्यां तादृशे तावन्मात्राधिको शेषस्य पूर्वतुल्यः उपासनामार्गात् तावन्मात्राधिक्यः इति अर्थः. मार्गे 'भक्ति'पदस्यापि इत्यादि क. [3] ज्ञानिभक्ताद्यपेक्षया इति क. [4] इदम् उक्तम् इति ख.

साधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः ‘प्रावाहिकी भक्तिः’ उच्यते. अतएव कपिलदेवेन “न युज्यमानया भक्त्या भगवति अखिलात्मनि, सदृशो अस्ति शिवः पन्थाः योगिनां ब्रह्मसिद्धये” (भाग.पुरा.३।२५।१९) इति उपक्रम्य सतां लक्षणम् उक्त्वा “ते एते साधवः साध्वि सर्वसंगविवर्जिताः, संगः तेषु अथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहराः हि ते, सतां प्रसंगाद् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः तज्जोषणाद् आशु अपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिः भक्तिः अनुक्रमिष्यति” (भाग.पुरा.३।२५।२४-२५) इत्यादि निरूपितम्. अत्र ‘अपवर्गवर्त्मनि’ इति पदेन उक्तरूपत्वम् अवधेयम्. प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः भक्तिमार्गे

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

समानम्. अग्रे श्रद्धारत्यादीनां फलत्वेन कथनात् तत्साधनरूपत्वेन प्रावाहिकत्वमेव इति अर्थः. अत्र प्रावाहिकत्वेन अपकर्षो मुख्यभक्त्यपेक्षया, नतु “**जायस्व म्रियस्व**” इतिवत् प्रावाहिकत्वम् इति भावः. [१]फलरूपम् आहुः **प्रेमात्मक**...इति. [२]**भक्तिसाधन**... इति. प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन इति

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

भक्ताचार्यैः इति. रामानुजाचार्यादिभिः. **तदनुसारिदीक्षापूर्वकम्** इति. नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरादिदीक्षापूर्वकम्. **अन्यत् समानम्** इति. विहितत्वेन मोक्षसाधनत्वेन च श्रवणादीनां क्रियमाणत्वम् उपासनामार्गेण तुल्यम्. तथाच लोके यथा मुक्तिरेव फलत्वेन अभिमता तथा अस्यापि हृदि इत्यतः अस्य प्रावाहिकत्वम् इति आशयः. एकादशे उपासनासांकर्येण कथनाद्, न निष्कृष्टं स्वरूपं ज्ञातं भवतीति अतः तृतीयस्कन्धीयसम्मतिः अत्र उक्ताशयेन आहुः **अग्रे श्रद्धा** इत्यादि. एवञ्च वैदिकतान्त्रिकमिश्रणे उपासनामिश्रप्रावाहिकभक्तत्वमपि बोध्यम्. [३]फलरूपम् आहुः इति. फलरूपायाः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

अधिकारिभेदः. दीक्षा च अत्र नारायणाष्टाक्षरादीनां वैदिकी बोध्या,

---

१. उपलब्धेषु पुस्तकेषु फलरूपम् आहुः इति पाठः. तीर्थानुरोधेनतु एवम्. २. भक्तिसाधनत्वेन इति घ. ३. पापरूपाम् आहुः इति क.

'मर्यादाभक्तिः' इति उच्यते, "श्रद्धा अमृतकथायां मे" (भाग.पुरा.११।१९।२०) इति उपक्रम्य "एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धव! आत्मनिवेदिनां, मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते" (भाग.पुरा.११।१९।२४) "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या" (भाग.पुरा.११।-

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

अर्थः. उभयोः साधनभावम् उपपादयन्ति—**श्रद्धामृतकथायाम्** इत्यादिना.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

स्वरूपम् आहुः इति अर्थः. **साधनभावम्** इति. साध्यसाधनभावम्. तथाच

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

[1] पूर्वोक्तस्वारस्यात्. लोकप्रवाहे यथा मुक्तिः फलत्वेन अभिमता तथा अत्रापि. अतो अस्य प्रावाहिकत्वं ज्ञेयम्. पूर्वत्रतु कामादिभेदाद् अधिकारिभेदो बोध्यः. पञ्चमम् आहुः **प्रेम...** इत्यादि. परतः पुरुषार्थत्वेन साधनकरणाद् अस्य मर्यादाभक्तित्वम्. अत्र उक्तः एकादशीयसन्दर्भे आत्मनिवेदनपूर्वकमेव श्रद्धादीनां कथनात् तत्पूर्वककथाश्रद्धा, निरन्तरकीर्तनं, पूजानिष्ठा, स्तुतिकरणकस्तवनं, परिचर्यादरः, साष्टांगप्रणामः, भक्तेषु अधिकपूजा, सर्वभूतेषु भगवद्भावः, भगवदर्थं लौकिकी क्रिया, लौकिकगाथया भगवद्-गुणकथनं गानं च, भगवति मनोर्पणं, सर्वकामत्यागः, भगवद्-भजनार्थं तद्विरोधिनाम् अर्थभोगसुखानां त्यागः, इष्टदत्तहुतजप्तादीनां वैदिकानां व्रततपादीनां स्मार्तानां च भगवदर्थत्वमिति एतेषां करणं मर्यादाभक्तिः इति अर्थः. अत्र उपक्रमे **"पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्"** (भाग.पुरा.११।१९।१९) इति परमकारणत्वप्रतिज्ञानाद् अस्य [2] प्रकारस्य अन्येभ्यः उत्कर्षः, समाप्तौ च **"मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते"** (भाग.पुरा.११।१९।२४) इति फलोत्कर्षकथनाच्च. परत्वञ्च शीघ्रम् अव्यभिचारेण जनकत्वम्. किञ्च, अत्र द्विविधायाअपि दीक्षायाः अनुक्तत्वात् **कथयिष्यामि** इति प्रतिज्ञानाच्च [3] स्वकृतोपदेशपक्षएव भगवतो अभिप्रेतः

---

१. पूर्वोक्तस्वारस्यात्तु इति क. २. प्रकरणस्य इति ख. ३. तेन स्वकृतोपदेशपक्षएव इति ख.

३।२१) इत्यादिवाक्यैः तत्साधनत्वं ज्ञेयम्. [1]स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

तत्साधनत्वं स्नेहसाधनत्वम् इति अर्थः. फलदशापन्नभक्तिस्वरूपम् आहुः **स्नेहोत्पत्ति...** इति. स्वभावतः सर्वेन्द्रियवृत्तीनां स्वरूपैकविषयत्वेन

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

मूलोक्तैकादशीयोनविंशवाक्ये आत्मनिवेदनपूर्वकमेव कथाश्रद्धादीनां कथनात् तत्पूर्वकं कथाश्रद्धा निरन्तरकीर्तनं पूजानिष्ठा स्तुतिकरणकस्तवनं, परिचर्यादरः, साष्टांगप्रणामः, भक्तेषु अधिकपूजा, सर्वभूतेषु भगवद्भावः भगवदर्थं लौकिकी क्रिया, लौकिकगाथया भगवद्-गुणकथनं गानं च, भगवति मनोर्पणं, सर्वकामत्यागः भगवद्भजनार्थं तद्विरोधिनाम् अर्थभोगसुखानां त्यागः, इष्ट-दत्त-हुत-जप्तादीनां व्रत-तपादीनां स्मार्तानां च भगवदर्थत्वम् इति एतेषां करणं मर्यादाभक्तिः इति अर्थः. अत्र सन्दर्भे "**पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्**" (भाग.पुरा.११।१९।१९) इति उपक्रमे परमकारणत्व-

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

इति ज्ञायते. तथा सति "**एवं धर्मैः**" इति वाक्यगतं 'मयि' इति पदं [2]पूर्वार्धेऽपि युज्यमानं कृष्णएव भगवति [3]सम्प्रदायरीतिकात्मनिवेदनोपदेशं गमयति. गारुडेतु "[4]**सकृदेव प्रपन्नो यः तव अस्मि इति च यो वदेद्, अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाति एतद् व्रतं हरेः**" (गरु.पुरा.१।२१९।११) इति विष्णुभक्त्यध्याये कण्ठतएव उक्तम्. गीतायाम् एकादशे च शरणगमनोपदेशाच्च सा ततः पूर्वापेक्षा. तथासति तदुभयोपदेशपूर्वकं [5]तथा **क्रियमाणः श्रवणादिभिः** मर्यादाभक्तिः इति सिद्ध्यति. उपदिश्यमानमन्त्रस्वरूपादिकं [6]मया उपदेशवादे प्रपञ्चितम् इति न अत्र पुनः उच्यते. उक्तसन्दर्भे "**एवं धर्मैः**" इति 'धर्म'पदात् स्नेहसाधनभूतेषु श्रवणादिषु भक्तित्वं न युक्तम् इति शंकानिरासाय वाक्यान्तरम् आहुः **भक्ति...** इत्यादि. तथाच अत्र भक्तिसाधने 'भक्ति'पदप्रयोगात् तत्र [7]'धर्म'पदं भगवद्धर्मपरमिति

---

[1] भक्तिरूपस्नेहोत्पत्त्यनन्तरम् इति क्वचित्. [2] पूर्वार्धे युज्यमानमपि इति ख. [3] साम्प्रदायिकरीतिकात्मनिवेदनोपदेशम् इति ख. [4] दयां कुरु प्रपन्नाय [5] तथा इति नास्ति ख. [6] अस्माभिः उपदेशवादे इति ख. [7] धर्मैः इति पदम् इति ख.

स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणः उत्तमः पुष्टिभक्तिरूपः. ''मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादिचतुष्टयं, न इच्छन्ति सेवया पूर्णाः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

कामिन्यासक्तमनसइव यत्किञ्चित् क्रियमाणमपि तद्विषयकमेव भवत्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

-कथनाद् अस्य प्रकारस्य अन्यस्माद् उत्कर्षः. समाप्तौ **''मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते''** (भाग.पुरा.११।१९।२४) इति फलोत्कर्षकथनाच्च. किञ्च, अत्र द्विविधायाअपि दीक्षायाः [१] अनुक्तत्वात् कथयिष्यामीति प्रतिज्ञानाच्च स्वकृतोपदेशपक्षएव **भगवतो** अभीष्टः इति ज्ञायते. तथासति **''एवं धर्मैः''** इति वाक्यगतं **'मयि'**इति पदं पूर्वार्धेऽपि युज्यमानं कृष्णएव भगवति सम्प्रदायरीतिकात्मनिवेदनोपदेशं गमयति. गारुडे च **''सकृदेव प्रपन्नो यः तव अस्मि इति च यो वदेद्, अभयं सर्वभूतेभ्यो [२] ददाति एतद् व्रतं हरेः''** (गरु.पुरा.१।२१९।११) इति विष्णुभक्त्यध्याये वाक्याद् गीतायाम् एकादशे च शरणगमनोपदेशात् [३] तदुभयोपदेशपूर्वकं तथा क्रियमाणः श्रवणादिः मर्यादाभक्तिरूपइति सिद्ध्यति. उक्तसन्दर्भे **''एवं धर्मैः''** इति 'धर्म'पदात् स्नेहसाधनभूतेषु श्रवणादिषु भक्तित्वं न युक्तम् इति शंकानिरासाय वाक्यान्तरम् आहुः मूले **भक्तिः** इत्यादि. तथाच अत्र प्रेमभक्तिसाधनेषु 'भक्ति'पदप्रयोगात् तत्र 'धर्म'पदं भगवद्धर्मपरमिति न तेषु भक्तित्वं हीयते इति अर्थः. पुष्टिभक्तिस्वरूपं विवृण्वन्ति **फलदशापन्न...** इत्यादि. एवं मूले अत्र **वदामः** इत्यारभ्य

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

न श्रवणादिषु भक्तित्वहानिः इति अर्थः. अस्मिन् **प्रकारे** [४] कामनाभेदाद् अधिकारिभेदः. [५] षष्ठम् आहुः **स्नेह...** इत्यादि. उत्तमत्वे गमकम् आहुः [६] **''मत्सेवया...** इत्यादि. 'सेवा'पदेन सातत्याभीक्ष्ण्यान्यतरपूर्वकः कायिकव्यापारविशेषः उच्यते, स्त्रीसेवा औषधिसेवा इत्यादिप्रयोगात्. सच

---

१. अनुक्रमत्वाद् इति क. २. ददामि एतद् इति. ख. ३. तत्तदुपदेशपूर्वकम् इति क. ४. अधिकारभेदः इति क. ५. सप्तम् आहुः इति क. ६. सत्सेवया इति ख.

कुतो अन्यत् कालविप्लुतम्'' (भाग.पुरा.१।४।६७) ''न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचन् मत्पादसेवाभिरताः मदीहाः'' (भाग.पुरा.३।२५।३४) ''महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसाम् अभवोऽपि फल्गुः'' (भाग.पुरा.५।१४।४४) ''नारायणपराः [१]लोके न कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

पर्यवस्यति इत्यतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वम्. अग्रे फलाकांक्षाविरहाद्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

तथात्वं ज्ञेयम् इत्यन्तेन श्रवणादीनाम् अनेकविधत्वम् उपपादितम्. अतः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

अत्र प्रकरणबलात् परिचर्यारूपएव. तस्याः च कायक्लेशाधायकत्वेन स्वतः पुरुषार्थत्वाभावेऽपि अत्र पूर्णत्वादिकथनात् स्नेहात्मकमनोवृत्तिपूर्वकत्वादिकं लभ्यते लोके तथा दर्शनात्. श्रवणादीनान्तु अत्र स्नेहसिद्ध्या अर्थाद् लाभः. एतद् बोधनाय अत्र **इत्यादि...** इत्यादिपदम्. अत्र [२]कामनाभावाद् अधिकारिभेदः. एवम् अधिकारिभेदेन श्रवणादीनाम् अनेकविधत्वम् उपपादितम्. [३]तत्र अभक्तकृते श्रीभागवतश्रवणादौ भक्तित्वाभावेन द्वारलोपात् तद्विधौ भगवतः उद्देश्यत्वं निवर्तते. यूपीयाव्रश्चनस्थाणुत्वरूपद्वारलोपात् स्थाण्वाहुतिः यथा खलेवाल्या निवर्तते. तद् इदं दशमस्य प्रथमे पादे (पूर्वमी.सू.१०।१।९-१५) स्थितम्. कर्ममार्गीयश्रवणादिषुतु [४]अप्राप्तिरेव इति भेदः. नच तद्विधेः [५]भक्तिशास्त्रीयत्वात् कथं न तेषां [६]भक्तित्वम् इति शंक्यं, तच्छास्त्रीयत्वस्य [७]तत्र अस्वतन्त्रत्वात्. अन्यथा **''योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः''** (भाग.पुरा.११।२०।६) **''भक्तियोगश्च [८]योगश्च मया मानवी! उदीरितः''** (भाग.पुरा.३।२९।३५) इत्यादिवाक्यबाधापत्तेः अधिकारिणो बलिष्ठत्वाच्च. अन्यथा **'मदर्पणम्...'** इत्यादिवाक्यविरोधापत्तेः अतः तत्र विधेः

---

१. लोकाः इत्यपि क्वचित्. २. कामनाभावादिना अधिकारीत्यादि ख. ३. तत्र भक्तकृते श्रीभागवतश्रवणादौ पुष्टित्वाभावेन द्वारलोपात् तद्विधौ भगवतः उपदेश्यत्वं निवर्तते इति ख. ४. प्राप्तिरेव इति भेदः इति ग. ५. पुष्टिशास्त्रीयत्वकथनाद् इति ख. ६. पुष्टित्वम् इति ख. ७. तत्र अतन्त्रत्वाद् इति ख. ग. ८. योगश्च इति नास्ति ख.

तुल्यार्थदर्शिनः” (भाग.पुरा.६।१७।२८) इत्यादिवाक्यैः तथात्वं ज्ञेयम्. तेन ‘भक्ति’पदस्य शक्तिः स्नेहएव. श्रवणादिषु तद्धेतुत्वेन

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

उत्तमत्वञ्च. दोषमात्रस्य आशंकितुमपि अशक्यत्वाद् इति अर्थः. **तथात्वम्** इति उत्तमत्वम् इति अर्थः. **तेन** इति फलतारतम्यविचारेण इति अर्थः. [1]मुख्याभिधानशक्तिः ‘भक्ति’पदनिष्ठा स्नेहमेव प्रत्याययति,

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

परं पूजायां भक्तित्वनिवृत्तये ‘भक्ति’पदशक्तिं निर्धारयन्तीति आशयेन **तेन** इत्यादि **भाक्तः** इत्यन्तं मूलं विवृण्वन्ति **फल...** इत्यादि. तत्र सिद्धम् आहुः **मुख्य...** इत्यादि. **त्रितयम्** इति कर्मज्ञानोपासनाख्यम्.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

आभासरूपतैव यथा दाम्भिकादौ इति बोध्यम्. त्रिवर्गकामिना भक्तेन कृतेतु भक्तित्वाद् न उद्देश्यत्वनिवृत्तिः, परन्तु तादृशाधिकारस्य जाघन्ये तत्र मर्यादया वरणं यथाधिकारं ज्ञेयम्. एवमेव प्रावाहिकभक्तावपि. तथासति भक्तिशास्त्रोक्तेष्वपि श्रवणादिषु भावभेदेन [2]क्वचिद् भक्तित्वं क्वचिद् न इति प्रकरणापेक्षया अधिकारस्यैव बलिष्ठत्वाद् नवविधभक्तौ गणितस्यापि अर्चनस्य भक्तित्वं न नियतमिति प्रकरणबलेन पर्यवस्थानम् असंगतमिति समाधानं सिद्धम्. ननु एवं चेत्, तर्हि ‘भक्ति’पदस्य शक्तिः कुत्र इति वक्तव्यम्? नो चेद्, अगत्या एतेष्वेव शक्तिः आदरणीयाः. तथा सति पूर्वोक्तं सर्वम् अपार्थम् इति आशंकायाम् आहुः **तेन** इत्यादि. **तेन** इति. [3]धात्वर्थविचारेण सेवालाभेऽपि पूर्णादिपदानि अन्यथानुपपत्तिबलात् स्नेहलाभेन. पञ्चरात्रेतु **“स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः”** (द्र.त.दी.नि.१।४२) इति कण्ठतएव उक्तम्. शाण्डिल्यसूत्रे च **“अथातो भक्तिजिज्ञासा”** (शाण्डि.भक्तिसूत्र.१।१।१) इति प्रतिज्ञाय **“सा परानुरक्तिः ईश्वरः”** (शाण्डि.भक्तिसूत्र.१।१।२) इति उक्तम्. **श्रवणादिषु** इति नैरपेक्ष्यपूर्वकश्रवणादिषु. **भाक्तः** इति कथनेन [4]पूर्वोक्तं पूजायाः औपचारिकत्वं

---

१. मुख्याभिधाशक्तिः इति ध. २. क्वचिद् भक्तित्वं सिद्ध्यति क्वचिद् न इति इति ख. ३. भक्त्यार्थविचारेण सेवालाभेऽपि पूर्णतादिपदान्यथानुपपत्तिबलात् स्नेहलाभेन इति ख. ४. पूर्वोक्तपूजायाम् औपचारिकत्वम् इति ख.

तत्प्रयोगो [1]भाक्तः. अतएव "सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः" (भाग.पुरा.३।२९।१३) इति लक्षणम् उक्त्वा "सएव भक्तियोगाख्यः" (भाग.पुरा.३।२९।१४) इति लक्ष्यम् उक्तम्, अन्यथा 'आख्या'पदम् अनर्थकं स्याद् 'एव'कारश्च. एवं सति पूर्वोक्तेषु औपचारिको 'भक्ति'पदप्रयोगः इति ज्ञापितं

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

न पूर्वोदाहृतत्रितयम्. अतो अत्र वृत्तिः शक्तिरेव. अन्यत्र लक्षणा गौणी च, हेतुहेतुमद्भावस्य सम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् इति अर्थः. **अतएव** इति. यतो अत्रैव मुख्यत्वम् अतएव तदुत्तरभाविसालोक्यादिपञ्चविधमुक्तीनाम् अप्राप्तत्वेन आकांक्षाविषयत्वम् उचितमपि अनिर्वाच्यानुभवैकवेद्यभजनरसास्वादमुदिता न इच्छन्ति. एतद् अनन्तरम् अन्यफलेच्छोदये उच्यमाने पूर्वोक्तत्रितयवद् एतस्यापि अन्यशेषत्वं स्याद् इति अर्थः. **'सालोक्यं'** समाने लोके वैकुण्ठे स्थितिः. **'सार्ष्टिः'** समानैश्वर्यम्. **'सामीप्यं'** पार्षदत्वम्. **'सारूप्यं'** सौन्दर्याद्यविशेषप्रतीतिः. **'एकत्वं'** स्वरूपे प्रवेशः. **अन्यथा** इति. यदि स्नेहे मुख्यत्वं न उच्येत तदा लक्ष्यलक्षणं कथनम् अन्ययोगव्यवच्छेदश्च

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

अन्यत्र इति श्रवणादिषु. [2]**सम्बन्धस्य** इति सादृश्यस्य. स्नेहे 'भक्ति'पदप्रयोगो मुख्यः इत्यत्र प्रमाणं वदन्ति इति आशयेन **अतएव** इति प्रतीकं धृत्वा व्याकुर्वते **यतः** इत्यादि. अन्यथा इत्यादिना उक्तं तर्कं व्याकुर्वन्ति यदि

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

समर्थितम्. श्रवणादीनां लक्षणन्तु श्रीधरीये 'भगवद्'वाचकपदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यनिर्धारः 'श्रवणं', तादृशनिर्धारपूर्वकम् उच्चारणं 'कीर्तनं', तथैव स्वरूपचिन्तनं 'स्मरणं', 'पादसेवनं' परिचर्या, 'अर्चनं' पूजनं, 'वन्दनं' कायवाङ्मनोभिः प्रह्वीभावः, 'दास्यं' कर्मार्पणं, 'सख्यं' तद्विश्वासादि, 'आत्मनिवेदनं' देहसमर्पणं, यथा विक्रीतस्य गवाश्वादेः भरणपालनादिचिन्ता न क्रियते तथा देह तस्मै समर्प्यं तच्चिन्तावर्जनमिति निरूपितम्.

---

१. भक्तेः इति क्वचित्. २. सम्बन्धसादृश्य इति क.

भवति. स्नेहवशेन क्रियमाणाः ते स्नेहमध्यपातिनएव. अथवा साक्षात् पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वं 'भक्ति'पदप्रवृत्तिनिमित्तं श्रवणादिषु

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

न उपपद्येत इति अर्थः. पूर्वोक्तेषु श्रवणादिषु इति अर्थः. यद्यपि स्नेहस्य आन्तरत्वात् श्रवणादीनां बाह्यत्वाद् न एकरूपत्वं तथापि स्नेहसम्पत्त्यनन्तरं क्रियमाणाः तदन्तःपातिनो भूत्वा तत्समानाख्यां लभन्ते गंगाप्रवाहान्तःपातिबाह्योदकवद् इति अर्थः. 'भक्ति'पदस्य अनेकार्थत्वं वक्तुं पदप्रवृत्तिनिमित्तभेदम् आहुः **अथवा** इति. [1]विशेषवैयर्थ्यम् आशंक्य आहुः **नच** इति. चेद्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इत्यादि. ननु यदि स्नेहातिरिक्ते भाक्तः प्रयोगः तदा पुष्टिमार्गीयश्रवणादिष्वपि अविशेषः इति शंकानिरासाय स्नेहवशेन इत्यादिना वक्तुं तद् व्याकुर्वंति **यद्यपि** इत्यादि. तथाच यथा तत्र 'गंगा'पदस्य न लाक्षणिकत्वम् एवम् अत्र 'भक्ति'पदस्य इति भावः. इदम् अत्र अनेकार्थत्वस्य अन्याय्यत्वम् अभिप्रेत्य उक्तम्. तथापि वस्तुतो गौणी न अपैतीति भक्त्या ग्राह्यः इत्यादौ युगपद्वृत्तिद्वयविरोधो न परिहर्तुं शक्यः इति शंकायां तत्परिहाराय प्रकारान्तरं वदन्ति इति आशयेन आहुः **'भक्ति'पदस्य** इत्यादि.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तद् अस्माकमपि अविरुद्धम्. 'भक्ति'पदस्य स्नेहे शक्तिं दृढीकर्तुं प्रमाणान्तरम् आहुः **अतएव** इत्यादि. आचार्यैस्तु **"'भक्ति'पदस्य प्रत्ययार्थः प्रेम, धात्वर्थः सेवा"** (त.दी.नि.प्र.२।९२) इति निबन्धे उक्तम् उपपादितश्च. अतः प्रेम्णा सेवायां 'भक्ति'पदशक्तिः पर्यवस्यति. तदेतद् अभिसन्धाय आहुः **स्नेहवशेन** इत्यादि. इदम् अत्र **"अन्यायश्च अनेकशब्दत्वम्"** ( ) इति न्यायानुरोधेन उक्तम्. तथापि **"भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः"** (भाग.पुरा.११।१४।२१) इति वक्ष्यमाणवाक्ये युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः इति अस्वरसेन पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **विहितत्वम्** इति. **"तस्माद् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च**

---

१. विशेषण इति घ.

भिन्नम्. नच तत्प्रापकत्वमेव तथा इति वाच्यम्, द्वेषादेः भगवदनुग्रहस्य च भक्तित्वापत्तेः. नच ‘साक्षात्’पदम् अनर्थकं, विभूतिभजनकर्तुरपि तद्द्वारा तत्प्राप्तेः “यथा अद्रिप्रभवाः नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो! विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयो अनन्त!” (भाग.पुरा.१०।४०।१०) इत्यादिप्रमाणसिद्धत्वेन [१]तद्द्वारकत्वात्. श्रीकृष्णस्नेहत्वमेव फलरूपायां

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

आदौ द्वेषादेरपि स्वरूपप्रापकत्वाद् लक्षणम् अतिव्याप्तं स्याद् इति अर्थः. [२]विशेषणवैयर्थ्यम् आशंक्या आहुः **नच** इति. ‘साक्षात्’पदादाने लक्षणस्य केवल्यव्यतिरेकित्वेन इतरभेदसाधने स्वरूपासिद्धत्वं स्याद् इत्यपि ज्ञेयम्. विवादास्पदं भक्तिः कर्मादिभ्यो भिद्यते, पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वात्. यत्र [३]कर्मादिभेदाभावः तत्र तत्प्रापकत्वे सति विहितत्वाभावेति असिद्धः [४]सर्वस्यापि तत्परत्वादेवेति यद्यपि सिद्धिवारकं विशेषणं

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

केवलव्यतिरेकित्वेन इति. असाधारणधर्मत्वात् तथात्वेन. **स्वरूपासिद्धत्वम्** इति. स्वेन व्याप्यत्वात्मकेन हेतुरूपेण असिद्धत्वम्. व्याप्यत्वासिद्धत्वम् इति अर्थः. तद् विशदयन्ति [५]**विवाद...** इत्यादि. **यत्र** इति कर्मादिभेदाभावः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

स्मर्तव्यश्च इच्छता अभयम्” (भाग.पुरा.२।१।५)इत्यादिवाक्यविहितत्वम्. अत्र अभयस्य भगवत्प्रवेशरूपत्वात् साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्वं लभ्यते. ‘तव्य’स्य आवश्यकार्थत्वस्वीकारेऽपि लोके विध्यर्थत्वप्रसिद्ध्या विधिलाभः, निबन्धे तथा अंगीकारात्. वाक्यान्तरं वा विधायकं बोध्यम्. स्पष्टम् अन्यत्. सिद्धम् आहुः **श्रीकृष्ण**...इत्यादि. ननु अस्तु अनेकार्थत्वं ‘भक्ति’पदस्य तथापि “**भक्त्या ग्राह्यः**” इत्यादौ न उभयलाभः. अनेकार्थस्थले प्रवृत्तिनिमितभेदात्

---

१. तद्द्वारकत्वाद् इति क्वचित्. २. पूर्वविशेषणः इति घ. ३. यत्र कर्मादिभेदाभावः तत्र इति अयम् अंशो न अस्ति क.ख.ग. ४. तत्परत्वापि तत्परत्वादेव इति ख. ५. हि वादः इत्यादि इति द्वयोरपि पाठः. युक्तस्तु प्रतीकानुरोधित्वाद् एवम्.

तस्यां तन्निमित्तम् इति अनेकार्थौ 'भक्ति'शब्दः. प्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽपि रविचन्द्रयोः 'पुष्पवत्'शब्दवाच्यत्वम् एकस्यामेव उक्तौ यथा तथा क्वचिद्

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

व्यर्थ [१]मन्यन्ते तथापि मतभेदेन ज्ञेयम्. **प्रवृत्ति...** इति. पुष्पभेदात् तद्वत्त्वभेदेऽपि आवृत्तिम् अन्तरेण सकृदुच्चारिताद् यथा उभयोः प्रतीतिः तथा पुरुषोत्तमविषयत्वेन अनुगतो व्यवहारः [२]सर्वत्र इति अर्थः. **क्वचिद्** इति. **उभय...** इति.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

तत्र इति शेषः. **मन्यन्ते** इति सर्वस्य भक्तित्वोपगमेन मन्यन्ते. **मतभेदेन** इति. "**योगाः त्रयो मया**" (भाग.पुरा.११।२०।६) इति वाक्यानुसारिणा सिद्धान्तिमतेन इति अर्थः. एवम् अनेकार्थत्वे सति यत् सिद्धं तद् वदन्ति इति आशयेन प्रतीकं धृत्वा व्याचक्षते पुष्प... इत्यादि. तथाच [३]न युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः इति अर्थः. नच "**एकया उक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ**" (अम.को.१।४।१०) इति कोशात् प्रवृत्तिनिमित्तभेदाभावः शंक्यः, "'प्रत्येकं पुष्पवान्'" इति न प्रयोक्तव्यम् इत्येएतदर्थत्वेन **व्याख्यासुधायां**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

संयोगाद्यैः वृत्तिनियन्त्रणेन संकोचे विवक्षितार्थलाभो अन्यथातु संकोचाभावाद् विवक्षितार्थसन्देहएव [४]वृत्तिबलविचारकैः अंगीक्रियते इति न एवम् उभयलाभः इत्यतः आहुः **प्रवृत्ति...**इत्यादि. नच "'**पुष्प्' विकसने**" (पा.धा.पा.३३२४) इति [५]धातोः मतुपि कृते 'पुष्पवत्'शब्दनिष्पत्तेः [६]विकासवत्त्वस्य प्रकाशवत्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तत्वाद् न तद्भेदः इति वाच्यं, तस्य अग्न्यादावपि तुल्यत्वेन रविचन्द्रवाचकत्वनियमभंगापत्तेः. अतः कुसुमद्वयमेव तादृशप्रयोगप्रयोजकत्वेन मृग्यम्. तदपि [७]पद्मकुमुदरूपमेव. पद्मिनीपतिः कुमुदवान् इत्यादिप्रयोगात्. अन्यथा दिवारात्रिविकासिनाम् अनेकेषां पुष्पाणां सत्त्वात् तथापि

---

[१]. एव इति ख.ग. [२]. सर्वत्र इति आहुः इति घ. [३]. नकारो अयम् उभयोरपि लब्धयोः पुस्तकयोः न दृश्यते तथापि अपेक्षते इति अक्षरचुञ्चुप्रमादफलम् एतद् इति अनुमाय परिगृहीतः. [४]. वृत्तिबलाबलविचारकः इति ख. [५]. वतुपि कृते इति ख. [६]. विकासवत्त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्त्वाद् इति ख. [७]. कमलकुमुदरूपमेव इति क.

'भक्ति'पदं "भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः" (भाग.पुरा.११।१४।२१) इत्यादिषु उभयवाचकमपि. उक्तरूपतातु "मामेव नैरपेक्ष्येण

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

साधनफलोभयपरम् इति अर्थः. उक्तरूपता पुरुषोत्तमैकफलकभक्तिरूपता.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

तद्विवरणात्. **क्वचिद्** इति. यत्र संयोगाद्यैः वृत्तेः न नियन्त्रणं तत्र इति अर्थः. **दर्शयन्ति** इति. नियन्त्रणेन 'भक्ति'पदस्य विशेषार्थं स्मारयन्तएव दर्शयन्ति इति अर्थः. अत्र उदाहरणवाक्येषु प्रथमे **'मामेव'** इति

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

प्रयोगः स्यात्. अतएव केनचिद् उक्तं "**कुसुमं कोशातक्या विकसति रात्रौ दिवा च कूष्माण्ड्याः. यद्यपि तथापि तस्माद् उत्कर्षः कुमुदकमलयोरेव**" (   ) इति. अतो लोकप्रसिद्ध्या [1]'पुष्प'शब्दस्य रूढिरेव आदरणीया. तथासति सिद्धएव प्रवृत्तिनिमित्तभेदः. वस्तुतस्तु [2]रवित्वचन्द्रत्वएव प्रवृत्तिनिमित्ते. नच **'एकया'** उक्त्या इत्यस्य साधारणवचनेन इति अर्थाद् रविचन्द्रसमूहस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वे प्राप्ते: [3]गार्भिणवन्यादिपदवद् एकवचनस्यापि प्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थं द्विवचनम् अत्र विधीयतइति न द्वयोः तथात्वम् इति वाच्यं, साधारणवचनेन 'पुष्पवत्'पदं रविचन्द्रसमूहवाचकं तच्च द्विवचनान्तं [4]प्रयोक्तव्यम् इत्येवं वाक्यभेदप्रसंगात्, कल्पनागौरवाद्, 'दिवाकरनिशाकरौ' इति उद्देश्यगतसंख्यायाः अविवक्षितत्वकल्पनापत्तेश्च. एतेनैव विशिष्टवाचकत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तः, मिथो विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहाच्च. अतः तत्र प्रवृत्तिनिमित्तभेदएव अंगीकार्यः. तथासति तत्र यथा विशेषविध्यनुपपत्तिबलाद् युगपदुभयप्रतीतिः तथा अत्र उभयोः स्नेहश्रवणादिनवकयोः भगवत्प्रापकत्वसंग्रहानुपपत्तिबलाद् उभयोः 'भक्ति'पदवाच्यत्वम् **एकस्यामेव** उक्तौ इति अर्थः. नच तत्र द्विवचनबलादेव उभयप्रतीतिः इति वाच्यं, तथासति **'एकया उक्त्या'** इति विशेषविधिवैयर्थ्यापत्तेः, रामौ इत्यादिवद् एकशेषेणैव

---

१. पुष्पवच्छब्दस्य इति ख. २. रविचन्द्रावेव प्रवृत्तिनिमित्ते इति ख. ३. गार्भिणम् इत्यादिपदवद् इति ख. ४. प्रयोक्तव्यम् इति वाक्यभेदप्रसंगाद् इति ख.

भक्तियोगेन विन्दति'' (भाग.पुरा.११।२७।५३) इत्यादिभिः, ''एवं सततयुक्ता ये भक्ताः त्वां पर्युपासते ये चापि अक्षरम् अव्यक्तम्'' (भग.गीता १२।१) इति पार्थप्रश्नेन एतदुत्तरेण च ''न अलं द्विजत्वम्'' (भाग.पुरा.७।७।५१) इति उपक्रम्य ''प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्'' (भाग.पुरा.७।७।५२) इति प्रह्लादवाक्येन ''न रोधयति मां योगः'' (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यादिश्रीमन्मुखोत्थवाक्यैः ''भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः'' (भाग.पुरा.११।२४।२१) इत्यादिवाक्यसहस्रैश्च भक्तौ अवधार्यते. मन्त्राधिष्ठातुस्तु पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वं पूर्वम् उपपादितमिति तत्प्रापकतज्जपार्चनादेः न भक्तित्वं वक्तुं शक्यं,

---

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

भक्त्यैव ग्राह्यो, न मन्त्रादिभिः इति दर्शयन्ति मामेव इत्यादिना अवधार्यते

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

कर्मवाचकादिपदसान्निध्याद् द्वितीयेऽपि **'त्वाम्'** इत्यस्य तदुत्तरेऽपि **''मयि आवेश्य''** इत्यादेः इत्येवं ज्ञेयम्. एतेन पूर्वपक्षे पूजायाः यद् भक्तित्वम् आपादितं स्थितं तत् [1]साधनरूपायां [2]मर्यादाभक्तौ पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितायां [3]वा तस्यां पर्यवस्यति नतु पुष्टिभक्तौ इति बोधितम्. तेन

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तत्सम्भवात्. ननु ''**दाराः पुं भूम्नि**'' (अम.को.३।५।२) इतिवद् एकवचननिवृत्त्यर्थम्, इति चेत्, सिद्धं तर्हि 'पुष्पवत्' पदादेव उभयप्रतीतिः विधानं च युगपत्प्रतीत्यर्थम् इति. तस्मात् संयोगादिनियन्त्रणाभावेऽपि युगपदुभयप्रत्यये न कोऽपि शंकालेशः. यत्र पुनः नियन्त्रणं तत्रतु अन्यतरप्रतीतिरेव इति निश्चयः. एवं 'भक्ति'पदशक्तिं तस्य वाचकत्वप्रकारं च निश्चित्य श्रवणादिषु उक्तरूपेण विहितत्वे प्रमाणानि आहुः **उक्तरूपता** इत्यादि. **उक्तरूपता** इति. साक्षात् पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वम्. **भक्तौ** इति पुष्टिमार्गीयश्रवणादिनवके. **तथाच** तद्विधिषु फलत्वेन भगवतः

---

१. साधनभूतायाम् इति क. २. मर्यादाभक्तेः इति ख. ३. वा इति अव्ययं नास्ति क.

भक्तिसाधनत्वोक्तेश्च. एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेहएव

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इत्यन्तेन. **एवम्** इति. भेदोपपत्तौ सत्यां शीतोष्णादिनिवारणाद्युपचारेषु

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

सिद्धम् आहुः मूले **मन्त्र...** इत्यादिना. तथाच भक्तिसाधनत्वबोधकवाक्येऽपि "**भक्तियोगं सः लभते**" (भाग.पुरा.११।२७।५३) इति 'योग'पदाद् मर्यादाभक्तिश्रवणादिनिर्वाहं लभते इति अर्थः सिद्ध्यतीति साधनभावेन रूपभेदेन भेदाद् उपासनारूपायां तस्यां न भक्तित्वगन्धोऽपि इति अर्थः. ननु मास्तु भक्तित्वम् उपासनादिमार्गीयपूजायां तथापि **भक्तौ** गणिता या पूजा सातु विध्यधीनैव हेत्वन्तरस्य अदर्शनात्. तथा सति अर्चनविध्युद्देश्यत्वन्तु वज्रलेपायितम् इति आशंकायाम् आहुः **एवम्** इत्यादि. तद् विवृण्वन्ति **भेदोपपत्तौ** इत्यादिना. [1]उपासनामार्गीयभक्तिमार्गीयपूजयोः भेदोपपत्तौ सत्याम्.

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

[2]स्पर्शो न दोषावहः स्पर्शे भक्तित्वस्यैव प्रयोजकत्वाद् इति अर्थः. अत्र प्रथमे वाक्ये '**भक्ति**'पदम् अध्यायारम्भे कर्मकाण्डस्य प्रकृतत्वाद् [3]बाह्यानां तत्तुल्यानां श्रवणादीनामेव वाचकम्. द्वितीयेऽपि [4]'**भक्त**'पदस्य उपासनसान्निध्याद् [5]विहितश्रवणादिकर्तृवाचकत्वम्. तृतीये श्रवणादीनां मध्ये पठितत्वात् प्रकरणेन तद्वाचकम्. चतुर्थेतु "**न रोधयति**" इति सन्दर्भे सत्संगस्तुत्या तस्य च "**सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां [6]यः उपासिता**" (भाग.पुरा.११।११।२५) इति वाक्ये भक्तिजनकत्वोक्त्या तस्याः उपासनसान्निध्याद् नियन्त्रणेन विहितश्रवणादिलाभः. पञ्चमेऽपि तथा ज्ञेयम्. एतद्वैलक्षण्यम् उपासनायां स्मारयन्ति **मन्त्र...** इत्यादि. एतावत् प्रयासेन यत् सिद्धं तद् आहुः **एवं सति** इत्यादि. स्नेहेन क्रियमाणानां श्रवणादीनां

---

[1] उपासनामार्गीयपूजयोः इति ख. [2] स्पर्शेन दोषावहः इति उपलब्धः पाठः. यथा निवेशन्तु प्रतिभाति. [3] बाध्यानाम् इति ख. [4] उपासनासान्निध्याद् इति ख. [5] विदित श्रवणादिकर्तृवाचकम् इति ख. [6] यः उपासते इति वाक्ये इति ख.

नियामकः स्नेहवतां, कर्मणि विधिवत्. तद्रहितानान्तु तद्वत्कृतः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

स्नेहवतां तदधीनैव कृतिः यागे विध्यधीनेव. **तद्रहितानाम्** इति स्नेहरहितानां भजने नियुक्तानां कृतिः वक्तृपुरुषाधीना. [1]स्नेहस्य अनुदितत्वाद् मर्यादयैव

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

तथाच एकादशे समाप्तौ भगवद्धर्मकथने भगवता "**देशान् पुण्यान् आश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्, देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च**" (भाग.पुरा.११।२९।१०) इति आज्ञापनात् स्नेहार्थं भजन्तं प्रति तेषां स्नेहवतां रीतिः उपदेष्टव्या नतु वैधी. तथा सति क्व अर्चनविध्युद्देश्यत्वम् इति अर्थः. **मर्यादयैव** इति. एतेन '**वेदाविरुद्ध**'पदं व्याख्यातम्. तेन यः इदानीन्तनाः तद्विरुद्धम् उपदिशन्ति कुर्वन्ति वा ते भ्रान्ता इति सिद्ध्यति. तस्मात् पूर्वेषां रीतिम् अनुसृत्यैव कार्यम्. अतएव "**चन्दनोशीरकर्पूरकुम्कुमागुरुवासितैः, सलिलैः स्नापयेद् मन्त्रैः नित्यदा विभवे सति, स्वर्णधर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया, पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः**" (भाग.पुरा.११।२७।३०-३१) इत्यनेन उक्तं स्नापनं ज्येष्ठाभिषेकएव क्रियते, विभवे सत्यपि न नित्यदा श्रीजगन्नाथे तथैव करणात्. "**वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः**" (भाग.पुरा.११।२७।३२) इत्यत्र उक्तेनापि उपवीतेन न अलंक्रियते, व्रजे भगवतो अनुपनीतत्वात्. "**अभ्यंगोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनं, अन्नाद्यं [2]गीतनृत्यानि पर्वणि स्युः उत अन्वहम्**" (भाग.पुरा.११।२७।३५) इत्यत्र उक्तेषु दन्तधावः कदापि न कार्यते अभ्यंगोष्टदिनोत्तरम्. शेषा यथा सौकर्यम् इति युज्यते. एवम् अन्यदपि बोध्यम्. सर्वत्र श्रीभागवताद्युक्तव्रजस्थाद्याचरणस्यैव

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

स्नेहमध्यपातित्वे साक्षात् पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वे च सति मुख्ये जघन्ये च अधिकारे यथायथं तदुभयं नियामकम् इति अर्थः. ननु एवं सति जघन्याधिकारिकृतश्रवणादेः स्नेहाभावाद् न पुष्टिभक्तित्वम्.

---

[1] स्नेहस्य अनुदितत्वाद् न मर्यादयैव उपदेष्टव्यः इति अर्थः इति क. ग. स्नेहस्य आदितत्वानाप्यदि यै यः उपदेष्टव्यः इति ख.

[2] गीतनृत्यादि इति ख.

उपदेशएव. सच वेदाविरुद्धएव इति ज्ञेयम्. विधिम् अजानता बालेन पित्रादिशिक्षया कृतसन्ध्यावन्दनादेः कर्मत्ववद् उपदेशानुसारेण कृतेरपि भक्तित्वं, तन्मार्गीयत्वात्. एवम्भूतस्य अग्रे स्नेहो अवश्यं भावि इति ज्ञेयम्. यथा तादृग्बालकृतकर्मणोऽपि उक्तफलसाधकत्वं तथा तादृग्भजनस्यापि पुरुषोत्तमप्रापकत्वमिति किम् अन्यद् अवशिष्यते. आधुनिकानाम् उपदेष्टॄणामपि स्नेहाभावेऽपि तन्मूलभूतानां प्राचाम् आचार्याणां तद्वत्त्वेन [1] तदनुगृहीतत्वेन सर्वोपपत्तेः. स्वानुगृहीतभक्तप्रवर्तितत्वेन यतः तन्मार्गे पक्षपातो भगवतः, अतएव श्रीभागवते

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

उपदेशः इति अर्थः स्नेहं विनापि सम्प्रदायप्राप्ततत्कृतेः भक्तित्वं [2] न

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

मूलत्वादिति. ननु स्नेहाभावेन कृतायाः पूजायाः कथं भक्तिमार्गीयत्वम्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

भक्तिसाधनत्वेन अक्रियमाणत्वाद् न मर्यादाभक्तित्वम्. मोक्षार्थित्वाभावाद् न प्रावाहिकभक्तित्वम्. भक्तिमार्गीयत्वाच्च न उपासनादिरूपत्वमिति कुत्रापि अनिवेशः इति तदुपदेशवैयर्थ्यं तत्कृतिवैयर्थ्यं च इत्यतः आहुः **विधिम्** इत्यादि. तथाच पुष्टिभक्तावेव निवेशाद् न उपदेशादेः वैयर्थ्यम् इति अर्थः. ननु तत्र प्रवेशेऽपि कृतवैयर्थ्याभावो न शक्यवचनः. स्नेहाभावेन भगवत्प्राप्तिरूपस्य फलस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् इत्यतः आहुः **एवम्भूतस्य** इत्यादि **अवशिष्यते** इत्यन्तम्. तथाच न तत्कृतिवैयर्थ्यम् इति अर्थः. ननु तथापि इदानीं तदुपदेशवैयर्थ्यं वज्रलेपायितम्. आधुनिकानाम् उपदेष्टॄणामपि स्नेहाभावात्. तथाच भक्तिमार्गीयत्वमपि अभिमानमात्रमिति तदपि व्यर्थम् इति आशंकायाम् आहुः **आधुनिक...** इत्यादि. तदनुगृहीतत्वेन इति. तेषाम् इति शेषः. पक्षपाते प्रमाणम् आहुः **अतएव** इत्यादि **लिख्यते** इत्यन्तम्. ननु एवं

---

[1] भगवदनुगृहीतत्वेन इति उपलब्धेषु पुस्तकेषु पाठः. श्रीपुरुषोत्तमचरणवाक्यानुरोधेनतु एवम्. एवमेव तत्र तैः प्रतीकस्य ग्रहणात्. [2] न अन्यत्वमपि इति अर्थे इति ख. ग. घ.

ब्रह्मादिवाक्यं “स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीमम् अदभ्रसौहृदाः, भवत्पदांभोरुहनावम् अत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्” (भाग.पुरा.१०।२।३१) इति. अत्र भगवत्पदाम्भोजस्य भक्तिमार्गत्वेन तद्रूपस्वसम्प्रदायप्रवर्तनमेव तन्निधानम्. तत्प्रवर्तितसम्प्रदाये प्रवृत्तानां तादृक् साधनाभावेऽपि साक्षाद् अनुगृहीतेषु पक्षपातेन तत्सम्बन्धिष्वपि अनुग्रहं करोषि इति अभिप्रायेण उक्तं ‘सदनुग्रहः’ इति. सत्सु अनुग्रहो यस्य इति अर्थः. अस्मिन् अर्थे प्रामाण्यार्थं भगवत्सम्मतिरेव दर्शिता ‘भवान्’ इत्यनेन. तत्सम्प्रदायस्थानां तरणावश्यम्भावाय नौत्वनिरूपणम्. तेन अनायासेन भवाब्धितरणं सूचितम्. बाहुभ्यां तरणे हि आयासो नावा तरणे न तथेति एतत् सर्वं विवरणे पितृचरणैः विवृत्तमिति न अत्र लिख्यते. भगवद्भजने परम् इयं व्यवस्था. अग्निहोत्रादीनां प्रभ्विच्छां ज्ञात्वा यदा अनुष्ठानं तदा यथाकल्पसूत्रमेव. एतेन अप्रामाणिकत्वेन अन्धपरम्परात्वशंका निरस्ता, प्रमाणसिद्धत्वात्.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

अन्यथात्वमपि इत्यर्थे कर्म दृष्टान्तीकृत्या आहुः **विधिम् अजानता** इत्यादिना. **इयं व्यवस्था** इति. सम्प्रदायप्राप्तमेव कार्यं न अप्राप्तं विध्यनुरुद्धमपि

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति आशंकायाम् आहुः **स्नेहं विना** इत्यादि. **इत्यादिना** इति. **लिख्यते** इत्यन्तेन इति अर्थः. **इत्येवंरूपा** इति. ‘सदनुग्रह’पदव्याख्यानसूचिता

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

जघन्याधिकारेऽपि चेद्, भक्तेः फलपर्यवसायित्वं तदा कर्मणः [1]फलार्थित्वाभावात् तदिच्छाज्ञानेऽपि तत्कृतिवैयर्थ्यात् तत्यागापत्त्या तेषु सदाचारोच्छेदप्रसंगः इत्यतः आहुः **भगवद्** इत्यादि. तथाच ज्ञातायाम् इच्छायां तदकरणे [2]आभिप्रायिकाज्ञाभंगदोषः. यदि च विशेषतो ज्ञानाभावेन सन्देहः तदा “**श्रुतिस्मृती ममैव आज्ञे यः ते उल्लंघ्य वर्तते, आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः**” (वाधूलस्मृति.१९५) इति सामान्याज्ञैव

१.फलार्थत्वाभावाद् इति क. २.आभिप्रायिकेति न अस्ति. आज्ञाभंगदोषः इति एतावन्मात्रम् अस्ति ख.

प्रेम्णश्च फलत्वेन स्वकृत्यसाध्यत्वेन च न विहितत्वं सम्भवति किन्तु तस्य अनुवादएव. ''यः एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः''

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इत्येवंरूपा. मार्गभेदेन भगवदाराधनत्वाद् अग्निहोत्रादीनामपि अन्यथाकरणं प्राप्तम् अपवदन्ति **अग्निहोत्रादिनाम्** इति. **एतेन** इति. शिष्टाचारस्य प्रमाणत्वाद् उपदेशात् स्नेहं विनाऽपि प्रामाणिकत्वात् कृतेः

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

उक्तरूपा व्यवस्था नियमात्मिका भगवद्भजनएव नतु वैधेपि कार्ये इति अर्थः. तर्हि तादृशस्य वैधे का व्यवस्था इति अपेक्षायाम् आहुः **मार्गः** इत्यादि. तथाच विशेषाज्ञायाः अभावात् तादृशस्थले ''**श्रुतिस्मृती ममैव आज्ञे यः ते उल्लंघ्य वर्तते, आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः**'' (वाधूलस्मृति.१९५) इति आद्याज्ञैव अनुसन्धेयेति मूलाशयः इति भावः. ननु भगवद्भजने या व्यवस्था उक्ता तस्याः वाचनिकत्वाभावेन प्रयोजकस्य स्नेहस्यापि अभावेन तादृशकृतेः अन्धपरम्परात्वात् स्नेहरूपफलजनकत्वं दुर्घटम् इत्यतः आहुः **एतेन** इति उक्तवाक्योपन्यासेन. निरासं व्याकुर्वन्ति **शिष्ट...** इत्यादि. **न शंकनीयम्** इति. ''**साधूनां समयश्चापि प्रमाणं**

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

तैः अनुसन्धेयेति न तेषु आचारोच्छेदप्रसंगः इति अर्थः. ननु तथापि कर्मकरणमेव प्राप्तं नतु कल्पसूत्रानुरोधोऽपि. यथा कथञ्चित् करणेऽपि आज्ञानिष्पत्तेः इति आशंकायाम् [1]एषातु प्रसंगादेव निरस्तः इति आहुः **एतेन** इत्यादि. ननु तापनीयश्रुतौ ''**तं भजेद्**'' (गो.पू.ताप.उप.२।१३) इति विधाय ''**भक्तिः अस्य भजनं तद् इह अमुत्रौपाधिनैराश्येन अमुष्मिन् मनःकल्पनम्**'' (गो.पू.ताप.उप.१।३) इति लक्षणदर्शनात् [2]प्रेम्णोऽपि विहितत्वात् शक्यतावच्छेदकम् एकमेव स्वीकार्यं न द्वयम्. तावता अनेकार्थत्वदोषस्यापि निवृत्तिः. तथा सति स्नेहे भजनप्रकारनियामकत्वम्

---

[1] एषातु प्रसंगादेव इति ख. [2] अपि नास्ति ख.

(भाग.पुरा.१०।८।१८), ''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो 'भक्तिः' इति प्रोक्तः तया मुक्तिः न च अन्यथा'' (त.दी.नि.१।४२), तृतीयस्कन्धे च ''देवानां गुणलिंगानाम् आनुश्रविककर्मणाम्'' (भाग.पुरा.-३।२५।३२) इत्यादि, ''मद्गुणश्रुतिमात्रेण'' (भाग.पुरा.३।२९।११) इत्यादि. साधनरूपा श्रवणादिलक्षणातु ''तस्माद् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्च इच्छता अभयम्'' (भाग.पुरा.२।१-।५) इत्यादिवाक्यैः विधीयतएव इति सर्वम् अनवद्यम् इति दिक्.

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

अन्धपरम्परात्वं शंकनीयम् इति अर्थः. **प्रेम्णश्च** इति. स्वःपदास्पदीभूतसुखसाधने यथा पुरुषव्यापारः तथा अत्रापि इति भावः. स्नेहरूपायाः फलत्वेन अविधेयत्वं साधनरूपायाः श्रवणाद्यात्मकत्वेन विधेयत्वम् इति विवेको यः एतस्मिन्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

वेदवद् भवेद्'' ( ) इति वाक्ये **'वेदवद्'** इति अतिदेशात् स्मृत्यपेक्षया कलौ तस्य सबलत्वात् तेन प्राप्तौ न शंकनीयम् इति भावः. ननु तापनीयश्रुतौ ''**तं भजेद्**'' (गो.पू.ता.उ.२।१३) इति विधाय ''**भक्तिः अस्य भजनं तद् इह अमुत्रोपाधिनैराश्येन अमुष्मिन् मनःकल्पनम्**'' (गो.पू.ता.उ.१।३) इति लक्षणदर्शनात् प्रेम्णोऽपि विहितत्वात् कः तत्र विशेषः इत्यतः आहुः **प्रेम्णः** इत्यादि. तद् व्याकुर्वन्ति **स्व...** इत्यादि. तथाच उपबृंहणवाक्येषु अनुवाददर्शनात् तत्रापि प्रेमकारणीभूतमनोव्यापारस्यैव विधानं नतु प्रेम्णः इति आशयः. शेषं मूले टीकायां च प्रकटार्थम्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

असंगतम् इत्यतः आहुः **प्रेम्णः** इत्यादि **विधीयतएव** इत्यन्तम्. तथाच उपबृंहणवाक्येषु अनुवाददर्शनात् तत्रापि प्रेमकारणीभूतमनोव्यापारस्यैव विधानं नतु प्रेम्णः. श्रवणादिषुतु उपबृंहणेऽपि विधिरिति प्रवृत्तिनिमित्तद्वयम् आवश्यकम्. एवं सिद्धे भेदे स्नेहस्य भजनप्रकारनियामकत्वमपि सूपपन्नम् इति अर्थः. तदेतद् आहुः **सर्वम् अनवद्यम्** इति. दिग् इत्यनेन युक्त्यन्तरसत्ता सूच्यते. ताश्च साधनाध्यायतृतीयपादादिभ्यो अवगन्तव्याः इति शुभम्. ग्रन्थसमापने

उपास्तिं मन्यन्ते मधुमथनभक्तिं निजकृता-
थंतां तत्रोपास्यं परमपुरुषं चापि सुविदः ॥
द्वयोः सारूप्यात् तद्भ्रमहतिकृतिमानसगतम्
मुदा भक्तेः हंसं प्रकटमकरोद् विट्ठलकृती ॥१॥
व्रजामि चरणं मुदा शरणमैहिकामुष्मिके
निरस्तनिजसंशयो यः इह भाग्यवद्भिः स्मृतः ॥
व्रजेशसुतपादपंकजपरागरागाञ्चितम्
[१]करोतु सततं स मां निजतनूजवात्सल्यतः ॥२॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानश्रीविट्ठलेश्वरविरचितो
भक्तिहंसः समाप्तः

श्रीमद्रघुनाथप्रणीता भक्तितरंगिणी

इत्यादिना ज्ञापितः. **उपास्तिम्** इति. सुविदः सम्प्रदायाभिज्ञापि मन्त्रोपासनायाः भक्तित्वं तदाचरणमात्रेण कृतकृत्यत्वं परमपुरुषं पुरुषोत्तमं च फलत्वेन मन्यन्ते इति सर्वत्र अन्वेयम्. **द्वयोः** इति. बाह्यसाधनाचरणस्य एतन्मार्गीयतन्मार्गीययोः तुल्यत्वाद् भेदकस्य भावस्य आन्तरत्वाद् न्याय[२]प्राप्तभ्रमस्य हतिकृते हननाय [३]परस्परसंकीर्णस्वरूपस्य क्षीरनीरवद् विवेचनाय सरःस्थानीयमनोगतं भक्तेः हंसं बहिः उपकाराय प्रकटितवान्. **कृती** सफलोद्यमः ॥१॥ **व्रजामि** इति. अहम्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

प्रतिज्ञापूर्तिं हेतुत्वेन सूचयन्तः प्रयोजनम् आहुः **उपास्तिम्** इत्यादि. **निजकृतार्थताम्** इति. तया इति शेषः. **तत्र** इति उपास्तौ. तथा अभिमाने हेतुः **द्वयोः सारूप्याद्** इति. [४]उपास्तिभक्त्योः उपास्यभजनीययोश्च साधर्म्याद् इति अर्थः. एवं प्रतिज्ञातं निगमयित्वा प्रथममंगलवाक्योक्तं निगमयन्ति **व्रजामि** इत्यादि. [५]इह भाग्यवद्भिः स्मृतः, यः निरस्तनिजसंशयः, निरस्तस्वीयसंशयः, निरस्तस्वस्वरूपविषयसंशयो वा, तस्य इति शेषः. तस्य

---

१. भक्तितरंगिण्यनुरोधी पाठो अयम्. विवेकस्तु "करोति सततं हि माम्" इति पाठं प्रतिपद्यते. सएव च मूलपुस्तकेषु प्रायशः उपलभ्यते. २. न्यायप्राप्तभ्रमहननकृते हननाय इति क. ग. ३. परस्परं संकीर्णस्वरूपम् इति क. ख. ४. उपासनाभक्त्योः इति ख. ५. विश्वासाय भाग्यवद्भिः स्मृतः इत्यादि ख.

ऐहिकामुष्मिके अर्थे मुदा चरणं शरणं यामि. निरस्ता निजेषु स्वविषयेषु संशया यस्य. यः चरणः इह लोके भाग्यवद्भिः कृतपुण्यपुञ्जैः स्मृतो न इतरैः. सः चरणः इह अवसरे व्रजेशसुतचरणकमलरजश्छुरितं मां सर्वदा करोतु. अतिदुर्लभम् अदेयमपि स्वांगजनस्नेहवशेन ददातु इति अर्थः ॥२॥

यद्रसास्वादरसिकास्तृणीकृतगृहाश्रमाः ॥
हसन्ति संसृतिं हंसाः सेयं भक्तितरंगिणी ॥१॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृता
भक्तितरंगिणी सम्पूर्णा

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतं तीर्थम्

इति शुभम्.

सिद्धे भेदे धर्मभेदाद् उपास्यभजनीययोः ॥
रूपभेदाद् भक्त्युपास्त्योर्भेदः सिद्ध्यति यागवत् ॥१॥
[१]सः धर्मफलभेदाभ्यां समुपोद्बलितो [२]भवन् ॥
सारूप्यजनितां भ्रान्तिं विदां हन्ति हृदि स्थिताम् ॥२॥
तेन भक्तिपदं गौणम् उपास्तावववधार्यताम् ॥
श्रवणादिषु हेतुत्वात् तथा लाक्षणिकं यतः ॥३॥
स्वतन्त्रफलरूपेहि भक्त्याख्या सेवने स्मृता ॥
प्रेम्णा कृतेषु भक्त्याख्या श्रवणादिषु या पुनः ॥४॥
सा मुख्यकल्पा गंगावद् यदा नानार्थता तदा ॥
प्रवृत्तिहेतुभेदेन नैव प्रेम्णि विधेयता ॥५॥
अतः प्रेम्णा कृतं सर्वम् अवैधमपि तद्बलात् ॥
हरिरंगीकरोत्येव तेन तन्मार्गगामिनाम् ॥६॥
उपदेशानुसारेण भजतां स्नेहसम्भवः ॥
ततश्च भगवत्प्राप्तिरेष ग्रन्थार्थसंग्रहः ॥७॥

---

१. स्वधर्मः इत्यादि ख. २. अभवद् इति क.

प्रविश्यानेन तीर्थेन निम्नां भक्तितरंगिणीम्॥
गाहमानाः प्रपश्यन्तु भक्तिहंसं मुदान्विताः॥८॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानपीताम्बरात्मजश्रीपुरुषोत्तम
विरचितं भक्तितरंगिण्याः तीर्थं सम्पूर्णम्

श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतो विवेकः

चरणं मुदा ऐहिकामुष्मिके शरणं व्रजामि. ऐहिकामुष्मिके विषये निरस्तस्वीयसंशयः इति वा [1]विश्वासाय. तत्फलं स्वस्मिन् दर्शयन्ति. यः निजतनूजवात्सल्यतः सततं कञ्जपरागरागाञ्चितम्. कञ्जानि [2] पद्मानि तत्परागे यो रागः आसक्तिः तेन अञ्चितं व्याप्तम्. अतिसुखासक्तम् इति अर्थः. तादृशं मां व्रजेशसुतपादपम्. व्रजेशसुतो भगवान्, तत्पादरूपो भक्तिमार्गः इति **'भवत्पदाम्भोरुहनावम्'** इत्यत्र सिद्धम्. तस्य पं रक्षितारं [3]करोति इति अर्थः. एवम् अन्वयेन यतिभंगदोषः परिहृतो बोध्यः. यथाश्रुतव्याख्यायान्तु वृत्तिगन्धिचूर्णिकात्वाद् न तत्र यतिविचारः इति सर्वम् अनवद्यम्.

नमाम्याचार्यचरणान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान्॥
यत्कृपाभक्तिहंसीयविवेकस्फुटतां व्यधात्॥१॥

इति श्रीमद्वल्लनन्दनचरणशरणपीताम्बरात्मजश्रीपुरुषोत्तम
विरचितो भक्तिहंसविवेकः सम्पूर्णः

---

[1] विश्वासाय इति नास्ति इति ख. [2] पद्मादीनि इति क. [3] करोतु अर्थः इति ख.

॥ श्रीमद्विट्ठलेश्वराणां षड्विंशतिपत्राणि ॥

(१)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीनवनीतप्रिय-मथुरानाथ-द्वारकानाथ-गोवर्धनधर-विट्ठलेश्वर-मदनमोहन-गोवर्धनधर-नवनीतप्रियचरणारविन्देषु अनुचरस्य प्रणतयो निवेदनीयाः

स्वस्ति श्रीमज्ज्येष्ठभ्रातृचरणकमलेषु यवीयसो विट्ठलस्य प्रणामकोटिनिवेदको अयं पत्रदूतः. शम् इह, भावत्कम् आशासे. अहं भगवदाज्ञया रासोत्सवपर्यन्तं श्रीगोवर्धनधरणचरणारविन्दनिकटे स्थितो अस्मि. हरिद्वारं प्रति आज्ञा न जातेति न गतम्. अत्र मम अस्वास्थ्यं बहु जातम् आसीत्. उपवासदशकं कृतम्. अधुना भगवत्कृपया श्रीमत्कृपया च नैरुज्यं जातम् अस्ति. कापि चिन्ता न कार्या. अक्का-अम्मा-अत्ताचरणेषु नतयः. अक्का यथा दुःखं न करोति मम अस्वास्थ्यं श्रुत्वा तादृक् कर्तव्यम्. भवतापि कापि चिन्ता न कार्या मम, भगवति सर्वत्र. [1]यादवेन्द्रपुरीषु [2]ब्रह्मानन्देषु दीक्षितेषु [3]हरिहर- [4]नागनाथ- [5]चूडादिषु नमस्काराः. [6]विष्णुदासादिषु आशिषः. अत्रत्य वैष्णवानां नतयः.

निर्भरं क्रीडितोराली मुदा कुञ्जे विवाससोः ॥
अन्योन्यस्य प्रभैवासीद् अन्योन्यमुचितांशुकम् ॥१॥

---

[1] यादवेन्द्रपुरी, ? [2] ब्रह्मानन्द. ? [3] हरिहर (श्रीप्रभुचरणात्मजाश्रीशोभादेव्याः श्वसुरः) [4] नागनाथ. ? [5] चूडा. ? [6] विष्णुदास (वै.वा.८४।५०)

(२)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां [१]धरमसी वैष्णवेषु [२]सायणाकृष्णदासादिषु आशिषः. शम् इह भावत्कम् आशास्महे. तुम्हारे समाचार तुम्हारे पत्रतें पाये.

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ॥
सम्पत्स्वापत्स्वपि सदा शरणं हरिरेव हि ॥१॥

किमधिकम्? [३]गोविन्दद्विवेदिपुत्रकृष्णदासस्य व्यावहारिकी चिन्ता कार्या. [४]यादवपण्डितेषु कृष्णस्मरणम्. [५]हरिजीभाईलादिषु आशिषः.

---

[१].धरमसी. ? [२].सायणाकृष्णदास. ? [३].गोविन्दद्विवेदिपुत्रकृष्णदास. (वै.वा.८४।३४)
[४].यादवपण्डित. ?
[५].हरिजीभाईला (वै.वा.२५२।१।१०)

(३)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

अजनिरजनिः प्रादुर्भूतं तमो विजना दिश-
स्त्वमसि चतुरा चाहं संगाभिलाषवती मुहुः ॥
तदपि तु यदप्राप्तिः प्रेष्ठस्यैतन्मया सुविचारितम्
प्रियसखि परीरम्भारम्भे विधेरविधेयता ॥१॥
त्वत्तो नान्यामहं पश्ये राधाबाधावरोधिनीम्
तत् त्वं यथैव मत्प्राणो मिलत्येव तथा कुरु ॥२॥

स्वस्ति श्रीमच्छ्रीगोवर्धनोद्धरणधीरचरणसेवकेषु [१]श्रीकृष्णदास-[२]रामदास-[३]केशवदास-[४]माधवदास-[५]गौतमदास-[६]भगवद्दास-[७]राघवदास-[८]लक्ष्मणयादवदास-[९]खनूनरसिंहदास-[१०]गोपालदास-[११]श्रीमताखीलूप्रभृतिषु विट्ठलानां कुशलवार्ताभिज्ञापको अयं पत्रलेखः.

भद्रम् इह, भावत्कम् आशास्महे. गृहोपविष्टे भगवति अहम् आगच्छन् स्थितः तदा [१२]सत्यभामायाः विवाहवार्तोपस्थिता. तेन आगमनम् अधुनैव नाभूत्. माघे यदि विवाहो भविष्यति, तदा तदनन्तरं भाग्यं चेद् भविष्यति मया आगन्तव्यम्. अन्योन्यप्रीत्या सेवा कर्तव्या. [१३]पुरुषोत्तमादयः कुशलिनः. [१४]काशीश्वरेषु [१५]रघुनन्दनेषु च नतयो निवेदनीयाः. किम् अधिकम् ?

१.श्रीकृष्णदास (वै.वा.२५२।१।२४) २.रामदास (वै.वा.२५२।२।९५) ३.केशवदास. ? ४.माधवदास (वै.वा.२५२।१।८) ५.गौतमदास. ? ६.भगवद्दास (वै.वा.२५२।२।-१०७) ७.राघवदास (वै.वा.२५२।३।२३४) ८.लक्ष्मणयादवदास. ? ९.खनूनरसिंह-

दास. ? १०.गोपालदास (वै.बा.२५२।१।२५,२५२।१।११) ११.श्रीमताखीलू. ? १२.सत्यभामा (श्रीगोपीनात्मजा) १३.पुरुषोत्तम (श्रीगोपीनाथात्मजः) १४.काशीश्वर. ? १५.रघुनन्दन. ?

(४)

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

स्वस्ति श्रीगोवर्धननाथपादपद्मपरागेषु [१]श्रीकृष्णदास-[२]रामदास-[३]ग्वालभट्ट-[४]नरसिंहदास-[५]यादवदास-[६]राघवदास-[७]गोपीनाथदास-[८]केशवदास-[९]माधवदास-[१०]सन्तदास-[११]हरिदास-[१२]गोपालदास-[१३]स्वामिदास-[१४]मनालालदास-[१५]भीष्म[१६]गोवर्धनधारिदास-[१७]अजया-दामोदरदास-[१८]सधू[१९]कुम्भनाप्रभृतिषु श्रीविट्ठलानाम् आशिषां कोटिः. भद्रम् इह. भावत्कं सततम् आशास्महे. अपरञ्च सेवा सम्यक् कार्या. ग्वालभट्टः सम्यक् पाकादिसेवां करोति इति श्रुतं तेन सन्तोषो जातः. सम्यक् शिक्षणीयश्च. अग्रे व्यञ्जनादिकं यथा भवति तथा विधेयम्. भोगसामग्री सम्यक् दृष्ट्वा देया. यथाशक्तिः सर्वे भोगाः निर्वाह्याः. चतुर्थप्रहरे मक्षिकामार्जनार्थं कश्चिद् नियोज्यः. यदि यमुनाजलनिर्वाहः सेवकैः भवति तदा तथैव कार्यम्. परन्तु अतिकष्टेन न कार्यं, मत्स्वामिनः कोमलस्वभावत्वात्. अन्यच्च यवनादयो भगवद्द्वारे आगच्छन्ति तदा यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यम्. यद्यपि हार्दं न भवति तथापि बाह्यतोऽपि कार्यम्. सावधानैः सदा परस्परं सस्नेहैः अबहिर्दृष्टिभिः भगवत्सेवकैः सेवापरैः स्थेयम्. चिन्ता कापि न कार्या. गोकुलजीवनः सर्वं भद्रमेव करिष्यति. अहं यथा शीघ्रं दर्शनं प्राप्नोमि तथा विधेयं प्रत्यहम्. भवत्सु अधिकं किं लिखामि? स्वभाग्योदये शीघ्रमेव आगमिष्यामि. चिन्ता कापि न कार्या. पत्रं मुहुः प्रेषणीयम्. तत्रत्य समाचारो लेखनीयः. हरिवंशस्य नतयः. अत्र अहं दुग्धं बहु पिबामि. [२०]रामदासः पायसादिकं सर्वं गृह्णातु. दुग्धोदनप्रसादः [२१]कृष्णदासस्यापि* देयः. सर्वैः कृष्णदासस्य आज्ञायां स्थातव्यम्. मर्यादायां सर्वैः स्थेयम्.

न स्वाध्यायबलं न यागजबलं नो वा तपस्याबलम्।।
नो वैराग्यबलं न योगजबलं नाप्युक्तभक्तेर् बलम्।।
नैव ज्ञानबलं न चान्यदपि यत् किञ्चद् बलं मेऽस्ति।।
किन्त्वद्यश्वोऽपि यदा-तदा तव कृपाकूतेक्षणं मे बलम्।।

१.श्रीकृष्णदास (वै.वा.८४।८४) २.रामदास (वै.वा.२५२।२।९५) ३.ग्वालभट्ट. ? ४.नरसिंहदास. ? ५.यादवदास. (वै.वा.८४।३९) ६.राघवदास (वै.वा.२५२।३।२-३४) ७.गोपीनाथदास (वै.वा.२५२।१।७९) ८.केशवदास. ? ९.माधवदास (वै.वा.२५२।१।८) १०.सन्तदास (वै.वा.८४।७६) ११.हरिदास (वै.वा.२५२।१।-१५) १२.गोपालदास (वै.वा.२५२।२।८७) १३.स्वामिदास १४.मनालालदास (वै.वा.२५२।३।१९८) १५.भीष्म (वै.वा.२५२।३।१७०) १६.गोवर्धनधारिदास (वै.वा.२५२।३।१९८) १७.अजयादामोदरदास. ? १८.सधू(सदुपांडे) (वै.वा.८४।-७३) १९.कुम्भना(कुम्भनदास) (वै.वा.८४।८३) २०.रामदास (वै.वा.८४।३३) २१.कृष्णदास (वै.वा.८४।८४)

❊'रामदास' इति ग पाठः.

(५)

॥श्रीहरिः॥

स्वस्ति श्रीविट्ठलनाथदीक्षितानां [1]गोपीनाथभट्टेषु आशिषः. शम् इह, भावत्कम् आशास्महे. अपरञ्च ना वृत्तान्तं हरिवंशुडुचर्पेदिहुण्डी प्रविष्ट मामनु नीइठ कुशलम् उन्नइ. हरिराम गोवर्धनु लुलिस्मे उन्नारु. भातृवियोगजनितदुःखं चेय्य वल्दु. भगवदिच्छाधीनमता मरिनाउ. विवेकिनी [2]गोविन्दभट्टः [3]वासुदेवभट्टादिकुशलम् उन्नारु. कार्यमैनेवे गिरं वच्चेडिदि. किमधिकम्? शिवावच्चिनाडु वानि दीयति ऐय्येड टवेऽरुं चानि.

भावानुवाद

स्वस्ति. श्रीविट्ठलनाथदीक्षितके आशीर्वाद. हम यहां कुशल हैं और आपकी कुशलता चाहते है. मेरा समाचार चाचा हरिवंश द्वारा जानोगे. तुम्हारे घरमें सब कुशल है. हरिराम गोवर्धनमें है. भ्रात्रवियोगजनित दुःख मत करना. सब भगवदिच्छाके अधीन है. गोविन्दभट्ट वासुदेवभट्ट आदि सब कुशल हैं. कार्य सम्पन्न हो जाय तो जल्दी आ जाना. शिवा आया है उनको कहाँ उतारुं?

१.गोपीनाथभट्ट (काश्यपत्रिग्रहशोभागणेशयोः तृतीयात्मजः, श्रीप्रभुचरणानां दोहित्र) २.गोविन्द भट्ट. (श्रीविश्वनाथात्मजश्रीरुक्मिणीभ्राता) ३.वासुदेव भट्ट. (श्रीप्रभुचरणसद्मोकः)

(६)

स्वस्ति श्रीगिरिधरादिषु आशिषः.

दशम्याम् अत्र अवश्यपवित्रारोपार्थम् आगन्तव्यम्. तन्मध्ये दिनानि अल्पानीति तावत्पर्यन्तम् अत्रैव स्थेयम् इति मन्मतिः. यदि हस्तार्कएव तत्रापि हिन्दोलामुहूर्तं तदा सर्वं भवद्भिरेव कार्यम्. अन्यत् चेत् तद् उक्त्वा एतदुक्ता प्रत्येयं तदा प्रश्विंगतं तथा करिष्ये. किम् अधिकम् !

(७)

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां [1]नागजीप्रभृतिषु आशिषः. शम् इह. भावत्कम् आशास्महे.

सततं गोपीकाधीशपदाम्भोजं सुभावितम्॥
हृदि कार्यं तदीयत्वं ततएव फलिष्यति॥१॥
निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यम् आचरेत्॥
प्रावाहिकाः तेऽपि चेत् स्युः उपेक्षैवोचिता तदा॥२॥

पुरुषोत्तमात् कुशलिनः समागताः स्म. गिरिधरादयः कुशलिनः. किमधिकम्? श्रीकृष्णः शरणं मम. शुभं भवतु.

---

[1] नागजी (वै.वा.२५२।१।१)

(८)

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

स्वस्ति श्रीगिरिधरादिषु आशिषः. शम् इह भावत्कं तद् आशास्महे. मदागमानन्तरं कथं स्थितो गिरिधरः? कदा किं गृहीतवान् न वा? रात्रौ च किं वृत्तम्? उपचारविशेषः कः कृतः? निद्रा सम्पन्ना? पूर्ववद् नैर्बल्याभावो अस्ति ज्वराभावश्च? [१]विद्याधरः किं वदति? [२]स्वामिदासः आगतो न वा? आगत्य वा किम् उक्तवान्? किं कृतवान् इत्यादि सर्वं लेखनीयं, भृगुवारे दिवावृत्तान्तः सर्वोऽपि रात्रिवृत्तान्तश्च. अस्मिन् पर्याये मद्धृदि भयं चिन्तातिशयेन जायते. सेवानन्तरं तत्र आगमने भद्रासांमुख्यम् अग्रे च शनिवासरः इति दिन २ स्थीयते तथापि भवल्लिखनानुरूपं व्यवहर्तव्यं गिरिधरस्य मदागमनं शीघ्रमपेक्षितं चेत् तथा लेखनीयम्. मया रवौ तत्र आगन्तव्यम् इति मनोऽस्ति परन्तु चिन्ताव्याप्तः तिष्ठामि सर्वांशे श्रीकृष्णः शरणम् अस्ति तेनैव शुभं सर्वं भवति भावि च. किमधिकम्.

१.विद्याधर. ?

२.स्वामिदास. ?

(९)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अथ आत्मसुतेभ्यः पत्रम्

स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां गिरिधरस्य च श्रीगोविन्द-बालकृष्ण-श्रीवल्लभ-रघुनाथ-यदुनाथ-घनश्यामेषु गिरिधरस्य च भवतां पुत्रेषु आशिषः. शम् इह, भावत्कं भद्रम् आशास्महे. टोडाग्रामपर्यन्तं श्रीगोकुलनाथेन कुशलेन समानीताः स्म. अत्रैव दोलोत्सवश्च कारितः. गिरिधरविषयिणि अस्मद्विषयिणि च कापि चिन्ता न कार्या. श्रीगोवर्धनेशएव अविता अस्ति. उभयत्रापि सेवा सम्यक् कार्या कारणीया च. स्वस्वदेहरक्षाः सर्वैः प्रकारैः कार्या. सेवकाः स्व-स्वमर्यादायां च रक्षणीयाः, बालकानां रक्षा सर्वैः प्रकारैः कार्या. यद् द्रव्यम् आगमिष्यति तन्मध्ये तत्कालानुरूपव्ययोपयोगी यावद् भवति तावत् स्थापयित्वा शेषेण अवश्यम् ऋणशोधनं कार्यम्. व्ययश्च सावधानतया करणीयः. निशि यामिकाः सावधानाः स्थापनीयाः. इतः प्रेषितः अश्वो गोविन्दभट्टेभ्यो दत्तोऽस्ति अस्माभिः तं विक्रिय तद्द्रव्यं तैः ग्राह्यम्. पत्रं मुहुः प्रेषणीयम्. तत्रत्य सर्वोऽपि वृत्तान्तो लेखनीयः. गिरिधरापत्यानां विशेषतः कुशलं लेख्यम्. चिन्ता कापि न कार्या. श्रीगोवर्धननाथो अस्मत्कुलपतिः अस्मद्हितमेव करिष्यति. किम् अधिकम्. चैत्र वदि ४ [१]गोविन्दभट्टेषु [२]गणेशभट्टेषु [३]वासुदेवभट्टेषु च आशिषः. [४]पदकृद्गोविन्ददासेषु भगवत्स्मरणं वाच्यम्. [५]मदनसिंहादिषु [६]कृष्णादासादिषु आशिषो वाच्याः. वासुदेवभट्टैः आगन्तव्यं स्वगृहे पुरोहितगृहात्. [७]वेंकटप्रभृतिषु [८]कृष्णरायादिषु आशिषः इति.

१.गोविन्दभट्ट. (श्रीविश्वनाथत्मजश्रीरुक्मिणीभ्राताः) २.गणेशभट्ट. (वादीभपञ्चानना श्रीहरिहरभट्टात्मजः एवं प्रभुचरणात्मजायाः श्रीशोभादेव्याः पतिः) ३.वासुदेवभट्ट.?

४.पद्कृद्गोविन्ददास (वै.वा.२५२।३।२४७) ५.मदनसिंह. ? ६.कृष्णदास. (वै.वा.८४।८४) ७.वेंकट. ? ८.कृष्णराय. (प्रभुचरणात्मजादेवकाअह्लादभट्टात्मजः)

(१०)

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां गिरिधर-गोविन्द-बालकृष्ण- श्रीवल्लभ-रघुनाथ-यदुनाथ-घनश्यामेषु गिरिधरस्य च भवत्पुत्रेषु च आशिषः. शम् इह, भावत्कं कुशलम् आशास्महे. उभयत्र सेवा सम्यक् कार्या. भोगादौ वैष्णवानां विश्वासो न कार्यः. मध्ये-मध्ये मनोहरभोगोऽपि कार्यः. एतदर्थं गृहे दुग्धासम्भवेऽपि अन्यतोऽपि आनाय्य कार्यः. अपरञ्च

सर्वे परिगृहीताः स्मो गोकुलस्वामिना वयम् ॥
न त्यक्ष्यति दयासिन्धुरस्मानन्यायिनोऽपि हि ॥१॥
स्वकृत्याभीः भवत्येव तथापि करवाणि किम् ? ॥
तथापि गतिरस्माकं सएवेति न भीरपि ॥२॥
यथा वयं तदीयाः स्मः तथा सोऽपि निसर्गतः ॥
अस्मत्प्रभुरतश्चिन्ता नैहिके पारलौकिके ॥३॥
चिकीर्षितं कारयित्वा शीघ्रमानेष्यति प्रभुः ॥
अस्मानतो न चिन्ता वः कार्या सर्वात्मना प्रियाः ॥४॥
एतेषाम् अहमेवास्मि सर्वस्वमिति सुन्दरः ॥
जानात्यस्माकम् अज्ञानेप्यतः कर्ता स्वतोऽखिलम् ॥५॥

ज्येष्ठे मासि प्रभुः अस्मान् आनेष्यति. कापि चिन्ता न कार्या. पत्रं मुहुः प्रेषणीयम्. दोलोत्सवः उत्तरानक्षत्रे अरुणोदयसमये कार्यः. पदवस्त्राणि प्रेषितानि सन्ति. वैष्णवाः मर्यादायां स्थापनीयाः. देश-कालानुसारेण सावधानतया स्थेयम्. श्रीगोविन्दः कापि चिन्तां मा करोतु. श्रीगोकुलनाथः सर्वं कुशलं करिष्यति. [1]श्रीरंगदासप्रोक्तन्तु

सत्यम् इति ज्ञेयम्. स्वया रीत्या प्रभुः तथा उक्तवान्. पुनः प्रश्ने प्रवाहरीत्या उक्तवान् इति. किमधिकम्?

१.श्रीरंगदास. ?

(११)

स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां गिरिधर-श्रीगोविन्द-बालकृष्ण-श्रीवल्लभ-रघुनाथ-यदुनाथ-घनश्याम-[१]मुरलीधर-[२]कल्याणराय-[३]द्वारकेश-[४]दामोदर-[५]गोकुलोत्सव-[६]श्रीकृष्ण-[७]व्रजनाथेषु आशिषः. शम् इह भावत्कं भद्रम् आशास्महे.

सेवा सम्यक् कार्या. वैशाखवदि ३ प्रयागम् आगत्य चतुर्थ्यां पुरमागताः स्मः. स्वः कडापुरं गमिष्यामः. वैशाखसुदि द्वितीयापर्यन्तं श्रीगोकुलनाथ-श्रीमुखारविन्दं द्रक्ष्ये इति मनोरथं स एव अस्मत्प्रभुः पूरयिष्यति.

अंगीकृतजनजनितापराध-कूटक्षमाविनोदोऽस्य ॥
अंगीकृतिश्च नित्या वदन्तु कोऽन्योऽस्य साम्यम् ईयात् ॥

दुहितृषु तदपत्येषु च आशिषः. [८]विश्वनाथादिषु आशिषः. किम् अधिकम्! [९]गोविन्दभट्ट-[१०]वासुदेवभट्ट-[११]एकनाथभट्टादयः मत्संगएव कुशलिनः समायान्ति [१२]गोविन्द[१३]रामचन्द्रावपि [१४]माधवभट्ट[१५]शिवादयोऽपि.

---

(५)१.मुरलीधर (प्रथमपुत्रश्रीगिरिधरात्मजः,१।१, वि.सं.१६३०) २.कल्याणराय (द्वितीयपुत्रश्रीगोविन्दरायात्मजः, २।१,वि.सं.१६२५) ३.द्वारकेश (तृतीयपुत्रश्रीबालकृष्णात्मजः,३।१,वि.सं.१६३०) ४.दामोदर (प्रथमपुत्रश्रीगिरिधरात्मजः,१।२,वि.सं.-१६३२) ५.गोकुलोत्सव (द्वितीयपुत्रश्रीगोविन्दरायात्मजः,२।२,वि.सं.१६३४) ६.श्रीकृष्ण (द्वितीयपुत्रश्रीगोविन्दरायात्मजः,२।३,वि.सं.१६३७) ७.व्रजनाथ (तृतीयपुत्रश्रीबालकृष्णात्मजः,३।२,वि.सं.१६३२) ८.विश्वनाथ. ? ९.गोविन्दभट्ट (श्रीविश्वनाथ-

त्मजश्रीरुक्मिणीभ्रातः) १०.वासुदेवभट्ट. ? ११.एकनाथभट्ट. ? १२.गोविन्द. ? १३.रामचन्द्र. ? १४.माधवभट्ट. ? १५.शिवादयो. ?

(१२)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां गिरिधर-श्रीगोविन्द- बालकृष्णश्रीवल्लभ-रघुनाथ-यदुनाथ-घनश्याम-[१]मुरलीधर-[२]कल्याणराय-[३]गोकुलोत्सव-[४]द्वारकेश्वरादिषु आशिषः. शम् इह, भवदीयं भद्रं सततम् आशास्महे. प्रभुसेवा सम्यक् कर्तव्या. भोगादिविषयको विचारः सावधानतया कर्तव्यः. सेवकाः सर्वे यथा मर्यादां न त्यजन्ति तथा कार्यम्. स्थलविचारं कृत्वा यदुनाथगृहं कारणीयम्. अत्रत्यः समाचारः सर्वः [५]चांपादिमुखात् श्रोतव्यः. तत्रापि [६]वीरवरराजस्य पूर्वापेक्षया भूयसी प्रपत्तिः दृष्टा. [७]रायपुरुषोत्तमस्यापि तथैव प्रपत्तिः दृष्टा वीरवरेण उक्तम् अस्ति. ‘‘मह्यं सदा आज्ञापत्रं गिरिधराः यथा लिखन्ति तथा भवद्भिः लेखनीयम्’’ इति. तेन यदि अत्यावश्यकं कार्यं भवति तदा तथा लेखनीयम्. अपरञ्च [८]गोविन्दभट्टादिभिः मत्संगे समागमनार्थं भूयान् आग्रह कृतम्. उष्णाकाले पाकजः क्लेशो भविष्यतीति तत्र मया बहुधा निषिद्धाः तथापि स्वाग्रहेण [९]वासुदेवः संगे समागच्छति. तत्र वासुदेवमातुः अनुज्ञा न गृहीता अस्तीति मन्मनसि खेदो भवति संकोचः तत्र मम अशक्यतया मया वासुदेवो नीयते. तेन भवद्भिः तन्मातुः समाधानं कार्यम्. भवद्भिः चिन्ता न कार्या. शीघ्रमेव आगमिष्यामः. श्रीगोकुलनाथो अस्माकम् ऐहिकं परलौकिकं च स्वयमेव जातो अस्तीति किम् अस्माकं विचारणीयम् अस्ति? अहोरात्रे सेवकाः अन्तर्बहिश्च सावधानाः स्थापनीयाः. किमधिकम्? फाल्गुन सुदि १. [१०]यमुनादिषु [११]वैकंटादिषु आशिषः. [१२]गोविन्दभट्ट[१३]गणेशभट्टौ [१४]रायपुरुषोत्तमवीरवरराजयोः निकटे सपदि तिष्ठतः.

१.श्रीमुरलीधर (प्रथमपुत्रश्रीगिरिधरात्मजः,१।१, वि.सं.१६३०,) २.श्रीकल्याणराय (द्वितीयपुत्रश्रीगोविन्दरायात्मजः, २।१,वि.सं.१६२५) ३.श्रीगोकुलोत्सव (द्वितीयपुत्रश्रीगोविन्दरायात्मजः,२।२,वि.सं.१६३४) ४.श्रीद्वारकेश (तृतीयपुत्रश्रीबालकृष्णात्मजः,३।१,वि.सं.१६३०) ५.चांपा (वै.वा.२५२।३।२०८) ६.वीरवरराज (राजवीरवरजन्म वि.सं.१५२८) ७.रायपुरुषोत्तम (वै.वा.२५२।१।७५.प्र.१) ८.गोविन्दभट्ट (श्रीविश्वनाथात्मजश्रीरुक्मिणीभ्राताः) ९.वासुदेव १०.यमुना (श्रीप्रभुचरणद्वितीयआत्मजा) ११.वैंकट १२.गोविन्दभट्ट १३.गणेशभट्ट (वादीभपञ्चानना श्रीहरिहरभट्टात्मजः एवं प्रभुचरणात्मजायाः श्रीशोभादेव्याः पतिः) १४.रायपुरुषोत्तम. (आईनि अकबरी. खं.३. २२,पृ.५९८, वै.वा.२५२।१।७९)

(१३)

श्रीगोवर्धनचरणयुगलकमलेषु मदीया नतयो निवेदनीया

किञ्च–

दधौ कम् अपराधं वा हृदये हृदयप्रियः ।।
तद् न जाने यद् निजांगसंगम् अंगीकरोति नः ।।१।।
सखि! वद यादवपुंगवम् अतिचिरविरहाद् अहानि गणयन्ती ।।
प्रणयभुजंगमदष्टा त्वदधरसुधया परं जीवेत् ।।२।।

(१४)

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

भवत्सु सदाशिषः

भवन्तः स्नेहवशतो मच्छरीरव्यवस्थितिम् ।।
जानन्तोऽपि न जानन्ति तत्तूचिततरं हि वः ।।१।।
यथा नर्तयति स्वामी वस्तुतस्त्वपराधीनम् ।।
मां तथाहं तु नृत्यामि भृशं क्लिष्टोऽस्मि तेन हि ।।२।।
त्रपावैराग्यराहित्याद् भवदार्तिजिहीर्षया ।।
पुनस्तत्रागताविच्छां करोमि स्नेहयन्त्रितः ।।३।।
परं तदनुरूपं मच्छरीरं नैव वर्तते ।।
तथापि यदि पञ्चम्यां किञ्चित् स्वास्थ्यं भविष्यति ।।४।।
तदा समागमिष्यामि दुःखं मा कुरुत प्रियाः ।।
सर्वांशे गोकुलाधीशशरणाएव सर्वतः ।।५।।
अतो न चिन्ता कर्तव्या भवद्भिः कृष्णसात्कृतैः ।।

श्रीकृष्णः शरणं नः

(१५)

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

अधिरजनिविनोदभरोदित-श्रमभरोदित-सकलांगशैथिल्योदित-निद्राभरनिर्भर-निष्पीडन-विस्मृतशीतादेरपि उषसि उन्निद्रतोदितप्रिया-प्रणयभरस्मृत-शीतनिरसनपटुतल्पाद् उत्थानसामायिकं तूलकञ्चुकं शीघ्रं प्रेषणीयम्. विलम्बो न कार्यः. यदा कुलालिकुल-मुखगलद् अमन्दसौन्दर्यमकरन्दपानमदानिर्वचनीयाचित-मधुप-वृतानि वज्ररत्नानि तानि कुसुमानि प्रेषितानि. भवद्भिः सर्वैः ग्राह्याणि. भवत्सु सदाशिषः.

(१६)

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

स्वारोहणाक्षमां शाखां किञ्चिद् आस्वाद्य लीलया॥
आरुरोह यथेच्छां ताम् अन्यां स्वारोहणाक्षमाम्॥१॥
कदाचिद् निकटस्थामप्युल्लंघ्य स्वमनोगताम्॥
शाखाम् आरुह्य तत्रत्यं फलं भुंक्ते मनोगतम्॥२॥
कदाचित् सकलाः शाखाः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा यथारुचिः॥
गच्छन् शाखाविशेषस्य फलं भोगार्थमेवहि॥३॥
यस्याः जातेः यथाधर्मः तथालीलाकृतिः यतः॥
अतः तज्जातिनामापि प्रभौ सम्यग् विराजते॥४॥
तद्वदत्रापि यज्जातिधर्मसाम्येन वाऽकृतिः॥
तेनास्याअपि तत्साम्यमिति सर्वं सुनिश्चितम्॥५॥

*आन्दोलयति गोविन्दं गोपी तद्गतमानसा॥
शोभां तनोति रुचिरां मानमानापनोदयोः॥१॥
शून्यं ज्ञानेन तूर्णं मां पूर्णज्ञानेन यः स्वयम्॥
कृतवान् कृपया पूर्णं तस्मै पूर्णात्मने नमः॥२॥

---

*द्वौ श्लोकौतु श्रीगिरिधराणाम्

(१७)

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

(मार्गशिर-वदि १३)

त्वदीयमधुसूक्तिभिर्व्रजजनेशसंगाशया।
मनोजशरपीडिता कथमपि स्थिता मेऽसवः॥
अतःपरम् अये यदि प्रियतमांगसंगो भवेत्।
तदैव मम जीवितं विरहितादशाह्नीकरम्॥१॥

मथुरामल्लानां नतयः

(१८)

श्रीहरिः

|| శ్రీ హరిః || స్వస్తి శ్రీమత్స్వాశీఃపూర్వకస్సందేశః || నా వచ్చుట నిర్ధారం ఎరగపడదు సప్తమి నాడౌనే(నో) || ౮ | ౯ నాడౌనో. అ(*)అక్కూడి (?) బాగా చేశిపోఉనో పోదో దాన్నుండి చేశిపెడితే లెస్స || కులహీలు క్రొత్త కులహీల బట్టలో ఉన్నఇ పచ్చని బట్టలో ధారి (ధరింప) చెయ్యవలె బాగా చెయ్యవలె | చీరలు నాలుగు జోడీలు క్రొత్త గౌరవర్ణపు బట్టలో ఉన్నఇ మనసువచ్చినది పెట్టేది కుసాలు చెయ్యవలె.

|| శ్రీ విఠల దీక్షితానాం పత్రమ్ ||

स्वस्ति श्रीमत्स्वाशी:पूर्वकस्सन्देश:. ना वच्चुट निर्धारं एरगपडदु नाडौने(नु) ८।९ नाडौनो. अ(*)अक्कूडि(?) बागा चेशिपोउनो पोदो दान्नुंडि चेशिपेडिते लेस्स/कुलहीलु क्रोत्त कुलहीलु बट्टलो उन्नइ पच्चनि बट्टलो धारी(धरिंप) चेय्यवले. चीरलु नालुगु जोडीलु क्रोत्र गौरवर्णपु बट्टलो उन्नइ मनसुवच्चिनदि पेट्टेदि. कुसालु चेय्यवले.

स्वस्ति. श्रीमानोंको आशीर्वादके साथ यह सन्देश भेजता हूं. मेरा आना निश्चित नहीं है. सप्तमी अष्टमी या नवमी तक शक्य हो जायेगा. अब तैयारी बराबर हो पायेगी या नहीं (यह) निश्चित नहीं. कुलहीके वस्त्र साथ भेज रहे है नई कुलहके लिये है. इन्हें सुनहरी पीले रंगके वस्त्रोंके साथ धराने है. नई साड़ियोंकी जोड़ीके लिये लाल रंगके वस्त्र है. अथवा यथेच्छ धरा सकते है परन्तु सुंदर लगते होने चाहिये.

sri.Harih. svasti (may all good fortune be bestowed)

Message to sriimaan (the prosperous gentleman) with blessing. My coming (for the occasion) is not known (as of now) confirmedly. Could be on Saptami, Ashtami or, could be on Navami. (****) do not know whether will prepare well and go or not; better if done from thence. Headgears are (placed) in a cloth for new headgears. Should be bedecked with golden yellow attire. Must be done well. Four new pairs of sarees are there in red colour fabric. May be adorned as desired. Must be done admirably.

nirdhAram = confirmedly.

Kulahii = Headger.

**An asterisk mark has been placed where the letter was unclear.

अंग्रेजीमें अनुवाद हैदराबादस्थित प्रो.वेतुरी आनन्दमूर्ति और प्रो.डॉ.एलचुरी मुरलीधरराव जीने किया है.

(१९)

।। श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।।

किं ब्रवाणि ? सखि प्रेष्ठविरहाऽनलदाहिता ।।
जीवामीत्येदेवालं निरपत्रपतास्पदम् ।।१।।
सख्यैतल्लेखनीयं त्वयातियत्नेन राधिकानाथः ।।
किं कृपयिष्यत्यथवा मनोरथैनैव जन्मनिर्वाहः ।।२।।
गोवर्धननाथचरणकमलयोः नतयो निवेदनीयाः ।।

(२०)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

गिरिच्छत्रेण दृक्पातचामरैः स्नेहवारिभिः ॥
केवलं स्वीयताराज्येऽभ्यषिञ्चद् व्रजमीश्वरः ॥१॥
नान्याधीनत्वम् ऐश्वर्याद् दीनताधीनता परम् ॥
तत्रापि त्वत्कृपा हेतुरेवं सर्वं त्वमेव नः ॥२॥
व्रजतरुणीकुचकनकाचलोपमर्दे पुलकितोन्नतता ॥
तनुता तदनुपमर्दे चित्रैषा ते कथा नाथ ॥३॥
उपमा नयने प्राप्तुम् आयान्त्योऽञ्जनपिच्छिलात् ॥
तटात् स्खलन्त्यः श्रीराधे अपतनहासार्णवे कवेः ॥४॥
कलिन्दकन्यकाकूले मूले कनकशाखिनः ॥
अस्ति सर्वेन्द्रियास्वाद्यं ब्रह्मामृतमनावृतम् ॥५॥
प्रायः प्राणैः सहैवायं प्रयास्यति मनोरथः ॥
तेऽत्रपा यदि तत्संगादहमप्यास तादृशः ॥६॥
पशुपराजसुदुर्ललितः सुतो
व्रजवधूजनजीवनमित्यपि ॥
व्रजनिकुञ्जविहारमनाः स्वयम्
प्रसभम् आश्वासनेन हि वञ्चिताः ॥७॥

(२१)

जो कृष्णदास श्रीगोवर्धनमें है सो ये तुमसों कहे, सो करि दीजे. जो हमको बंगाली काढ़ने हैं, और सेवक राखने हैं. और कृष्णदास श्रीगोवर्धनाथजीके अधिकारी हैं, तासों ये करें सो हमको प्रमाण है.

(राजा टोडरमल और राजा बीरबल प्रति पत्र ८४वै.वा.क्र.८४ प्र.२)

(२२)

त्वद्दर्शन विहीनस्य त्वदीयस्य तु जीवितम्।।
व्यर्थमेव यथा नाथ! दुर्भागाया नवं वयः।।
अम्बुदस्य स्वाभावोऽयं समये वारि मुञ्चति।
तथापि चातकः खिन्नो रटत्येव न संशयः।।

(श्रीनाथजी प्रति विज्ञप्ति ८४वै.वा.क्र.८४ प्र.७)

(२३)

भगवत्पदपद्मपरागयुतो नहि युक्ततरं मरणेऽपि तराम्
इतराश्रयणं गजराजगतो नहि रासभमप्युररी कुरुते।।

(गोविंद दूबे प्रति पत्र ८४वै.वा.क्र.३४ प्र.३)

(२४)

सरसि-कुशेशयमप्यास्वादितुमागच्छतोऽलिनो।
यदि कनक-कमलपाने नासीत्तोष: किमन्येन।।

नात्र कुशेशयमानसमर्थयसे यत्प्रियो मधुप:।
तस्मिंस्तुष्टे तोष:दु:स्थे दौ:स्थयं हि निरुपमस्नेहात्।।१।।
यद्यलिरपिनिरुपधिभाव: स्वभावत: समागच्छेत्।
निरवधितोषोऽस्यात्रापि भवेदेवेति किं वाच्यम्।।२।।

(श्रीगुसांईजी प्रति नागजी भट्टको पत्र २५२वै.वा.क्र.१ प्र.४-५)

(२५)

श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यमत्राव्यभिचारिहेतुः।।
तत्रोपयुक्ता नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम् ।।१।।
यः कुर्यात्सुन्दराक्षीणां भवने लास्यनर्तने।।
तासां भावनया नित्यं स हि सर्वफलानुभाक् ।।२।।

(नागजी भट्ट प्रति पत्र २५२वै.ना.क्र.१ प्र.५)

(२६)

जो ये छीतस्वामीकों हमने तुम्हारे पास पठाये हैं सो इनकी टहल तुम आछी भांति सों कीजो.
(छीतस्वामीके लाहौर जानेकी मनाई करने पर..)

जो छीतस्वामी तो इहां ते आय सकत नाहीं है, तासों यह ब्राह्मन गरीब है, जो तुमतें याकी टहल बनि आवे तो इहां ही मनुष्यके हाथ हुंडी कराय पठाय दीजो.

(लाहौरके वैष्णव प्रति पत्र २५२वै.वा.क्र.२४४ प्र.३)

।।इति श्रीविट्ठलनाथानां पत्रम्।।

।श्रीहरिः जयति।

।।श्रीरामनवमीनिर्णयः।।

।।श्रीमद्गोस्वामिश्रीविट्ठलेशप्रभुचरणप्रणीतः।।

।। सप्रतानभागः ।।

श्रीमत्प्रभुचरणप्रथमापत्यश्रीशोभादेवीवंशलब्धजन्मना
विद्वन्मौलिमालोपलालितपदनलिनयुगलविश्वविश्रुतयशःप्रशस्ति-
पटहपरिपूरितदिगन्तरमोहमयीस्थबृहन्मन्दिरसिंहा-
सनासीनासीमसद्गुणावलीविभ्राजमान-
गोस्वामिगणाग्रगण्यविद्वद्वर-
श्रीमद्गोस्वामिश्रीगोकुलनाथमहाराजचरण-
करुणातरुणार्णवविहारिणा
कीर्तिवल्ली-
पण्डितभट्टश्रीबलभद्रशर्म-
कवि-काव्यरत्नाकर-कविचूडामणि-शुद्धाद्वैतभूषण-
कविरत्न-महामहोपदेशक-विद्यालंकार-वेदान्तविद्यानिधिना
विनिर्मितयाबालप्रबोधिन्याख्यया व्याख्यया समनुगतः.

मोहमय्यां
निर्णयसागरमुद्रणालये
सम्मुद्य
बृहन्मन्दिरविद्यालयात्
प्रकाशितः
संवत् १९९४
मूल्यं १ रूप्यम्

पुस्तकलब्धिस्थानम्
श्रीबालकृष्ण पुस्तकालय
बड़ामन्दिर, भूलेश्वर,
मुम्बई.

Published by Bhatt Balbhadra Sharma, Bada
Mandir, Bhuleshwar, Bombay 2

Printed by Ramchandra Yesu Shedge,
Nirnaya sagar press
26-28, Kobhat street,
Bombay 2

द्वितीयम्
श्रीमद्वल्लभाधीश विद्यामन्दिर
विश्रामघाट, सतीबुर्ज
मथुरा.

॥ श्रीहरिः जयति ॥

॥ प्रेक्षावदुपच्छन्दनम् ॥

यत्तद्वर्षचतुश्शतादपि परेणाऽनेहसा न स्थितं
व्याख्यानं प्रतिवर्णवर्णितगुणोदारं श्रमोत्सादनम् ॥
यस्याऽभावतएव रामनवमीद्वैविध्यमासीज्जनेत-
च्छ्रीवल्लभनन्दनांघ्रिरजसा सिद्धं समास्वाद्यताम् ॥

॥ अभ्यर्थना ॥

भवतः श्रीमदाचार्या भवदीयोऽहमाश्रये ॥
मदीयोऽयं मदीयोऽयं विचारयत मामिति ॥१॥
अज्ञानं विनिवर्ततां विगलताद् मिथ्याभिमानोदयः
सद्विद्याभ्यसनं जनस्य भवतात् प्रौढं च तेजस्वि च ॥
विद्वेषः प्रविलीयतां सुमधुरा सर्वत्र सञ्जायतां
प्रीतिर्वस्तु च सत्यमेव कुरुतान्नाऽसत्यमन्तःपदम् ॥२॥
श्रीमत्पादसरोजरेणुषु भवत्पुत्रेन्दुपादाब्जयोः
श्रीगोपीजनवल्लभे च विततः सेवानुरागोदयः ॥
अस्माकं वितनोतु चेतसि मुदं कामप्यमन्दां सदा
सिद्धान्ताब्धिसुधा सुधाब्धिमधुरास्वादानुवादा च वः ॥३॥

॥ श्रीहरिः जयति ॥

॥ उपस्थानम् ॥

श्रीमद्वल्लभवंशभूषण बुधालंकार गोब्राह्मण-
प्राणत्राणपरायण प्रतिजनानल्पप्रशंसास्पद ॥
श्रीमद्गोकुलनाथ सज्जनगुरो गोस्वामिचूडामणे
श्रीमान्[1] मोहमयीमुखेन्दुतिलकः किञ्चाऽसि लोकोत्तरः ॥१॥

विद्याभ्यासेऽवसन्ने तमसि विसृमरे व्याप्नुवाने[2] समन्ता-
त्सच्चारित्र्येऽपवृत्ते स्वमतमतिमतां ह्रासएवोपजाते ॥
ग्रन्थानां विप्रलोपे प्रतिदिशमुदिते सम्प्रदायोपहासे
स्तव्यो भव्योदयोऽसौ भुवि भवति भवद्विक्रमात्पुष्टिमार्गः ॥२॥

विद्वज्जनाय विहितः परमादरेण
भूरिव्ययेन च निजस्य करावलम्बः ॥
अध्यापिताश्च पटवो बटवो विधाय
विद्यालयं निजगृहे परिपोषिताश्च॥३॥

विद्यार्थिभिर्बुधगणैश्च विरोचमानाः
नानाजनैश्च परितः परिचर्य्यमाणाः ॥
विद्याविनोदमसकृत्परिशीलयन्तः सन्तः
सतामनुसरन्ति रसं भवन्तः॥४॥

स्नेहार्द्राः स्वजने सदा स्मितसुधाधाराभिषिक्तानना
दीनानामनुकम्पया परमया दुःखद्रुमद्रोहिणः ॥

१.विशेषणम् इदं न विशेष्यम्.

२.चानशि कर्मव्यतिहारे वा सिद्धम्.

स्वे धर्माध्वनि निश्चलस्थितिजुषः संस्थापयन्तः प्रजाः
सिञ्चन्तो धनराशिमर्थिषु सतां सेव्या भवन्तः क्षितौ।।५।।

स्वमार्गीयग्रन्थप्रकटनसमुत्साहरसिकाः
सभासु व्याख्यानामृतरसमुचो दिव्यजलदाः।।
नवीनग्रन्थानां प्रणयनविधौ चापि मुदिताः
कथं तावद्वर्ण्याः प्रमितमतिभिर्वो गुणगणाः।।६।।

कलिकल्मषोपहतये कटिबद्धा
निजधर्मकर्मपरिरक्षणदक्षाः।।
दधतो दयां निजजनेषु विशिष्टां
भुवि भूरि भान्ति विभु गोकुलनाथाः।।७।।

सकलगुणिगणानां को विशेषावलोकी
भवति भुवि भवादृक् कः प्रसन्नश्च तेषु।।
अशनवसनवित्तं कश्च हृष्यन् प्रदत्ते
सततपरिवृतस्तैर्नास्ति धन्यस्त्वदन्यः।।८।।

भूयांसो विबुधाः सभासु शतशः संख्यातिगाः सत्कृताः
श्रीमद्भागवतस्य चापि शतकेष्वष्टोत्तरेष्वर्चिताः।।
त्रातं यच्च वसुव्ययेन बहुशो नश्यत्सहस्रं गवां
तां श्रीगोकुलनाथकीर्तिमतुलां गायन्ति देवांगनाः।।९।।

नेदं नभः क्षितिरियं न च कौमुदीयं
सोऽयं शनैर्दलितमौक्तिकचूर्णयोगः।।
अत्रोन्मिषत्फलदलप्रसवप्रताना
ज्योतिर्गणैरुदयते तव कीर्तिवल्ली।।१०।।

आचान्तेव चिरं चमत्कृतिरियं चन्द्रस्य संचारिणी
गंगातुंगतरंगसंगसुषमासर्वस्वमाश्लेषि च ।।
वीचीवीथिषु विभ्रमैर्विलसितं क्षुब्धस्य दुग्धाम्बुधेः
कीर्तिः सम्प्रति यस्य नन्दनवने सौरभ्यमभ्यस्यति ।।११।।

मया पुरुपरिश्रमात्प्रणिहितेन वै चेतसा
व्यधायि सरलाशयोऽयममलो निबन्धोऽद्भुतः ।।
चिरस्य समपेक्षितः स तव पाणिपद्मद्वये
प्रहृष्य समुपस्थितः प्रियमरालबालायताम् ।।१२।।

॥ श्रीहरिः जयति ॥

॥ प्रस्तावना ॥

श्रीमद्भगवद्वदनवागीशावतार श्रीमद्वल्लभाचार्य श्रीमहाप्रभुचरण प्रवर्तित एवम् उनके पुत्ररत्न भगवदवतार श्रीगोस्वामी श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण प्रचारित सर्वसिद्धान्त-मूर्धाभिषिक्त पुष्टिमार्गसम्प्रदायके मूलग्रन्थ महाप्रौढि-परिष्कृत महागम्भीर अप्रतिम अद्वितीय हैं. केवल प्रभुकृपैकवेद्य हैं, इसमें सन्देह नहीं.

श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरणप्रणीत श्रीरामनवमीनिर्णय वैसा ही अद्भुत ग्रन्थ है. अतिसंक्षिप्त होनेपर भी सर्वांगसम्पूर्ण है, महागम्भीर होनेपर भी सुस्पष्ट है. अत्यन्त अपेक्षित उपयुक्त अव्यर्थ प्रयोजनपूर्ण पदपदावलीसे समलंकृत है.

इसकी पदपदावली अनर्घ्य रत्नकी भांति परम प्रकाशशाली, नाना प्रकारके दिव्यभावोंकी विचित्र किरणावलीसे मर्मज्ञ प्रेक्षकको मुग्ध बना देती है, उसके हृदयको हर लेती है, और उसे विस्मयरसके अपार सागरमें हिलोरे लिवा देती है.

इस निणर्यके भावको ले कर गोस्वामी श्रीव्रजरायजीने उत्सव-कल्पलतामें और गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने उत्सवप्रतानमें श्रीरामनवमीका निर्णय लिखा है.

उत्सवप्रतानमें इतनी विशेषता है कि श्रीमत्प्रभुचरणने जिन पूर्वांग-उत्तरांगको मनमें रख कर निर्णय लिखा है, श्रीपुरुषोत्तमजीने उन्हें स्फुट कर दिया है. और पूर्वांग-उत्तरांगके मध्यमें पूर्वपक्ष और खण्डन के अंशको छोड़ कर श्रीमत्प्रभुचरणकृत निर्णयके सिद्धान्तांशकी पंक्तियां भी लिखी हैं.

दोनों ही ग्रन्थ अपने ढंगके निराले और श्रीमत्प्रभुचरणकृत निर्णयके

भावार्थको स्पष्ट-स्फुट लिखनेवाले हैं, किन्तु उनमें अक्षरार्थ नहीं है.

कभी-कभी विद्वान ग्रन्थका भावार्थ तो समझा देते हैं पर अक्षरार्थ नहीं लिखते, कारण: भविष्यमें शिष्य कुशाग्रबुद्धि हों; उहापोहकी शक्ति आवे; ग्रन्थयोजनाकी युक्तिका उदय हो; मतिमें सूक्ष्मता आवे; गूढ़से गूढ़, गहनसे गहन गम्भीर ग्रन्थके तल-स्पर्शकी योग्यता आवे. यदि पूर्वाचार्योंके सभी ग्रन्थ अति सरल रीतिसे उन्हें सुव्याख्यात मिल जायें तो उनकी मति अलस हो जाय और उक्त अपेक्षित गुणोंका सम्पादन न हो.

आज भी प्राचीन परिपाटीके प्रौढ पण्डितोंकी अध्यापन शैली वैसी ही है. वे शिष्यके लिये भावार्थका निरूपण कर देते हैं. तदनुसार शिष्य स्वयं ही फक्किका लगा लिया करते हैं. यदि शिष्यमें वैसी पटुता न हुई तो कृपया फिर अक्षरार्थ भी बता देते हैं.

यही कारण है कि उत्सवकल्पलता और उत्सवप्रतान में श्रीमत्प्रभुचरणकृत श्रीरामनवमीनिर्णयका पूर्ण भावार्थ तो खोल दिया है पर तदनुसार ग्रन्थ लापनका कार्य भावी विद्वानोंके लिये छोड़ दिया है.

खेद है कि सम्प्रदायमें अध्ययन-अध्यापनकी असह्य न्यूनता हो गई. पूर्वग्रन्थ-प्रदर्शित भावको हृदयारूढ़ कर मूल ग्रन्थ लगानेकी शक्ति बहुत कम लोगोंमें रह गई.

आखिर सम्प्रदायमें वाद-विवाद तनातनी पक्षपात दलबन्दी हो गई, कलह जग गया. जुदी-जुदी गद्दीयोंमें जुदी-जुदी श्रीरामनवमी मानी जाने लगी. सच्चे ग्रन्थज्ञ विद्वान मूर्ख साबित किये जाने लगे और मूर्खमण्डली पण्डित बन बैठनेकी चेष्टा करने लगी.

भारतमार्तण्ड पण्डित श्रीगट्टूलालजी महोदय पुष्टि-सम्प्रदायके और समस्त विश्वके माने हुए अद्वितीय अद्भुत विद्वान थे. उननें सम्प्रदायकी

बड़ी उत्तमोत्तम सेवायें की. वार्षिक व्रतोत्सवोंकी टिप्पणी प्रकट कर भगवत्सेवांग व्रतोत्सव यथा समय होनेकी व्यवस्था की. आवश्यक और प्रौढ ग्रन्थोंका निर्माण किया. विविध वाद-विवादोंमें शास्त्रार्थ कर वादिवदन विध्वंसन किया. उपदेश और पर्यटन से सम्प्रदायका प्रचार किया.

विद्वानके परिश्रम और वैदुष्य को विद्वान ही जानते हैं, अन्य नहीं. उनको ग्रन्थ लगा नहीं, पण्डितजीके बताये हुए व्रतोत्सवोंमें अडंगा लगा दिया. पण्डितजीके कथनको गलत कह कर मूर्ख जनतामें कोलाहल मचाया, ठठ्ठा उड़ाया.

पण्डितजीने अपने कथनकी यथार्थताके लिये व्याख्यान दिये, ग्रन्थोंका उत्पादन किया. हिन्दी-गुजरातीमें ग्रन्थके भाव-तात्पर्यका अनुवाद प्रकाशित किया.

विरोधीपक्षने भी अपने पक्षकी रक्षाके लिये यथाशक्ति ये सभी कार्य किये.

पण्डितजीके प्रौढ और सत्य पक्ष को लोग निर्बल तो नहीं पना सके, पण्डितजीका ही कथन प्रबल रहा. श्रीनाथद्वार आदि-आदि प्रधान-प्रधान स्थानोंमें अद्यापि वही कथन सम्मान्य है. तथापि सत्य पक्षके मुकाबले एक दूसरा असत्य पक्ष ठड़ा हो गया. समय-समयपर वाद-विवाद झगड़ा होता रहा. सामान्य जनता भ्रममें पड़ गई कि कौनका कथन सत्य है, किसका कहना मानें!

यद्यपि उभय पक्षने अपने-अपने पक्षकी यथार्थता बतानेके लिये हिन्दी-गुजराती अनुवाद किया, छपाया, पर उसका फल कुछ भी नहीं हुआ. भ्रम ही फैलता रहा, सत्य समझमें नहीं आया, वाद-विवादकी इतिश्री नहीं हुई.

सामान्य जनताके लिये हिन्दी-गुजरातीमें अनुवाद हुआ. उसे विषय

समझनेकी अनुवाद मूल अक्षरोंसे मिलता-जुलता है या नहीं इस तुलना करनेकी अनुवाद सिर्फ विभक्तियोंका ही है या उसमें कुछ ग्रन्थके भावका भी आभास है, कुछ तत्त्व है. इस तथ्यके परिचयकी कोई भी योग्यता नहीं, अधिकार नहीं.

जिन्हें विषय समझनेकी योग्यता है-समझानेसे विषय समझ सकते हैं-ग्रन्थके अक्षर इसी अर्थके अनुकूल हैं, दूसरा अर्थ उनका नहीं होता इस बातका पता है-उनका गाड़ा हिन्दी-गुजरातीसे नहीं चलता. हिन्दी-गुजराती-संस्कृतके गम्भीर और गहन विषयोंको सरल रीतिसे नहीं समझ सकती, उनके परितोषके लिये ग्रन्थकी प्रत्यक्षर योजना आवश्यक है. अति सरल अतिविशद अतिस्वच्छ अतिस्पष्ट अतिपरिस्फुट सुसम्बद्ध सुसंगत बालप्रबोधिनी संस्कृत टीकाकी अपेक्षा है.

यदि भारतमार्तण्ड पण्डित श्रीगट्टुलालाजी महोदय या उनके पट्टशिष्य और मैरे अन्यतम गुरु पण्डितवर्य श्रीनन्दकिशोरजी शास्त्रीजी श्रीमत्प्रभुचरणकृत श्रारामनवमीनिर्णय तथा श्रीपुरुषोत्तमजीकृत श्रीरामनवमीप्रतान आदि विवादास्पद ग्रन्थोंकी वैसी संस्कृत व्याख्या लिख जाते तो अवश्य ही भविष्यके लिये विवाद निवृत्त हो जाता.

क्योंकि उक्त ग्रन्थ अपनी प्रौढिके कारण सुकुमार बुद्धिके बाल-विद्वानोंको स्वयं समझमें नहीं आते. और उनके बुद्धिदोषसे ही उन्हें अर्थान्तरका भ्रम कर देते हैं. वास्तवमें उनमें अर्थान्तरकी भ्रान्ति करनेवाली कोई भी बात नहीं. वैसी व्याख्या मिल जानेपर भ्रम उत्पन्न नहीं होता, सब सत्यार्थ समझ जाते, विवाद निवृत्त हो जाता.

मुझे प्रभुप्रेरणा हुई कि श्रीरामनवमीनिर्णय और श्रीरामनवमीप्रतान की ऐसी टीका लिखू जिसमें प्रत्येक पदका भावार्थ परिस्फुटरीतिसे वर्णित हो, प्रत्येक पदका पदकृत्य लिखा हो संगति और सम्बन्ध बताया हो, सरलता हो, उपपादनकी विमलता और विपुलता हो, विशदता हो. जिससे आगेके लिये मतभेद वाद-विवाद शान्त हो जाए,

सन्देह निवृत्त हो जाए, भ्रम पैदा होनेकी बात न रहे.

श्रीमदाचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे और श्रीमत्प्रभुचरणकी दयालुतासे उन दोनों ग्रन्थोंकी वैसी टीका अब बन गई है. और निर्मत्सर सज्जन विद्वज्जनोंकी सेवामें प्रस्तुत है.

मुझ अबोध बालकपर अपना सम्बन्धी बालक जान कर श्रीमदाचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीकी और श्रीमत्प्रभुचरण श्रीगुसांईजीकी ममत्व पूर्ण कृपा हुई और मुझे श्रीमत्प्रभुचरणकी वाणीके भावार्थसहित साक्षात्कारयुक्त दर्शन हुए इस अद्भुत आनन्द और सौभाग्य से मैं कृतकृत्य हुआ हूं - धन्यातिधन्य हूं, और आश्चर्यरससे छक गया हूं.

श्रीमदाचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीकी तथा परमदयालु श्रीगुसांईजी श्रीमत्प्रभुचरणकी कृपासे ही यह महाप्रसाद मिला है. निश्चय है इससे सबके चित्त शुद्ध होंगे, कलह निवृत्त होगा, और सर्वत्र भगवदानन्दका प्रादुर्भाव होगा. तथास्तु. तथास्तु.

श्रीमदाचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीकी तथा परमदयालु श्रीगुसांईजी श्रीमत्प्रभुचरणकी पुनः कृपा होनेपर दोलोत्सवप्रतान आदि विवादास्पद स्थलोंकी सुबोध सरल व्याख्या ले कर सम्प्रदायकी सेवामें उपस्थित होनेकी शुभाशा है. तथास्तु. तथास्तु.

निवासस्थान:
श्रीमद्वल्लभाधीशविद्यामन्दिर,
दासानुदास,
श्रीनाथजीका मन्दिर,
विश्रान्तघाट, सतीबुर्ज,
मथुरा.

श्रीमत्प्रभुचरणकी
दौहित्र-सन्तान

भट्टश्रीबलभद्रशर्मा

॥ निर्णय-सारांश ॥

चैत्रसुदी नवमी श्रीरामनवमी कहाती है. उस दिन व्रतपूर्वक श्रीराम-जन्मोत्सव मनाना चाहिये. यदि अष्टमीके उपरान्त मध्यान्हमें नवमी हो तो उस दिन वैष्णवोंको व्रत उत्सव कुछ भी नहीं करना चहिये. दूसरे दिन शुद्ध नवमीमें व्रत उत्सव मनाना चाहिये.

किन्तु यदि अष्टमीके दिन नवमीका क्षय हो गया हो-दूसरे दिन शुद्ध नवमीका अभाव हो-दशमी ही हो-तब तो पहले दिन ही-अष्टमी उपरांत नवमीमें ही-अष्टमी विद्धा नवमीमें ही व्रत और उत्सव वैष्णव भी करें.

दशमीका क्षय होगा तब अष्टमीके दिन मध्यान्हमें और नवमीके दिन सूर्योदयके समय दोनों दिन नवमी मिलेगी उस समय अष्टमीके दिनकी नवमीमें ही व्रत और उत्सव मनाने चाहियें. नवमीके दिनकी नवमीमें नहीं.

यदि नवमीका क्षय हो कर दशमी दो हों तो पहली दशमीमें व्रत उत्सव कभी न करने चाहियें. किन्तु अष्टमीके दिनकी नवमीमें ही-विद्धा नवमीमें ही व्रत और उत्सव मनाने चाहियें.

यदि नवमी दो हों तो पहली नवमीमें व्रत उत्सव होंगे, दूसरीमें नहीं.

॥ मतभेद ॥

मतभेद केवल इतनी बातपर है कि दशमीके क्षय-समयमें विद्धा और शुद्धा दोनों नवमी मिलती हैं. एक पक्ष कहता है कि श्रीमत्प्रभुचरणकृत निर्णय और प्रतान के अनुसार विद्धामें व्रतोत्सव होने चाहियें. एक पक्ष कहता है कि श्रीमत्प्रभुचरणकृत निर्णयका और प्रतानका आशय, शुद्धा नवमीमें व्रतोत्सव करनेके विषयमें है. विद्धा नवमीके दिन व्रतोत्सव करनेके विषयमें नहीं है.

।।विवादकी जड़।।

विवादका मूल कारण अज्ञान ही है. अज्ञान बिना विवाद नहीं होता. श्रीमत्प्रभुचरणकृत निर्णय और प्रतान एक पक्षको लगा नहीं, औंधा समझमें आया. उसने विवाद खड़ा कर दिया.

भारतमार्तण्ड पण्डित श्रीगट्टूलालाजी महोदयने १९५१-५२ संवत्में एक उत्तम मार्मिक भाषा लेख लिख कर समझाया कि दशमी क्षयमें श्रीरामनवमीव्रत विद्धा नवमीमें ही होना शास्त्रसम्मत और श्रीमत्प्रभुचरणकृत निर्णयानुकूल है. उक्त कथनकी परिपुष्टिके लिये आपने उत्सवकल्पलता उत्सवप्रतान निर्भयरामजीकृत उत्सवनिर्णय श्रीजीवनजीमहाराजकृत व्रजभाषामय उत्सवनिर्णय आदिके प्रमाण उपस्थित किये. उपसंहारमें यह भी लिखा कि ''अभी तो इतने लेखसूं ही सर्व सिद्ध होय है. विशेष शास्त्रार्थको काम पड़ेगो तो रामार्चनचन्द्रिका आदि अनेक ग्रन्थनुके उपन्यासपूर्वक सम्पूर्ण प्रतानभागको व्याख्यान लिखौ जायगो''.

भारतमार्तण्डके सन्मुख विशेष शास्त्रार्थका अवसर उपस्थित करनेकी किसीकी ताव नहीं पड़ी. इसलिए प्रतानभागकी व्याख्या नहीं बनी. और अतएव श्रीमत्प्रभुचरणकृत श्रीरामनवमीनिर्णय भी अव्याख्यात रह गया. क्योंकि प्रतानभागकी व्याख्याके अवसरमें उपजीव्य निर्णयकी व्याख्या हो जाना स्वतः सिद्ध ही था, आवश्यक ही था.

उत्सवकल्पलता आदिकी सहायतासे मूलनिर्णयके तात्पर्यका अवधारण सुलभ था और अक्षरार्थ भी तदनुसार समझ लेना सर्वथा अशक्य नहीं था. किन्तु दुराग्रहवश तथा उपयुक्त वैदुष्यके अभावसे यह कुछ भी नहीं हुआ. और भारतमार्तण्डके परलोक सिधारनेपर दुराग्रही लोग उलटे इस बातपर डट कर विवादको बढ़ाने लगे कि उत्सवकल्पलता आदिकी दुहाईसे हम श्रीमत्प्रभुचरणकृत श्रीरामनवमीके निर्णयका उक्त अभिप्राय माननेको तैयार नहीं है. या तो मूल निर्णयके विरोधमें उत्सव कल्पलता आदिकी प्रामाणिकता ही नहीं रहती. किंवा उनकी

योजना मूल निर्णयके अनुसार करनी होगी. यह बात नहीं होनेकी कि उत्सवकल्पलता आदिके अनुसार मूल निर्णयका अर्थ गुम-सुम मान लिया जाय.

मूल निर्णयमें ऐसी कौनसी बात है जिससे इस दुराग्रहकी उपस्थिति हुई? वह बात यह कि मूल निर्णयके पूर्वपक्ष ग्रन्थमें यह कहा गया है कि ''विद्धा नवमीमें व्रत करनेका निषेध, जब दशमी वृद्धि हुई हो, यानि दो दशमी हुई हों, तब माननेके लिये है. न कि दशमीके क्षयमें. दशमी क्षयमें तो विद्धा ही में व्रत करना चाहिये.

इसपर यह भ्रम हुआ कि जब दो दिन सूर्योदयमें दशमी होगी तब नवमी, नवमीके दिन, सूर्योदयमें ही बैठेगी. अष्टमीके दिन नवमी आयेगी ही नहीं. तब विद्धा निषेद्ध कैसा? विद्धा हो तो विद्धा निषेद्ध. दो दिन दशमी होनेके अवसरपर विद्धा नवमी होगी ही नहीं. इसलिये विद्धा निषेद्धकी बात असम्भव है. तब 'दशमीवृद्धि' शब्दका अर्थ दो दशमी नहीं किन्तु वृद्धिगामिनी. अर्थात् द्वादशी त्रयोदशी आदि कोई तिथि दो होनेवाली हो तब पूर्वकी नवमी दशमी आदि तिथियां पूर्व तिथियोंकी अपेक्षा वृद्धि पाती हैं. अतः नवमीके दिन नवमी उपरान्त दशमी और दशमीके दिनकी दशमी, दशमी वृद्धि होगी. इस स्थितिमें अष्टमीके उपरान्त नवमी आ जानेसे विद्धा नवमी होगी. इस विद्धाका व्रतमें निषेद्ध है. न कि दशमीक्षयमें विद्धा नवमीका निषेद्ध है. यह पूर्वपक्ष ग्रन्थका आशय है.

वास्तवमें यह बात नहीं है. दो दशमी हों तब विद्धामें व्रत नहीं करना चाहिये. विद्धाको छोड़ कर पहली दशमीमें व्रत करना चाहिये. इस पूर्वपक्षके कथनका यह अभिप्राय है कि नवमीका क्षय हो और दशमी दो हों तब नवमी विद्धा होगी. उसका त्याग कर प्रथम दशमीमें व्रत करना चाहिये.

इस बातको भ्रांत लोग यों कह कर टाल देते हैं कि दो-चार

दिनके अन्तरसे वृद्धि-क्षय देखे गये हैं. साथ ही साथ तिथिके वृद्धि-क्षय नहीं होते.

इसीप्रकार मूल निर्णयके उत्तरपक्षमें भी साथ ही साथ तिथिके वृद्धि-क्षयका प्रसंग आया है. वहां लिखा है कि दशमीका क्षय हो और नवमी दो हों तब पहली नवमीमें व्रत करना चाहिये इत्यादि.

वहां भी यही तकरार है कि तिथिके वृद्धि-क्षय दो-चार दिनके अन्तरसे होते हैं, साथ ही साथ नहीं. इसलिये नवमी वृद्धिका अर्थ पूर्ववत् वृद्धिगामिनी नवमी यानि अष्टमी उपरान्त नवमी और औदयिक नवमी यही होगा तब विद्धाका त्याग कर औदयिक शुद्ध नवमीमें जिसमें दशमीका क्षय हो रहा है उस नवमीमें व्रत करना चाहिये, यह सिद्ध होता है. उत्सव प्रतानमें भी यही भ्रम हुआ है.

ये सब बातें महाभ्रमपूर्ण हैं. वृद्धिगामिनी तिथियोंका प्रवेश रात्रिमें होता है, मध्यान्हमें या इससे पूर्वमें नहीं, देख लीजिये पञ्चांगोंमें. मध्यान्हमें या उसके पूर्व तो तिथिप्रवेश तब होगा जब दो-चार दिनमें किसी तिथिका क्षय होनेवाला होगा.

दुराग्रही मध्यान्हमें-कर्मकालमें तिथिप्रवेश भी मानते जाते हैं, और उसे वृद्धिगामिनी भी बताते हैं. ये तो क्षयगामिनीको वृद्धिगामिनी बताना हुआ. कहिये कितनी भारी भूल है!

तिथिके वृद्धि-क्षय दो-चार दिनके अन्तरसे या इससे भी अधिक दिनोंके अन्तरसे प्रायः होते हैं. यह ठीक है, किन्तु कभी-कभी साथ-साथ भी होते देखे गये हैं. देखिये अभी हाल ही में शालिवाहन शक १८५३ तदनुसार विक्रम संवत् १९८७-१९८८के व्रज ज्येष्ठ कृष्ण-गुजराती वैशाख कृष्णमें चतुर्थीका क्षय हुआ है और पंचमी दो हुई हैं. मंगलवार तृतीया १घटी ३पल थी. उपरान्त ५८घटी २५पल चतुर्थी वर्ती आर उसका क्षय हुआ. फिर पंचमीको प्रवेश हो कर पंचमीके

दिन पंचमी ६०घड़ी रही और दूसरे दिन सूर्योदयमें १४पल पंचमी रही. देखिये नारायण चिन्तामणी शास्त्री पुरंदरे वसईकरके बनाये हुये निर्णयसागरी पंचांगको, सब भ्रम दूर हो जायेंगे.

तिथिके वृद्धि-क्षय सूर्य-चन्द्रके गत्यन्तरसे खास सम्बन्ध रखते हैं. न कि पूर्व तिथियोंके वृद्धि-ह्रास गामित्वसे.

इस विषयकी विशेष जिज्ञासाके लिये हमारी रचित बालप्रबोधिनी टीका देखनी चाहिये. प्रबोधिनी निर्णयका प्रतान और सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिष शास्त्रके सिद्धान्त ग्रंथ देखने चहियें.

यह टीका पक्षपातरहित है. केवल मूल ग्रंथके अन्तस्थल-निहित भावको ही प्रकट करना इसका ध्येय है. राग-द्वेषरहित है. किन्तु तथ्यार्थ सबकी समझमें आ जाय, भ्रम निवृत्त हो जाये यही इसका अभीष्ट है. औ यही इसकी चेष्टा है.

हाथ कंगनको आरसी क्या? टीकाके यथार्थ अवलोकनसे पक्षपात या निष्पक्षपात की बात स्वयं ही समझमें आ जायेगी. हम तो सत्यके पक्षपाती और अनुरागी हैं. हमें झगड़ोंसे कोई मतलब नहीं. शुभम्.

विनीत
टीकाकार

॥श्रीहरिः जयति॥

॥ श्रीमद्गोस्वामिश्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणैः प्रणीतः ॥

॥ श्रीरामनवमीनिर्णयः ॥

श्रीकृष्णाय नमः. अगस्त्यसंहितायां "चैत्रशुद्धातु नवमी पुनर्वसुयुता यदि सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत्" (अग.सं.२८।२).

रामार्चनचन्द्रिकायां "विद्धा चेद् ऋक्षसंयुक्ता व्रतं तत्र कथं भवेद् विद्धानिषेधश्रवणाद् नवमी च इति वाक्यतः" (रामार्चनचन्द्रिकापटल५).

अत्र निर्णयम् आह :

नवमी च अष्टमी विद्धा त्याज्या विष्णुपरायणैः॥
उपोषणं नवम्यां वै दशम्यामेव पारणम्॥
(अग.सं.२८।१३)

ननु व्रतस्य पारणान्तत्वबोधकप्रमाणेनैव व्रतविधिरन्यथानुपपत्त्या च एकादशीपूर्वदिनप्राप्तेः "दशम्यामेव" इतिवचनवैयर्थ्यं स्याद् अतः नियमविधिः अयम्. तेन नवमी सत्त्वेऽपि दशमीक्षये विद्धैव कार्या इति सिद्धम्. नच निषेधवागनुरोधेन नैवं वाच्यम् इति वाच्यम्, दशमीवृद्धिविषयत्वात् तस्याः इति चेद् मैवम्; निषेधनियमवद् उक्तनियमविधिरपि वैष्णवमात्रविषयको अथवा साधारणजनविषयकः. उपक्रमानुरोधाद् आद्यएव अभिमतः चेत् तदा "उपोषणं नवम्याम्" इति व्यर्थम् उत्पत्तिवाक्यत्वाभावाद्, विद्धानिषेधविधिम् आरभ्य अधीतत्वात्, सामान्यप्राप्तावेवएव विशेषविधिनिषेधयोः सम्भवात्. तथाच, विद्धानिषेधे सति उत्तरदिनकर्तव्यत्वे प्राप्ते सति यत्पुनः नवम्युपोषणविधानं तत्रापि निश्चयवाचकाव्ययकथनेन नियमकथनपूर्वकं

तेन दशम्यवृद्धौअपि नवमीवृद्धौ तस्यामेव उपोषणं कार्यं नवम्यवृद्धौतु विद्धैव उपपोष्या इति अवसीयते. अन्यथा दशमीपारणनियमविधिनैव नवम्युपोषणस्यापि प्राप्तेः पुनः तदुक्तिः व्यर्था स्यात्. यद्यपि एवं पारणविधेः वैयर्थ्यम् आयाति तथापि उपोषणविधेः मुख्यत्वात् पारणविधिवाक्यस्य अमुख्यत्वेन एकादशीपूर्वदिनपरत्वं कल्प्यते.

इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितः
श्रीरामनवमीनिर्णयः
सम्पूर्णः

।। श्रीहरिः जयति ।।

।। दशदिगन्तविजयिगोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमविरचितः ।।

।। श्रीरामनवमीप्रतानः ।।

चैत्रशुद्धनवम्यां श्रीरामोत्सवः. तदुक्तं हेमाद्रौ अगस्त्यसंहितायां

> ''चैत्रे नवम्यां प्राक्पक्षे दिवा पुण्ये पुनर्वसौ
> उदये गुरुगौरांश्वोः स्वोचस्थे ग्रहपञ्चके।।
> मेषे पूषणि संप्राप्ते लग्ने कर्कटकाह्वये,
> आविरासीत् स्वकलया कौशल्यायां परः पुमान्।।
> तस्मिन् दिने तु कर्तव्यम् उपवासव्रतं सदा,
> केवलापि सदोपोष्या नवमीशब्दसंग्रहात्।।''

इति. अन्यच्च तत्रैव

> ''चैत्रशुक्लातु नवमी पुनर्वसुयुता यदि।।
> सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेद् इति.

अत्र 'सैव'इति विशिष्टपरामर्शाद् मध्याह्ने पुनर्वसुयोगे महापुण्यतमत्वम्. मध्याह्नाद् अन्यत्र योगे पुण्यतमत्वम्. अयोगे(तु) पुण्यत्वमात्रम्

इति दिनकरोद्द्योतः. अत्र "**अह्नो मध्ये वामनो रामरामौ**" ( ) इति पुराणसमुच्चयात् कर्कलग्नोक्तेश्च मध्याह्नः प्रादुर्भावकालः इति सैव च पूजाकालः इति तद्व्यापिनी तिथिः सर्वैः कार्या इति बहवः. तत्त्वन्तु वैष्णवभिन्नैरेव एवं कार्या. वैष्णवैस्तु पारणदिवसे दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव इति.

"नवमी च अष्टमीविद्धा त्याज्या विष्णुपरायणैः॥
उपोषणं नवम्यां वै दशम्यामेव पारणम्॥"

(अग.संहि.२८।१३)

इति माधवधृतवचनात्. क्वचित्तु "**दशम्यां पारणं भवेद्**" इति पाठः. नच इदं दिनद्वये मध्याह्नव्याप्त्यव्याप्तिसमैकदेशव्याप्तिविषयम् इति वाच्यम्, तादृशस्थले द्वितीयदिने दशम्याः अनुक्तसिद्धत्वेन पारणविधिवैयर्थ्यापातात्. एतेनैव च दिनद्वये मध्याह्ने पुनर्वसुयोगायोगपरत्वं वदन् प्रतापमार्तण्डोऽपि प्रत्युक्तो ज्ञेयः. एकादश्यां जलेन पारणमपि एतेनैव दत्तोत्तरं ज्ञेयम्. यत्तु "**दशम्यादिषु वृद्धिः चेद् विद्धा त्याज्यैव वैष्णवैः तद् अन्येषां च सर्वेषां व्रतं तत्रैव निश्चितम्**" ( ) इति रामार्चनचन्द्रिकायाम् अगस्त्यसंहितावचनम् उक्तम्. हेमाद्रिमाधवाभ्याम् अलिखनात् तद् निर्मूलम् इति दिनकरोद्द्योतः. तत्त्वन्तु "**नवमी च अष्टमीविद्धा**" इति वाकये निषेधविधिवद् नवम्युपोषणविधिरपि उपक्रमानुरोधाद् वैष्णवमात्रविषयकः इति दशमीसाम्येऽपि नवमीवृद्धौ दशमीक्षयेऽपि नवमीवृद्धौ नवम्याम् उपोषणप्राप्त्या विद्धात्यागएव आशयगोचरः इति वचनञ्च सर्वसम्मतमिति तेन चारितार्थ्यादिव दशमीवृद्धिवचनम् अनुवादकम् इति.

तदेतत् सर्वं हृदिकृत्य श्रीमत्प्रभुचरणैः उक्तं "**तथाच विद्धानिषेधे सति उत्तरदिनकर्तव्यत्वे प्राप्ते सति यत्पुनः नवम्युपोषणविधानं तत्रापि निश्चय-वाचकाव्ययकथनेन नियमकथनपूर्वकं तेन दशम्यवृद्धावपि नवमीवृद्धौ तस्यामेव उपोषणं कार्यम्. नवम्यवृद्धौतु विद्धैव उपोष्या इति अवसीयते.**

अन्यथा दशमीपारणनियमविधिनैव नवम्युपोषणस्यापि प्राप्तेः पुनः तदुक्तिः व्यर्था स्यात्. यद्यपि एवं पारणविधेः वैयर्थ्यम् आयाति. तथापि उपोषणविधेः मुख्यत्वात् पारणविधिवाक्यस्य अमुख्यत्वेन एकादशीपूर्वदिनपरत्वं कल्पयते'' इति.

अत्र **'एकादशी'**पदं तिथिपरं नतु व्रतपरम्. व्याख्येयवाक्ये दशम्यां पारणविधानात्.

अत्र यद्यपि **''नवमी च अष्टमीविद्धा''** इति वाक्ये भगवद्भक्तानां विद्धात्यागम् आदायैव सर्वैः निर्णयः क्रियते. वेधस्वरूपन्तु न पृथक् विचार्यते. तथा सति **''त्रिभिः मुहूर्तैः विध्यन्ति''** (   ) इति सामान्यवाक्यात् त्रिमुहूर्तवेधैव आयाति कथञ्चित् तदनुकल्पो द्विमुहूर्तवेधो वा. तेन अष्टम्याः त्रिमुहूर्तत्वस्य द्विमुहूर्तत्त्वस्य वा अभावे नवम्याः विद्धात्वं न भवतीति तादृशस्थले पूर्वैव उपोष्या इति आयाति. तथापि साम्प्रदायिकाः एतादृशस्थले द्वितीयामेव आद्रियन्ते. तत्र तेषाम् अयम् आशयः : विद्धात्यागे बीजं तावद् भगवत्प्रादुर्भावदिने अष्टम्यभावएव. अन्यथा वामनद्वादश्याम् एकादशीवेधस्येव अत्र अष्टमीवेधस्यापि दूषकता न स्यात्. तथा सति स्वल्पस्यापि संसर्गस्य दूषकत्वं निर्बाधम्. अतो जन्माष्टम्यामिव अत्र कलाकाष्ठादिवेधत्यागवचनाभावेऽपि संसर्गमात्रात् त्यागो युज्यते न्यायसाम्यात्.

''युगाद्या वर्षवृद्धिश्च सप्तमी पार्वतीप्रिया रवेः उदयम् ईक्षन्ते न तत्र तिथियुग्मता'' (   ) इत्यनेन विशेषवाक्येन वर्षवृद्धौ सूर्योदयव्याप्तेरेव उक्ततया अवतारसामयिकव्यवहारस्य तदैव प्राप्तेः तन्न्यायेनापि उदयव्यापिन्याएव ग्राह्यत्वस्य युक्तत्वाच्च. एतेनैव **''वसुरन्ध्रयोः''** (   ) इति युग्मवाक्यमपि दत्तोत्तरम् विद्धानिषेधस्य प्रातिस्विकत्वाच्च.

नच जन्मसमये तिथ्यभावे पूजाकालाव्याप्त्या द्वितीयग्रहणस्य दुष्टत्वं शंक्यम्. विद्धात्यागेनैव तस्य निरासात्. एवञ्च **औदयिकग्रहणबोध-**

कानां सर्वेषां सामान्यवाक्यानामपि आनुगुण्याच्च इति. नच एवं न्यायप्राप्तग्रहणे सति जन्माष्टम्यामपि विद्धाक्षये विद्धाकरणस्य प्राप्तेः तदनुकल्पत्वेन शुद्धनवमीग्रहणम् अयुक्तं स्याद् इति वाच्यं, कल्पनीयन्यायापेक्षया एकादश्यतिदेशवाक्यस्य बलिष्ठत्वात्. एवम् अत्रापि दशमीपारणवाक्यस्य बलिष्ठत्वात् यादृशविद्धाधिकास्थले अग्रे पारणदिनं न लभ्यते तादृशविद्धाधिकास्थलेएव वर्षवृद्धिन्यायबाधो न अन्यत्र इति एतादृशस्थले द्वितीयदिनस्य न्यायप्राप्तत्वात् पूर्वदिने नवम्या विद्धात्वाभावेऽपि विद्धात्यागबीजविचारेण पूर्वां विहाय द्वितीयदिने व्रतकरणम् उपपन्नम्. माधवेन एतादृशस्थले गौरीतृतीयायां द्वितीयप्रापकाभावेऽपि केवलशिष्टाचारस्यैव शरणीकरणाच्च. एतावान् परं विशेषो गौरीतृतीयायाः पूर्वविद्धात्वे द्वितीयदिने कर्मकालरहितायाः ग्रहणम्. अत्रतु पूर्वविद्धात्वाभावेऽपि विद्धात्याबीजविचाराद् वर्षवृद्धिन्यायात् च इति.

तेन अयं निष्कर्षः : विद्धाक्षये विद्धा गत्यन्तराभावात्. पारणार्थं दशम्यलाभेऽपि विद्धादशम्यां पारणविधानबलात्. अन्यथा एकादश्याम् अद्भिः पारणेनापि व्रतसमाप्तिसम्भवे पारणविधानवैयर्थ्यस्य अपरिहार्यत्वात्. अन्यदा तु परैव इति दिक्. अयमेव न्यायो नृसिंहचतुर्दशीस्थले द्रष्टव्यः. माध्वास्तु “**सर्वासान्तु जयन्तीनां श्रेष्ठा कृष्णाष्टमी मता, यस्मात् सन्निहिता अत्यन्तं तत्रैव उपवसेद् नरः. सर्वास्वपि जयन्तीषु पूजा कार्या विशेषतः, सान्निध्यएव कर्तव्यः उपवासः न दूरगः**” (   ) इति स्मृत्यर्थसागराख्ये स्वनिबन्धे भरद्वाजसंहितावचनात्. “**चैत्रे मासि नवम्यान्तु प्रादुर्भावो हरेः यदा, रामपूजां नरः कुर्याद् ब्राह्मणैः सह भोजनं, तथैव नारसिंहस्य मत्स्यकूर्मादिकस्य च. अवतारदिने सम्यक् ब्राह्मणैः सह भोजनम्. कृतेतु नारसिंहन्तु त्रेतायां राममेव च. द्वापरे वामनं प्रोक्तं कलौ कृष्णाष्टमी स्मृताः**” (   ) इति गारुडात्. “**कृष्णजन्माष्टमीं त्यक्त्वा ये अन्यं व्रतम् उपासते. न आप्नुवन्ति फलं किञ्चिद् इष्टापूर्तम् अथापि वा, कृष्णाष्टमीं विना नैव जयन्ती क्वापि वैष्णवैः कर्तव्या यदि कुर्वीत तामसं तदुपोषणम्**” (   ) इति स्कन्दात् च इति

आहुः. तद् न अस्माकं सम्मतं श्रीरामस्य पुरुषोत्तमत्वेन विमृष्टत्वात्, अनुपोषणे शिष्टाचारविरोधात्, कलौ तत्प्राबल्यस्य व्यवस्थापितत्वेन तदपेक्षया स्मृतेः नैर्बल्याद् इति.

इति श्रीपुरुषोत्तमविरचितः श्रीरामनवमीप्रतानः सम्पूर्णः.

श्रीमत्प्रभुचरणप्रथमापत्यश्रीशोभादेवीवंशमुक्तामणि
पण्डित भट्टश्रीबलभद्रशर्म
कविकाव्यरत्नाकरकविचूडामणिशुद्धाद्वैतभूषणकविरत्न-
-महामहोपदेशकविद्यालंकारवेदान्तविद्यानिधिना
प्रणीतया बालप्रबोधिनी

श्रीनाथं श्रीमदाचार्यान् प्रभूंस्तत्पुरुषोत्तमान्॥
प्रणम्य रामनवमीप्रतानं विवृणीमहे।

अथ श्रीरामनवमीप्रताने अर्वाचीनानां प्रवेशाभावम् अन्यथाप्रवेशं मिथ्याभिनिवेशं च आलोच्य यथार्थतदर्थावबोधद्वारा प्रसक्तानर्थपरिहाराय 'बालप्रबोधिनी' नाम व्याख्या समारभ्यते. तत्र प्रायेण अयं क्रमः : पूर्वं याथार्थ्येन ग्रन्थार्थकथनं, तदनन्तरम् अन्यैः कृतस्य अन्यथाव्याख्यानस्य प्रदर्शनं, तदनु तत्र दोषप्रदर्शनेन तदन्यथात्वसमर्थनं, तदनन्तरं स्वव्याख्याने गुणप्रदर्शनोपपत्तिभ्यां यथार्थत्वसमन्वयः इति.

तथाहि : अथ श्रीमत्पुरुषोत्तमाः श्रीरामनवमीप्रतानम् आरभमाणाः श्रीमत्प्रभुचरणप्रणीते श्रीरामनवमीनिर्णये विभ्राजमाने स्वातन्त्र्येण तदर्थम् अनवसरं विभावयन्तः तदनुसरणसौभाग्येनैव सुरसर्गसाफल्यं सूचयन्तः यत् पूर्वांगम् उत्तरांगञ्च अभिप्रेत्य निर्णयः प्रवृत्तः तदुभयप्रकाशनेन स्वस्यापि तदनुसरणं सम्पादयन्तः आदौ उत्पत्तिवाक्यं तावद् आहुः तदुक्तम् इत्यादिना शब्दसंग्रहाद्

इत्यन्तेन. विनियोगवाक्यम् आहु: **अन्यच्च** इत्यादिना **भवेद् इति** इत्यन्तेन. अन्येषां पुनर्वसुयुतायामेव आग्रहं दर्शयन्ति **अत्र सैव** इत्यादिना **दिनकरोद्द्योत:** इत्यन्तेन. नवम्यास्तु मध्याह्नव्यापित्वमेव तेषाम् आवश्यकम् इति आहु: **अत्र** इत्यादिना **बहव** इत्यन्तेन. एतेन पुनर्वसो: मध्याह्नयोगे अन्यत्र योगे योगाभावेऽपि च नवम्या: मध्याह्नव्याप्तौ विद्धैव इति प्राप्तम्. वस्तुस्थितिम् आहु: **तत्त्वम्** इत्यादिना **विद्धा त्याज्यैव** इत्यन्तेन. तत्र प्रमाणम् आहु: ‘‘**नवमी च**’’ इत्यादि **माधवधृतवचनाद्** इत्यन्तम्. ‘‘**विद्धा त्याज्यैव**’’ इति ‘‘**नवमी च**’’ इत्यादिवचनस्य विद्धात्यागमात्रपरत्वाभिप्रायेण. अन्यथा ‘‘वैष्णवै: पारणदिवसे दशम्यलाभएव विद्धा कार्या’’ इति उक्त्वापि प्रमाणम् उदाहरेयु: अनभीष्टार्थाप्रसक्ते:. अनुष्ठीयते हि विद्धाक्षयादौ गत्यन्तराभावाद् विद्धोपोषणम्. किन्तु वचनप्रवृत्ति: विद्धाजिहासयैव इति यथोक्तैव उक्ति: युक्तेति. विद्धाजिहासामेव वचनस्य विरुद्धकोटिनिराकरणेन समर्थयन्ति **नच इदं दिनद्वये** इत्यादिना **दत्तोत्तरं ज्ञेयम्** इत्यन्तेन. ननु ‘‘दशम्यादिषु वृद्धिश्च’’ इत्यादिवचनेन दशम्येकादशीद्वादशीनां दिनद्वयसूर्योदयव्यापित्वाभावे विद्धाभ्युपगमाद् न विद्धाजिहास इति चेद् इत्येतां प्रत्यवस्थितिं निराकर्तुम् अनुवदन्ति **यत्तु** इत्यादि **न उक्तम्** इत्यन्तेन. अयम् अर्थ:. आदिश्च आदिश्च आदी. दशमी च अपस्थितत्वात् तदादी च दशम्यादय:. दशम्येकादशीद्वादश्य:. तासु वृद्धि: चेद् दिनद्वयसूर्योदयव्यापित्वं चेद् विद्धा त्याज्यैव. दशमीवृद्धौ नवमीक्षये द्वितीयदशम्यां पारणलाभाद् एकादशीवृद्धौ नवमीक्षये पूर्वस्यां व्रताभावेन पारणलाभाद् द्वादशीवृद्धौ नवमीक्षये व्रताभावेनैकादश्यां च पारणलाभात्. तेन ‘‘**नवमी च**’’ इति वाक्ये ‘दशम्याम्’ इति पारणदिनोपलक्षणार्थम्. न पारणे दशम्यावश्यकत्वार्थम् इति. अत्र ‘‘वृद्धि: चेद्’’ इति उक्त्या साम्ये क्षये च त्याज्यैव इति न नियम:. किन्तु पारणार्थं दिनलाभे त्याज्या अन्यथा न त्याज्या. द्वितीयदिने मध्याह्नयोगे पुनर्वसुयोगे च त्याज्या. पूर्वदिनएव तल्लाभेतु न त्याज्या इति अनियम:. एवं सति ‘‘**नवमी च**’’ इति वाक्यस्य न विद्धाजिहासुत्वम् इति. निराकुर्वन्ति **हेमाद्रिमाधवाभ्याम्** इत्यादिना **अनुवादकम् इति** इत्यन्तेन. आदौ मतान्तरेण निराकरणं महाविरोधवशात् सुकुमारमते सहसैव क्षोभोदयो मा भूद् इत्येतदर्थम्

एकान्तत: तत्सम्भावनाभावाय वितण्डोद्दण्डतुण्डखण्डनाय च. वस्तुस्थितिम् आहु: मीमांसकरीत्या ब्रह्मवादरीत्या च एकतन्त्रेण **तत्त्वन्तु** इत्यादिना **अनुवादकम्** इत्यन्तेन. "**नवमी च अष्टमीविद्धा**" इति वाक्ये विद्धात्यागएव आशयगोचर: इति सम्बन्ध:. तदिदम् उपपादयन्ति **निषेधविधिवद्** इत्यादिना **उपोषणप्राप्त्या** इत्यन्तेन. **नवम्युपोषणविधिरपि** इति **वैष्णवमात्रविषयक:** इति. तथाच उभयो: एकाधिकारिविषयत्वाभावे विद्धास्वीकारस्य आशयगोचरत्वं भवेदपि नतु एकाधिकारिविषयत्वेऽपि विरोधेन असम्भवाद् इति निषेधविधाविव नवम्युपोषणविधावपि विद्धात्यागएव आशयगोचर: इति न अत्र सन्देह:. ननु सनियमेन पुनर्नवम्युपोषणविधानेनैव दशमीसाम्ये नवमीक्षये दशमीक्षये नवमीसाम्ये च विद्धायाम् उपोषणं भवति इति क्व विद्धात्यागस्य आशयगोचरत्वम् इति आकांक्षायाम् आहु: **दशमीसाम्येऽपि नवमीवृद्धौ दशमीक्षयेऽपि नवमीवृद्धौ नवम्याम् उपोषणप्राप्त्या** इति. सनियमस्य पुनर्नवम्युपोषणविधानस्य विद्धात्यागएव आशय: तदा न स्याद् यदा दशमीतदभिभूतयो: उपोषणप्रतिविधाने शुद्धाया: तदर्थम् अलाभएव स्याद्, नतु एवम् अस्ति. दशमी-तदभिभूतयो: उपोषणप्रतिविधानेऽपि नवमीवृद्धौ शुद्धायामेव उपोषणप्राप्ते: दर्शनात्. विद्धाप्रसक्तेरेव अभावाच्च. तथाच दशमी-तदभिभूतयो: उपोषणप्रतिविधानार्थम् उद्यतस्य सनियमस्य पुन: नवम्युपोषणविधानस्य उपक्रमानुरोधाद् वैष्णवमात्रविषयकत्वेन वैष्णवानाञ्च विद्धात्यागस्य "**नवमी च अष्टमीविद्धा**" इत्याद्यर्द्धेन अवश्यकर्तव्यत्वोक्ते: विद्धात्यागएव आशय: भवितुम् अर्हति. न कदाचिदपि विद्धाभ्युपगमे स: सम्भवति. तेन नवम्यवृद्धिस्थले यद् विद्धोपोषणं तद् गत्यन्तराभावादेव, नतु वचनाशयबलाद् इति नैतत् तिरोहितम्. अतएव निष्कर्षकथने वक्ष्यन्ति "विद्धाक्षये विद्धा गत्यन्तराभावाद्" इति. नापि दशम्यां पारणविधानं विद्धोपगमम् आशयगोचरीकुरुत इति भ्रमितव्यम् वैष्णवमात्रविषयकत्वात्. विद्धानिषेधवचनस्य दिनद्वये मध्याह्नव्याप्त्यव्याप्त्यादिविषयकतया नयनेन पुनर्वस्वादियोगे वैष्णवानामपि विद्धाप्रापणे दशमीपारणविधानस्यैव अन्यथा वैयर्थ्यापत्त्या प्रतिबन्धकत्वेन विद्धात्यागएव तस्यापि आशयगोचर: इत्यत्र सन्देहाभावात्. पारणार्थं दशम्यलाभेतु विद्धोपोषणम् अगतिकगतिरेव. ननु विद्धोपोषणं तदाशय:. तथासति पुनर्वस्वादियोगवशाद् विद्धाप्रसक्तिं

नैव उपरुन्ध्याद् इति. तदिदं संगृहीतं **विद्धात्यागएव** इति ‘एव’कारेण. यथा “सुखं मे स्याद्, दुःखं मनागपि मा भूद्” इति दुःखाभाव-सुखलाभयोः सर्वाशयगोचरत्वेऽपि प्रारब्धयोगेन तद्विपरीतमपि अगत्या विषह्यते तथा नवमी च अष्टमीविद्धा इति वाक्यस्य विद्धात्यागार्थमेव सर्वथापि आशयेऽपि क्वचिद् विद्धोपोषणम् अगत्या अनुष्ठीयते. अन्यथा कर्मविप्रलोपप्रसंगात्. नच इष्टापत्तिः, **“सदा उपोष्या”** इति वचनाद् अकरणे प्रत्यवायापत्तेः. नहि एतावताशयस्यापि अन्यथाभावः सम्भवति इति अवधेयम्. एवमभिप्रायकत्वादेव अस्य प्रतिप्रसवस्य इति. निषेधातिप्रसंगवारणाय हि प्रतिप्रसववचनं न निषेधाशयम् अन्यथयितुम्. एतेन निष्कर्षकथने पारणार्थं दशम्यलाभेऽपि विद्धादशम्यां पारणविधानबलात्. अन्यथा एकादश्याम् अद्भिः पारणेनापि व्रतसमाप्तिसम्भवे पारणविधानवैयर्थ्यस्य अपरिहार्यत्वाद् इति यद् वक्ष्यन्ति तत् समाहितं ज्ञेयम्. एवं विद्धाजिहासां व्युत्पाद्य प्रामाणिकत्वम् आहुः **वचनञ्च सर्वसम्मतम्** इति. तेन चरितार्थ्यादेव **“दशम्यादिषु वृद्धिः चेद्”** इत्यनेन उक्तार्थस्य विद्धात्यागावश्यकत्वस्य विधानादेव दशम्यादिषु इत्यादेः अत्यन्ताप्राप्तार्थविधानात्मकं प्रामाण्यं नैव सम्भवति इति हेतोः **दशमीवृद्धिवचनम् अनुवादकं** विहितानुवाचकम् अनुवादार्थवादरूपम् इति अर्थः. अर्थवादः त्रिविधः : **“विरोधे गुणवादः स्याद् अनुवादो अवधारिते भूतार्थवादः तद्धानाद् अर्थवादस्त्रिधा मतः”** (द्र.अर्थसंग्रह.अर्थवाद.६६) इत्युक्तेः. तत्र इदं वचनं गुणवादः “उपोषणं नवम्याम्”-“दशम्यामेव पारणम्” इत्याभ्यां विरोधात्. “दशम्यादिषु वृद्धिः चेद्” इत्यनेन दशम्यामपि उपोषणस्य एकादश्यामपि पारणस्य कथनात्. एवं सति एतद्वचनं वैष्णवत्वोत्कर्षाधायकत्वरूपं वा परमावश्यकत्वरूपं वा विद्धात्यागस्य गुणमेव ब्रूते. पुरुषं प्रेरयितुं विद्धानिषेधविधिवाक्यापेक्षितं विधेयार्थप्राशस्त्यं समर्प्य च विद्धानिषेधविधिवाक्येन एकवाक्यताम् आपद्यते. यतो वैष्णवत्वोत्कर्षाधायकत्वेन परमावश्यकतया विद्धात्यागः प्रशस्तः ततः वैष्णवैः विद्धा त्याज्या इति. तत्र विधिवाक्यार्थवादवाक्यानां परस्परनैरपेक्ष्येणैव स्वार्थबोधाद् एकवाक्यतायाः अभावेऽपि लक्षणया अर्थवादवाक्यानां विधिवाक्यैः सह एकवाक्यतायाः मीमांसकनयसिद्धतया “दशम्यादिषु वृद्धिः चेद्” इत्येषां

पदानां वाच्यार्थभावेन दशम्युपोषणैकादशीपारणाद्यप्रसक्तया नवम्युपोषणदशमीपारणविधिभ्याम् अविरोधाद् न कश्चित् प्रत्यवस्थित्यवसरः इति सर्वं चतुरस्रम्. ब्रह्मवादनयेतु अर्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्याभ्युपयनाद् भिन्नैव व्यवस्था. सापि एकतन्त्रेण अत्र प्रतिपादिता. तथाहि : **“नवमी च अष्टमीविद्धा”** इति वाक्ये अष्टमीदशम्येकादशीवेधाः परिहृता उपोषणे **पारणे च** यथायथम्. **“नवमी च अष्टमीविद्धा”** इत्यनेन उपोषणे अष्टमीवेधः परिहृतः. **“उपोषणं नवम्याम्”** इत्यनेन दशम्युपोषणप्रतिविधायकेन नवमीक्षयस्थले एकादश्यां दशमीवृद्धिस्थले च **द्वितीयदशम्याम्** एकादशीविद्धायाम् अर्थात् पारणं परिहृतम्. **‘वै’** इति नियमेनतु दशमीक्षयस्थले नवमीवृद्धिस्थले च नवमी-द्वितीयनवम्योः उपोषणे दशमीवेधः परिहृतः. तद् इदम् उक्तम् **निषेधविधिवद्** इत्यादिना **विद्धात्यागएव आशयगोचरः** इत्यन्तेन. **नवम्युपोषणविधिरपि** इति सनियमो नवम्युपोषणविधिः इति भावः. प्राधान्याद् अष्टमीवेधत्यागे आशयं व्युत्पादयन्ति **दशमीसाम्ये च नवमीवृद्धौ दशमीक्षये च नवमीवृद्धौ** इत्यन्तेन. शेषं संगृहन्ति **नवम्युपोषणप्राप्त्या** इति. यथायथम् अष्टम्यविद्धायां दशम्यविद्धायां च इति अर्थः. दशमीत्यागस्तु नान्तरीयकः तं विना नवम्युपोषणासिद्धेः. तेन पारणतिथौ एकादशीवेधपरिहारः. तदिदम् आहुः **विद्धात्यागैव आशयगोचरः** इति. विद्धानाम् अष्टमीदशम्येकादशीविद्धानां त्यागः इति विग्रहः. **तेन चारितार्थ्यादेव दशमीवृद्धिवचनम् अनुवादकम्** इति. तथाच **‘दशम्यादिषु’** इति पदस्य न पूर्वपक्षिपक्षेण अर्थः. **“नवमी च अष्टमी...”** इति वाक्येन विरोधात् शिष्टानादरणात् च निर्मूलत्वापत्तेः. किन्तु आदिश्च आदिश्च आदी दशमीप्रागभावाधिकरणकालभूते नवम्यष्टम्यौ तिथी. दशमी च नवम्यष्टम्यौ तिथी च **दशम्यादयः** तेषु. तथाच अष्टमीवृद्धौ तद्विद्धा नवमी त्याज्या. नवमीवृद्धौ दशमीविद्धा द्वितीया त्याज्या. दशमीवृद्धौ एकादशीविद्धा द्वितीया दशमी त्याज्या उपोषणे पारणे च यथायथम् इति तदर्थाद् न कश्चिदपि स्वार्थबाधावसरः, विरोधश्च गुणवादहेतुभूतो वर्तते. मूलवचने तिथीनां साम्ये अष्टमीवेधस्यैव परिहार्यत्वम्, दशम्येकादशीवेधयोस्तु प्राचुर्याभिभावकत्वाभावाभ्याम् अपरिहार्यत्वम् इति विशेषः. वृद्धौतु तौल्यम्

इति अनुवादस्य एकदेशित्वात्. एवञ्च अनुवादकत्वेनैव स्वार्थेऽपि प्रामाण्यसिद्धिः गुणानुवादत्वञ्च इति उभयमपि सुसिद्धम् इति सर्वम् अविरुद्धं न कश्चिदपि विप्रितिपत्त्यवसरावशेषः. अत्र केचिद् “**दशम्यादिषु वृद्धिः चेद्**” इत्यादौ पूर्णायां वृद्धौ नवम्याः विद्धात्वं न सम्भवतीति भिया उदयानुदयभेदेन दिनद्वयोपलब्धिं ‘**वृद्धि**’ पदेन गृह्णन्तो दशमीक्षयेऽपि नवमीवृद्धौ नवम्याम् उपोषणप्राप्त्या विद्धात्यागएव आशयगोचर इत्यनेन दशमीक्षये शुद्धोपोषणम् इति आहुः, तद् न; नवमीवृद्धौ इत्येतस्य निष्प्रयोजनत्वापातात्. दशमीक्षये नवम्याम् उपोषणप्राप्त्या इति एतावतैव विवक्षितार्थलाभात्. ‘वृद्धि’पदस्य उदयानुदयभेदेन दिनद्वयोपलब्धौ शक्तेः अगृहीतत्वात्. नवम्युपोषणविधेः दशम्युपोषणप्रतिविधानार्थतायाः मूलनिर्णयव्याख्यायां निरवशेषेण निर्णीततया दशमीपारणप्रतिविधानार्थतायाः एकान्ततएव असम्भवेन दशम्यां पारणस्य आवश्यकत्वात् च. किञ्च आरम्भे **तत्त्वन्तु** इति उपक्रम्य **वैष्णवैस्तु पारणदिवसे दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव** इति उक्त्वा तत्र प्रमाणम् उपन्यस्य तस्या अन्यथार्थतां **नच इदं दिनद्वये** इत्यादिना **दत्तोत्तरं ज्ञेयम्** इत्यन्तेन मतान्तरत्रयापाकरणेन प्रतिविधाय **वैष्णवैस्तु पारणदिवसे दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव** इति यदुक्तं तदेव “**नवमी च अष्टमी विद्धा**” इत्यस्य तात्पर्यम् इति स्थापितम्. तदेतत् स्थूणानिखननन्यायेन पुनः द्रढयितुं **यत्तु** इत्यादिना **रामार्चनचन्द्रिकायाम् उक्तम्** इत्यन्तेन विद्धात्यागे पारणदिनमात्रलाभः तन्त्रं नतु दशम्यादिः अवच्छेदविशेषोपि तेन दिनद्वये मध्याह्नव्याप्त्यादिभावे विद्धायामपि उपोषणम् उभयैकवाक्यतालाभाद् अन्यथा विरोधाद् इति अभिप्रायपूर्णां शंकाम् अनूद्य **हेमाद्रिमाधवाभ्याम्** इत्यादिना **दिनकरोद्योत** इत्यन्तेन. पराभिप्रायेण **तत्त्वन्तु** इत्यादिना **दशमीवृद्धिवचनम् अनुवादकम् इति** इत्यन्तेन स्वाभिप्रायेण च तत्समाधानं विधाय “**नवमी च अष्टमीविद्धा**” इत्येतस्यैव वचनस्य प्रामाण्यं वैष्णवैस्तु पारणदिने दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव इत्येतदेव च तत्तात्पर्यम् इति स्थिरीकृतम्. एवञ्च **तत्त्वन्तु** इत्यादिः **अनुवादकम्** इत्यन्तः ग्रन्थः पारणार्थं दशमीलाभे विद्धात्यागएव आशयगोचरः इति इमम् अर्थं वक्तुं प्रवृत्तः इति सुविशदम् एतत्. तस्याः अस्य दशमीपारणानपेक्षया विद्धात्यागपरत्ववर्णनं सर्वथैव असंगतम् इति. एवं तात्पर्यवर्णने दोषविस्तरस्तु

मूलनिर्णयविवृतितो अनुसन्धेयः. एवं पारणदिने दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव इति तत्त्वं निर्धार्य तदेतावतः कथनस्य पूर्वांगत्वेन श्रीमत्प्रभुचरणतात्पर्यगोचरत्वं प्रदर्शयन्तः श्रीमत्प्रभुचरणकृतनिर्णयसिद्धान्तांशम् उपन्यस्यन्ति **तदेतत् सर्वम्** इत्यादिना **कल्प्यते** इति इत्यन्तम्.

अत्र **तथाच** इत्यादिना **व्यर्था स्याद्** इत्यन्तेन पारणदिने दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव. तदलाभेतु अगत्या विद्धापि उपोष्या. किं बहुना. दशमीपारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी सर्वथा व्रतपूर्तिः इति अभिप्रायेण दशमीतदभिभूतयोः उपोषणप्रतिविधानाय सनियमं पुनर्नवम्युपोषणविधानम् इति निर्णीतम्. **यद्यपि एवम्** इत्यादिना **एकादशीपूर्वदिनपरत्वं कल्प्यते** इत्यन्तेन च यदुक्तं तस्य अयम् आशयः. ननु प्रयोजनाभावात् किम् इदानीं पारणविधिना कार्यम्? दशमीपारणस्य दशमीतदभिभूतयोः उपोषणप्रतिविधायकेन सनियमेन पुनर्नवम्युपोषणविधानेनैव संसाधनाद् इति चेद्, मैवम्, पारणविधेः अभावे व्रतपारणयोः मध्ये व्रतस्य इष्टसाधनत्वं मुख्यम् अंगित्वाद् उपजीव्यत्वात् साक्षात् श्रुतत्वात् च. पारणस्य इष्टसाधनत्वम् अमुख्यम् अंगत्वाद् उपजीवित्वाद् अर्थापत्तिलभ्यत्वात् च. तथा सति मुख्यकल्पेन दशमीक्षये शुद्धायां व्रतलब्धिसम्भवे पारणस्य अमुख्यकल्पेन अनुष्ठानं न इष्टसाधनताविरोधि. व्रतस्य अमुख्यकल्पेन विद्धायाम् अनुष्ठानन्तु इष्टसाधनताविघातकं भवेत्. तेन दशमीक्षये मुख्यकल्पेनैव शुद्धायाम् उपोषणम् अमुख्यकल्पेनैव च एकादश्यां पारणम् अनुष्ठीयेत. नच एवम् उपोषणविधिसमभिव्याहृतस्य नियमांशस्य किं स्याद् इति वाच्यम्, तस्य विद्धात्यागवचनानवसरे द्वितीयनवम्यां सावकाशतायाएव योग्यत्वात्. विद्धात्यागवचनावसरे कुण्ठितत्वात्. तदिदम् अनिष्टम् इत्येतदर्थं पारणविधिवाक्यम् आवश्यकम्. तथापि उपोषणविधेः मुख्यत्वात् पारणविधिवाक्यस्य अमुख्यत्वेन मुख्ये पक्षपातः स्यात्. तदैव तत्तात्पर्योपपत्तेः. मुख्यो हि सः. प्रधानेष्टसाधनत्वादिभ्यः. तेन अमुख्यस्य पारणवाक्यस्य व्रतैकादशीपूर्वदिनपरत्वेन लक्षणयैव निर्वाहः करणीयः स्यात्. वैयर्थ्यन्तु तदापि नैव निवर्तेत. वाक्याभावेऽपि व्रतैकादशीपूर्वदिनस्य न अप्राप्तत्वात्, ‘दशमी’पदश्रुतेः बाधात् अतिरिक्तार्थस्य सिद्ध्यभावात् च.

तेन दशमीक्षये 'दशमी'पदम् एकादशीतिथिपूर्वदिनपरतया शुद्धोपोषणव्रतैकादशीपूर्वदिन- पारणविरोध्यर्थोपस्थापनसमर्थ- समानबलोपस्थितिकं कृत्वा सार्थकं सम्पाद्यते. एवञ्च सनियमेन पुनर्नवम्युपोषणविधानेनैव दशमीपारणप्राप्तावपि तेन तद्विधानवैयर्थ्येऽपि मुख्यामुख्यत्वकृततदुभय- प्रबलनिर्बलभावनिवारणाभिप्रायेण दशमीपारणविधानं सार्थकत्वाद् उपोषणविधितुल्यबलं मुख्यमेव च इति सर्वत्रापि उपोषणपारणयोः उभयोरपि समानएव आग्रहो नतु क्वचिदपि बाध्यबाधकभावसम्भावनागन्धोऽपि. तत्साध्वेव एतदुक्तं यत् पारणदिने दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव. तदलाभेतु अगत्या विद्धापि उपोष्या. किं बहुना. दशमीपारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी सर्वथा व्रतपूर्तिः इति. एतेन यद्यपि द्वावपि विधी मुख्यौ तथापि दशमीपारणविधिः तयोः मुख्यतरः इति सिद्ध्यति इति स्तोकोऽपि नावशिष्टः शंकावसरः इति. अधिकन्तु निर्णयव्याख्यानतो अवगन्तव्यम्. अभिप्रायविरुद्धाभ्यः उपगमः मा भूद् इति अल्पज्ञम् अनुगृह्णन्ति **अत्र 'एकादशी'पदम्** इत्यादिना **पारणविधानाद्** इत्यन्तेन. यद्यपि "**यद्यपि एवम्**" इत्यादिः ग्रन्थो दशमीक्षये नवमीद्वयाभावे व्यवस्थाविशोधनार्थः. तथापि केचित् परिहरणीयमेव अर्थम् अत्र विधित्सितं पश्यन्ति. तद्यथा. उपोषणविधेः मुख्यत्वात् तदादरएव युक्तः. पारणविधिवाक्यस्य अमुख्यत्वेन तदादरः न युक्तः तेन पारणवाक्यं व्रतैकादशीपूर्वदिनपरमेव. **अत्र एकादशीपदम्** इति इयं पंक्तिस्तु विरोधात् प्रक्षिप्ता. उपलम्भात् न इति चेद् तदा तिथिपरं न इति पृथग्वाक्यम् तु किन्तु व्रतपरम् इति पृथक्. तत्र हेतुः **दशम्यां पारणविधानाद्** इति. दशमी हि एकादशीव्रतपूर्वदिनम् इति. तद् न. **पुनः तदुक्तिः व्यर्था स्याद्** इत्यन्तेन उक्तस्य अर्थस्य विरोधेन अस्य उज्झितार्थसम्बन्धित्वात्. तस्यापि प्रक्षिप्ततया वक्तव्यत्वापत्तेः वैयर्थ्यस्य अनिवारणात् कृतहान्यकृताभ्यागमाभ्यां च. विशेषस्तु मूलव्याख्याने द्रष्टव्यः.

उत्तरांगम् आहुः **अत्र यद्यपि** इत्यादिना **स्मृतेः नैर्बल्याद्** इत्यन्तेन. विवक्षितं वेधस्वरूपं ग्राहयन्तः सम्प्रदायानुसरणाभावे केवलशास्त्रतः शास्त्राशयो न लभ्यतइति इदं तावद् आदौ दर्शयन्ति **तथा सति** इत्यादिना पूर्वैव

उपोष्या इति आयाति इत्यन्तेन. **पूर्वैव** इति. मध्याह्नव्याप्त्योत्कर्षादपि इति भावः. सम्प्रदायानुसरणैव शास्त्राशयलाभः **इत्येतद् दर्शयन्ति तथापि** इत्यादिना **वर्षवृद्धिन्यायश्च** इत्यन्तेन. **एतादृशस्थले** अष्टम्याः त्रिमुहूर्तत्वाद्यभावेन वेधाभावेऽपि “**चैत्रशुद्धातु नवमी पुनर्वसुयुता**” इत्यादि वचनानुगुण्येऽपि पारणकाले दशमीप्राप्तावपि. **द्वितीयामेव**. उदयमात्रेऽपि अष्टमीसंसर्गाभावाद् औदयिकनवमीलाभात् पारणदिनेऽपि औदयिकदशमीलाभात् च. साम्प्रदायिकं वेधस्वरूपं व्युत्पादयन्ति **तेषाम् अयम्** आशयः इत्यादिना. न्यायसाम्याद् इति. जन्माष्टम्यां सप्तम्याः कलाकाष्ठादि वेधत्यागे हेतुः प्रादुर्भावदिने तदभावः तेन स्वल्पेऽपि तत्संसर्गे नवम्याम् उपोषणादि. एवमत्रापि प्रादुर्भावदिने अष्टम्यभावादेव तद्वेधनिषेधेन स्वल्पादपि तत्संसर्गात् पूर्वात्याग आवश्यक इति न्यायसाम्यम्. तस्मात्. द्वितीयादरे हेत्वन्तरमपि आहुः **युगाद्या** इति वचनोपन्यासेन **युक्तत्वाच्च** इत्यन्तेन. **प्रातिस्विकत्वाद्** इति. श्रीरामनवमीमात्रविषयत्वात्. विद्धानिषेधस्य विशेषशास्त्रत्वेन सामान्येन अविरोधाद् इति अर्थः. **सामान्यवाक्यानाम्** इति. “**दैवकार्ये तिथिः ग्राह्या यस्याम् अभ्युदितः रविः उदयेतु उपवासस्य नक्तस्य अस्तमये तिथिः मध्याह्नव्यापिनी ग्राह्या एकभक्तव्रते तिथि आदित्योदयवेलायां या अल्पापि च तिथिः भवेत् पूर्णा इत्येव मन्तव्या प्रभूता नोदयं विना**” (   ) इत्यादीनाम् इत्यर्थः. एवं साम्प्रादायिकं वेधस्वरूपं व्युपाद्य नवमी-दशम्योः क्षये व्यवस्थां जन्माष्टमीतो विशेषं च वदन्तः तत्र प्रमाणञ्च पुरस्कुर्वन्तो उपसंहरन्ति **न चैवम्** इत्यादिना. **एवम्** इति, जन्माष्टमीन्यायेन वर्षवृद्धिन्यायेन च द्वितीयाग्रहणे सति वर्षवृद्धौ विद्धाक्षये विद्धाकरणाद् अत्रापि विद्धाक्षये विद्धाकरणसिद्धौ एतन्न्यायेन जन्माष्टम्यामपि विद्धाक्षये विद्धाकरणं प्रसज्यते. तदा तदनुकल्पतया तत्र शुद्धनवमीग्रहणञ्च अयुक्तं प्रसज्यते. तेन न्यायप्राप्तग्रहणम् अयुक्तं शास्त्रप्राप्तग्रहणमेव युक्तम्. तेन शास्त्रीयत्रिमुहूर्तत्वादिवेधाभावे पूर्वस्याः करणे महापुण्यतमात्त्ववचनानुगुण्यमपि. अथ यदि जन्माष्टमीन्यायेन वचनाभावेऽपि अष्टम्याः कलाकाष्ठावेधोऽपि परिहार्यः तदा तु तेनैव न्यायेन विद्धाक्षय इहापि तदनुकल्पतया दशम्युपोष्यतां न्यायसाम्यात्. तदेवं विरुद्धन्यायद्वयावतारे उभयत्रापि नान्यतरपक्षावधारणे विनिगमना भवति

इति शंकाभिप्राय:. परिहरन्ति **कल्पनीय** इत्यादिना. न्यायो अनुमानम्. तद्यथा श्रीरामनवम्यां वेध: त्याज्य: दूषकत्वात्. दूषकत्वे त्याज्यत्वम् जन्माष्टमीवत्. त्याज्यत्वाभावे दूषकत्वाभाव: वामनद्वादशीवत्. विद्धाक्षये विद्धा कार्या. गत्यन्तराभावात्. वर्षवृद्धिवत्. जन्माष्टम्यां विद्धाक्षये विद्धा कार्या. वर्षवृद्धित्वात्. श्रीरामनवमीवत्. कल्पनीयो व्याप्तिदर्शनेन साधनीय:. **एकादश्यतिदेशवाक्यस्य** इति. **''पूर्वविद्धा यथा नन्दा वर्जिता श्रवणान्विता तथाष्टमीं पूर्वविद्धां सऋक्षामपि सन्त्यजेत्''** (पद्म.पुरा.   ) इति पाद्मवचनस्य इति अर्थ:. **बलिष्ठत्वाद्** इति प्रत्यक्षाश्रितात् प्रत्यक्षस्येव आगमाश्रिताद् अस्माद् अस्य आगमस्य इति भाव:. तथाच अतिदेशवाक्येन प्रातिस्विकेन प्रतिबन्धात् न जन्माष्टम्यां श्रीरामनवमीन्यायोद्गम:. श्रीरामनवम्यान्तु जन्माष्टमीवर्षवृद्धिन्याययो: प्रतिबन्धकाभावाद् अवतारेण पूर्वस्या: त्यागो द्वितीयाया: समादरश्च निष्प्रत्यूह इति अर्थ:. ननु एवं सति जन्माष्टमीन्यायेन विद्धाक्षये दशम्युपोषणप्राप्त्या श्रीरामनवम्यां वर्षवृद्धिन्यायबाधप्रसंग:. तेन न्यायप्राप्तग्रहणे दोषानुपरमात् साम्प्रदायिकवेधस्य असिद्ध्या कलाकाष्ठादिवेधेपि द्वितीयोपोषणं यत् तदनुपपन्नम् इति चेत् तत्र आहु: **एवम् अत्रापि** इत्यादि **उपपन्नम्** इत्यन्तम्. **यादृश विद्धाधिकास्थले** दशमीक्षयवति विद्धाधिकास्थले. **पारणदिनम्** एकादशीतिथिपुर्वदिनम्. **न अन्यत्र** विद्धाक्षयादौ न इति अर्थ:. विद्धाक्षयादौ वर्षवृद्धिन्यायाबाधो न इति सम्बन्ध:. तथाच न्यायप्राप्तग्रहणे दोषसम्बन्धाभावात् साम्प्रादायिकवेधस्वरूपं सुसिद्धम् इति अर्थ:. स्पष्टम् अन्यत्. तथाच **विद्धाक्षये विद्धा**. पारणार्थं दशम्यलाभेऽपि विद्धा इत्येषा नवमी-दशम्यो: क्षये व्यवस्था. जन्माष्टमीतो विशेषश्चापि अयमेव इति सर्वं निरवद्यम्. अन्येतु सर्वमपि इदं विद्धात्यागबीजविचारं दशमीक्षये शुद्धोपोषणार्थमेव अभिमन्यन्ते, तद् न, दशमीपारणवाक्यस्य सर्वतोपि बलिष्ठत्वस्थापनाद् विद्धात्यागबीजविचारस्य न्यायप्राप्तग्रहणैकघटितत्वात् तस्य च अतिप्रसंगवारणद्वारा पारणवाक्योपब्धत्वात्. विद्धात्यागबीजविचारस्य साम्प्रदायिकवेधस्वरूपविशेषनिश्चायनमात्रार्थत्वेन पारणार्थं दशमीनैरपेक्ष्ये प्रयोजकत्वाभावाच्च. साधितं ग्राहयन्ति **तेन अयं निष्कर्ष** इत्यादिना दिग् इत्यन्तेन. **तेन** इति दशमीपारणवाक्यस्य एकादश्यतिदेशवाक्यस्य च बलवत्तमत्वाद्

अग्रे दशमीपारणलाभे सति द्वितीयाग्रहणस्थले जन्माष्टमी-वर्षवृद्धिन्याययोः उभयोरपि प्रसरः तदलाभे सति दशमीक्षयस्थले तयोः उभयोरपि उपरोधो विद्धाक्षयेतु जन्माष्टम्याम् अतिदेशवाक्यबलाद् वर्षवृद्धिन्यायबाधः श्रीरामनवम्याञ्च पारणवाक्यबलाद् जन्माष्टमीन्यायबाध इत्येवं व्यवस्थितेन सिद्धेन च विद्धात्यागबीजविचारणा इति अर्थः. अत्र इति शेषः. **गत्यन्तराभावाद्** इति. उपोषणं नवम्याम् इत्यनेन दशम्युपोषणप्रतिविधानाद् जन्माष्टमीन्यायस्य पारणवाक्यबलेन अप्रसराद् वर्षवृद्धौ विद्धाक्षये विद्धायाः करणाच्च विद्धोपोषणं विना गत्यन्तराभावाद् इति अर्थः. **दशम्यलाभेऽपि** इति. गत्यन्तराभावे विद्धोपोषणं युक्तम्. उपोषणस्य मुख्यत्वेन तदर्थं शुद्धनवमीलाभेन जन्माष्टमीवर्षवृद्धिन्याययोः आनुगुण्येन च गत्यन्तरसद्भावेतु विद्धोपोणम् अयुक्तम् इति 'अपेः' अर्थः. कथं तर्हि विद्धोपोषणम् इति अपेक्षायां गत्यन्तराभावादेव इति अभिप्रायेण आहुः **दशम्यलाभः** इति. गत्यन्तरसद्भावेऽपि पारणार्थं दशम्यलाभेन तदनुपयोगाद् इति भावः. ननु अप्रयोजको दशम्यलाभः बहूनाम् अनुग्रहस्य न्याय्यत्वाद् इति चेद् मैवम् इति आहुः **दशम्यां पारणविधानबलाद्** इति. तत्सर्वनिर्बलीकरणार्थमेव दशमीपारणविधानस्य आरम्भेण सर्वतोपि बलवत्तमत्वाद् इति अर्थः. सर्वनिर्बलीकरणार्थत्वं व्युत्पादयन्ति **अन्यथा** इत्यादिना. **अन्यथा** इति. बहूनाम् अनुग्रहस्य न्यायत्वाभ्युपगमे सति इति अर्थः. तथाच तत्सर्वनिर्बलत्वे दशमीपारणविधानमेव गमकम् इति अर्थः. एवं सति तदनुरोधस्यैव मुख्यतमत्वेन गत्यन्तराभावात् शुद्धासद्भावेऽपि विद्धा इति अर्थः. **अन्यद्** इति. दशमीपारणलाभ इति अर्थः. **परैव** इति. द्वितीयैव. सा च परमोत्कृष्ट इति परे इत्येतेन पदेन तत्परामर्शः. परात्वं विद्धात्यागाद्यपेक्षितसर्वगुणगणगरिष्ठत्वात्. तेन उपक्रमे **वैष्णवैस्तु पारणदिवसे दशमीलाभे विद्धा त्याज्यैव** इति यद् उक्तं मध्ये च **विद्धात्यागएव आशयगोचरः** इति च यद् उक्तं तद् उपसंहारेणापि निर्व्यूढम् इति अखिलम् अविकलम् अविरलं मंगलम् इति शुभम्.

अन्यत्र संश्रयजुषः स्वजनान्निजस्य॥

पादारविन्दमकरन्दलिहो विधाय ।।
सर्वात्मना तदभिवृद्धिविधायिने ।।
श्रीगोवर्द्धनोद्धरणधीर नमोनमस्ते ।।१।।
किं वर्ण्यः श्रीमदाचार्यतत्सून्वोः करुणाकणः ।।
मन्दोऽपि मादृशो येन तज्जनानुचरायते ।।२।।
आचार्या भास्करायन्ते चन्द्रायन्ते च तत्सुताः ।।
तेषां प्रौढातपायन्ते तान्वन्दे पुरुषोत्तमान् ।।३।।
श्रीमद्गोकुलनाथान् दिननाथानेव पुष्टिमार्गस्य ।।
गोस्वामिवर्गवर्यान् धीधनधुर्यान्नमस्यामः ।।४।।
श्रीनाथदेवसेवासु विट्ठलेशैः समादृतान् ।।
गणेशदीक्षितान्वन्दे पूर्वजानां पितामहान् ।।५।।
श्रीशोभाशुभनाम्नीनां सुतानां विट्ठलेशितुः ।।
गणेशभट्टपत्नीनां वात्सल्यमुपसेव्यते ।।६।।
श्रीनाथसेवाहेवाकैरस्माकं साधिताखिलान् ।।
देवकीनन्दनान् नौमि तातपादान् पुनः पुनः ।।७।।
पुत्रीं पण्डितराजानां भग्नोपाध्यायसद्विदाम् ।।
स्वमातृचरणानीडे करुणावरुणालयान् ।।८।।
गोवर्द्धनेति विदितान् पितृव्यान् स्वान्नमामि तान् ।।
प्रतानभागतात्पर्यप्रकाशे यैर्नियोजितः ।।९।।
श्रीवामनाचार्यबुधान नमामस्तमां नुमो नन्दकिशोरभट्टान् ।
श्रीभट्टपादान् पुरुषोत्तमांश्च तथैव विट्ठलसुनन्दनांश्च ।।१०।।
निम्लोचे दृष्टिमिष्टां तिरयति भगवत्सप्तसप्तेः प्रसक्तेः
नीरन्ध्रे मार्गमावृण्वति च कलितमस्सञ्चये सर्वतोऽपि ।।
आलोकः कोऽपि लोके सपदि निससृजे येन तस्मै परस्मै
प्रह्वीभावभावसूनाञ्जलिमुपहरत श्रीमते पावकाय ।।११।।
मायावादिद्विपेन्द्रोन्मथितसुरजनोज्जीवनोदग्रदीक्षैः
प्रेमैकोपेयगोपीपरिवृढपदवीप्राप्तिसिद्धाञ्जनैस्तैः ।।
श्रीमद्भिर्विट्ठलेशप्रभुचरपदाम्भोजपांसुप्रपञ्चैः

स्वीयस्नेहानुविद्धैर्विपदुपरतये भालमभ्यज्यतां नः ॥१२॥
पूर्णानिध्यंकचन्द्रेऽब्दे शुचौ शुद्धे हरेर्दिने ॥
मुम्बापुरे भगवतो बालकृष्णस्य सन्निधौ ॥१३॥
श्रीमदाचार्यचरणाः प्रभवो विट्ठलेश्वराः ॥
अंगीकुर्वन्तु कृपया कृतिमेतां समर्पिताम् ॥१४॥

इति श्रीमदाचार्यचरणचरणाम्भोजचञ्चरीकेण
श्रीमत्प्रभुचरणपदपंकजपरागाभ्यक्तभालपुलिनेन
श्रीमद्गोवर्द्धनोद्धरणधीरपादपद्मसेवोवाहाकाधिगताशेषपुरुषार्थसार्थेन
श्रीरामचन्द्राध्वरिश्रीहरिहरदीक्षितश्रीमद्गणेशभट्टदीक्षिता-
नुगृहीतकुलजन्मलामलब्धकीर्तिना त्रिगृहावतंस
भट्टश्रीदेवकीनन्दनशर्मतनुजनुषा
कीर्तिवल्ली पण्डितभट्टश्रीबलभद्रशर्मणा
कविकाव्यरत्नाकरकविचूडामणिशुद्धाद्वैतभूषणकविरत्नमहामहोपदेशक-
विद्यालंकारवेदान्तविद्यानिधिना
विनिर्मिता श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रणीतश्रीरामनवमीप्रतरत्नव्याख्या
बालप्रबोधिनी नाम
सम्पूर्णतामफाणीत्
श्रीकृष्णार्पणमस्तु
शुभं भूयात्

॥श्रीहरि:॥

॥ *प्रवचन सारांश॥

(विषय : भक्तिहेतुनिर्णय-भक्तिहंसमें प्रतिपाद्य भक्तिका स्वरूप)

भक्तिहंस एवं भक्तिहेतुनिर्णय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित मुख्य विषय यह है कि भगवत्कृपा एवं कृपाके परिणामस्वरूप प्रकट होती भक्ति साधनसापेक्ष नहीं है. आधारपत्रतया प्राप्त आलेखमें ग्रन्थोपदिष्ट भक्तिके स्वरूपकी मीमांसा भाष्य या वृत्ति के स्वरूपमें नहीं है, अपितु वार्तिकरूपमें है. उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त मेंसे यहां विचारणीय पक्ष उक्तानुक्त हैं.

"तृणानि विषया:.... वृन्दावर्त्म निर्दिशति य:" (पृ.१०१-१०२) अर्थात् जगतमें दृष्ट बाह्य विषय तृणरूप हैं, जिनका भक्षण गाय रूपी इन्द्रियां करती हैं. नन्दनन्दनगोपाल भगवान् यदि उन इन्द्रिय रूपी गायोंके पालक बन जायें एवं जीवके हृदयको वृन्दावन बना लें तो जीवके हृदयमें भक्ति प्रकट हो जाएगी. भक्ति बहुतसे प्रयोजनोंसे की जाती है. जैसे अज्ञानी जीव ज्ञान प्राप्ति हेतु, ज्ञानी जीव दम्भ-दर्पकी निवृत्तिके लिए, ब्रह्मज्ञानी मुक्ति प्राप्त्यर्थ भक्ति करते हैं. परन्तु ये सब भक्ति उत्तम नहीं है, भाक्त है. भक्ति भक्त्यर्थ मात्र होनेपर ही उत्तम मानी जाती है. सृष्टि विभावरूप भगवान्की लीला है. भक्ति उसी विभावका अनुभाव है. भगवल्लीलाका हृदयमें होता अनुभव जब बाहर प्रकट होता है, तभी अनुभाव कहलाता है. भगवल्लीलारूपा सृष्टिके प्रति प्रकट होता appreciation ही भक्ति है. इस सृष्टिके स्रष्टा बाहर भी हैं भीतर भी हैं. बाहर जो है वह प्रियरूप है, भीतर है वह स्नेहरूप है. हृदयस्थ भक्तिके कारण ही बाह्यरूप प्रिय लगता है. भक्तका ज्ञानमार्गमें अधिकार न होनेसे उसे 'अहं ब्रह्मास्मि'की अनुभूति तो रुचिकर नहीं लगती है. परन्तु बड़ोंसे प्राप्त निधिरूप(निधि=भग) स्वसेव्य जो घरमें बिराजमान हैं, उनका भगवान्

---

*गोस्वामी सुश्री मैत्रीद्वारा संकलित प्रवचन सारांश (डीसेम्बर २०२१)

(निधिवान्) तो भक्त ही है. प्रभुचरण श्रीविठ्ठलनाथजी भक्तिरहित जीवको भक्तिके स्वरूपका ज्ञान प्रदान करते हुए समर्पणके द्योतक वृन्दावर्त्मकी तरफ दिशानिर्देश करें.

उपरोक्त मंगलाचरणमें निर्दिष्ट विषय सम्पूर्ण आलेखपत्रके लिए सूत्ररूप है, जिसका विस्तार किया गया है. महाप्रभुजीका वेदान्त 3-tier system है : आधिदैविक, आध्यात्मिक एवम् आधिभौतिक रूपोंकी. स्वसेव्यके भी यही तीन रूप सिद्धान्तमुक्तावलीमें निर्दिष्ट हैं : ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्. सर्वरूप ब्रह्म आधिभौतिक, अन्त:स्थित परमात्मा आध्यात्मिक एवम् ऐश्वर्यादि सम्पन्न भगवान् आधिदैविक. ये तत्त्वके तीन formats हैं. भक्तिके भी ये तीन formats हैं. “**पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: प्रवाहेण क्रियारता: मर्यादया गुणज्ञास्ते**” (पु.प्र.म.१५) महाप्रभुजी पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदग्रन्थमें आज्ञा करते हैं कि क्रियात्मिका प्रावाहिकी सेवा आधिभौतिकी है, गुणज्ञ जीवकी सेवा आध्यात्मिकी है एवं प्रेमात्मिका सेवा आधिदैविकी है. क्रिया आधिभौतिकी है क्योंकि क्रिया purposeful होती है एवं लीला निष्प्रयोजनिका है. प्रावाहिकी भक्तिके अन्तर्गत नवधाभक्तिकी क्रियाका समावेश होता है. अत: अलौकिक सामर्थ्यकी प्राप्ति न होने तक सेवा आधिदैविकी नहीं मानी जाती. “**आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति. तदा सेवा न आधिदैविकी इत्युक्तं भवति**” (सेवाफलविवरणम्५) सानुभावकी प्राथमिकतम अवस्था है क्रियामें sentimentsका होना. Critically सोचनेपर अनुभाव अनुभ्रांति बन जाता है, प्रेमसे समझें तो अनुभाव भक्तिरूप हो जायेगा.

इन्द्रियोंद्वारा होता भोग भगवान्के साथ न जुड़नेपर लौकिक भोग हो जाता है. उन्हीं इन्द्रियोंद्वारा होते भोगका संचालन यदि भगवान् करें तो वह अलौकिक भोग/समर्पितका उपभोग बन जाता है. “**निष्प्रत्यूहं महान् भोग: प्रथमे विशते सदा**” (सेवाफल४) माहात्म्यज्ञान अपने अन्दर है जो आध्यात्मिक है क्योंकि ज्ञान प्रभुसम्बन्धी है परन्तु जीव

गौण होनेसे अपने संदर्भमें भगवान्‌की महत्ता समझते हैं. माहात्म्यज्ञान भी ससन्दर्भ ही समझा जाता है.

रति भक्तिका आधिदैविक पक्ष है. बाह्य इन्द्रियोंको रति जागतिक विषयोंसे है, भगवान्‌से नहीं. भगवान् अधोक्षज हैं, इन्द्रियोंसे अगम्य हैं. उनमें इन्द्रियोंकी रति कैसे हो? परन्तु हृदयस्थ आत्मरति भगवान्‌द्वारा ही प्रदत्त होनेसे वह आत्मरति भगवान्‌के प्रति ही आकर्षित होती है. (पुष्ट्या प्रकटा रतिः = पुष्टिभक्तिः). अतः भगवन्निष्ठ + भगवद्विषयक आत्मरति = आधिदैविकी भक्ति.

अतएव भक्तिका समावेश ४ पुरुषार्थोंमें नहीं किया जा सकता. धर्मबुद्ध्या की जाती भक्ति क्रियामात्र है, अर्थबुद्ध्या की जाती भक्ति धंधा है, लौकिक कामबुद्ध्या की जाती भक्ति कामकी rangeमें है, मोक्षबुद्ध्या की जाती भक्ति स्वार्थवृत्ति है. पुष्टिभक्ति भगवदर्थ हो तभी उत्तम है, अन्यथा स्वार्थ है.

वैदिकधर्मके अलावा अन्य धर्मोंमें उपदिष्ट धर्मका स्वरूप या तो ethical है, या फिर theological है, metaphysical नहीं है. वैदिकशास्त्र परन्तु metaphysical धर्मका उपदेश देता है जिसके कारण उपदिष्ट सभी साधनोंका metaphysical पक्ष प्राप्त होता है. यथा कर्ममार्गके लिए वेदके संहिता एवं आरण्यक विभागोंमें निर्दिष्ट सृष्टिका प्रकार यज्ञात्मक बताते हुए ब्रह्मको यज्ञकर्ता माना गया है. अतः सृष्टिका कर्मार्थ स्वरूप वहां उपदिष्ट हुआ है, भगवदर्थ नहीं. यज्ञकी व्याख्या देते हुए कर्ममार्गी कहते हैं "**देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः यागः**" (   ). अतः देवता भी फलप्रदाता होनेके अर्थमें सिस्टम्‌के पार्ट मात्र हैं. अतः सृष्टिका ऐसा कर्मात्मक format वेदमें कर्ममार्गी हेतु निर्दिष्ट है.

ब्रह्मने ज्ञान एवं ज्ञेय के विभागमें अपने आपको विभाजित

किया. अतः ज्ञानमार्गी भी ज्ञान प्राप्त करते हुए ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के विभागको विभक्त होनेपर भी एक ही जानता है. ये ज्ञानमार्गीय formatमें सृष्टिका स्वरूप है.

भक्तिमार्गीय सृष्टिका प्रकार बताते हुए वेद कहते हैं **"स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते, सः द्वितीयम् ऐच्छत्"** (बृह.उप.१।४।३). अर्थात् ब्रह्मको एकाकी रहना पसंद नहीं आया तब वह स्वयं ही पति एवं पत्नी के दो विभागोंमें विभक्त हो गए जिसमें पत्नी छुप गई है एवं पतिको उसे ढूंढनेका कार्य मिला. इसी रमणको समझाते हुए महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि आविर्भाव एवं तिरोभाव भगवान्‌की दो शक्तियां हैं जिनकेद्वारा ब्रह्म यही आंखमिचोलीका खेल सृष्टिगत आत्मस्वरूप नाम-रूप-कर्मोंके साथ खेलते हैं. तिरोहित चिदानन्दवाले सदंशमें हम चैतन्य खोजते हैं. तिरोहित आनन्दयुक्त चैतन्य जीवात्मा आनन्दको खोजती रहती है. इस तरह अनेकानेक रूपमें भगवान् यह रमण करते हैं. भगवान् भी पुष्टिद्वारा जीवको खोजते हैं एवं जीव भी भक्तिद्वारा भगवान्‌को खोजते रहते हैं.

अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भक्ति सृष्टिका प्रयोजन है? परन्तु जैसे आनन्दमें सत् एवं चित् तिरोहित नहीं है, परन्तु अप्रधान/गौण हैं, उसी तरह भक्तिमें कर्म एवं ज्ञान भी हैं ही. तो क्या भक्तिमें अन्य दो मार्ग dominating हैं? या भक्तिको प्रधान उद्देश्य माना जाए? यदि उद्देश्य है तो फिर सृष्टि भगवान्‌की निष्प्रयोजनिका क्रीड़ा नहीं रह जाएगी. यह dilemma है जो यहां आलेखपत्रमें discussed है.

(द्र. आलेखपत्र अन्तर्गत पुरोवचन एवं सुबोधिनी)

भगवान् ब्रह्माजीको आत्मरतिका स्वरूप समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करना ही वेदोक्त सभी साधनोंका

फल है. भगवान् हमारी आत्मारूप होनेके कारण ही सांसारिक पदार्थोंसे होनेवाला प्रेम भी मूलत: भगवत्प्रेमका विकृत रूप है. तदुपरांत भगवान् ब्रह्माजीको स्वरूपमें तिरोहित हुई सृष्टिको पुन: प्रकट करने हेतु आज्ञा देते हैं. प्रकृति-पुरुषके स्वामी भगवान्ने उन नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति करवाई एवं स्वयं तिरोहित हो गए. भगवान्ने उत्पन्न सभी पदार्थोंमें प्रेम करनेकी स्वरूपयोग्यता स्थापित की है, फलमुखयोग्यता नहीं. यही भक्तिका metaphysical justification है जिसे भागवतजीमें भगवान्ने ब्रह्माजीके प्रति कहा है. कर्म एवं ज्ञान भक्तिके parts बन रहे हैं creationकी processमें.

भगवान्को सर्वकी आत्मारूप जाननेसे क्या फल होता है? तो महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भगवान् तो पूर्ण है, अत: जीवके आत्मारूप होनेसे भगवान्को कोई लाभ नहीं है. परन्तु जीवके लिए आत्मासे सम्बन्धित देहादि होनेसे उनमें उसे प्रेम होता है, अन्यथा देहादिसे प्रेम नहीं होता. परन्तु भगवान्को आत्मारूप नहीं जाननेके कारण जीव भगवान् सम्बन्धी सुखको ग्रहण नहीं करते हैं. अत: जीव यदि भगवान्को आत्मारूप जानले तो सभी सुखोंका अनुभव करने योग्य बन जाता है. यही भक्ति रूपी साधनाका metaphysical aspect है.

(ड़. आलेखपत्र अन्तर्गत उपक्रम)

भक्तिको पुरुषार्थरूप कहनेसे पुरुषार्थमें effort चाहिये होंगे. भक्तिको प्रयोजन बता देनेसे सृष्टि लीला नहीं रह जायेगी. अत: प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भक्तिको मुख्य प्रयोजन कहे या सृष्टि रूपी लीलाका एक पार्ट है. अतएव हर साधनाका अन्तिम तात्पर्य भक्ति है परन्तु भक्तिका तात्पर्य साधनाचरणोंमें नहीं है. महाप्रभुके शास्त्रार्थप्रकरणमें उपदिष्ट वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि भक्ति रतिरूपा है, साधनरूपा मात्र नहीं. तथा अन्य सभी उपदिष्ट साधन भी जीवको भक्त्यधिकार प्राप्तिके हेतु योग्यता सिद्ध करवानेके लिये ही प्रयोजित हुए है.

(द्र. वेदोंके कर्मप्रतिपादक पूर्वकाण्डमें भक्तिका स्वरूप)

आधुनिक विचारकों द्वारा भक्तिको अवैदिक बताते हुए पौराणिक धर्म बताना, भक्तिके मूलस्वरूपका हनन है. वैदिक विचारपरम्परा एक धाराके रूपमें चली आती एक अविच्छिन्न परम्परा है. संहिता ब्राह्मण एवं निरुक्तादिमें भक्तिका स्वरूप वर्णित हुआ ही है. यद्यपि वह भक्ति यज्ञके अंगरूप एवं साधनरूपा होनेसे भाक्त है परन्तु तथापि भक्तिका निरूपण तो है ही. गीता-भागवतप्रोक्त निरुपाधिका स्वतन्त्र भक्ति शुद्ध एवं पुष्टिमार्गमें वाञ्छनीय है.

वेदमें भक्तिके औपादानिक तत्त्व बताये गये हैं. वेदमें निरूपित कोई भी क्रिया निर्देवताक नहीं है. कर्म एक क्रिया है जो भौतिक sphereमें प्रकट होती है. यदि यही क्रिया निर्देवताक रही तो जीवका आध्यात्मिक या आधिदैविक स्तरपर उत्थान उस क्रियाके द्वारा सम्भव नहीं रह जायेगा. अतः सभी कर्म देवतासहित निरूपित हुए हैं एवं जहाँ किसी देवविशेषका उल्लेख प्राप्त न होता हो वहाँ प्रजापति उस कर्मके अधिष्ठाता देवता हैं, ऐसा जान लेना चाहिये. यही कर्ममें निहित भक्तिका element है. प्रत्येक ऋतु राग वर्ण दिशा नित्य-नैमित्तिकादि कर्म, सभीमें अतएव देवताओंको अधिष्ठाता बताया गया हैं.

(वेदोके कर्मप्रतिपादक पूर्वकांडमें भक्तिका स्वरूप बिन्दु पांचसे)

वेदके सभी अंगोंमें निहारनेकी दृष्टि वैविध्यपूर्ण है. उद्धृत प्रमाणवचनोंमें यह उल्लिखित है कि ब्रह्म स्वयं माता पिता पुत्र आदि न होनेपर भी स्नेहवश उन सभी रूपोंमें प्रकट भी होता है. बौद्धिक-तार्किक दृष्टिसे यह तथ्य समझमें नहीं आता परन्तु, भावात्मक धैर्य होनेपर भगवान्के उन सभी रूपोंको जीव प्रतिभाव (रिस्पॉन्ड्) कर पायेगा. **''अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** (तैत्ति.आर.३।१३।३) श्रुतिवचनमें निरूपित 'धीराः'शब्द उसी भक्त्यात्मक धैर्यका निरूपक है, जिससे देवताका रूप अजायमान होनेपर भी स्नेहवश

जायमानरूप समझा जा सकता है. इसी लिये अर्चक, कर्मकर्ता अपने भावानुरूप देवताके स्वरूपमें माता पिता मित्र आदिकी भावना करता है. और देवता भी अर्चकके भक्तिभावका प्रतिभाव करते हुए उन्ही रूपोंको धारण भी करते हैं. ये वेदप्रतिपादित मन्त्रोंमें दृष्टिगोचर होती भक्ति है. वेदनिरूपित कुछ मन्त्र स्तुतिके है, कुछ मन्त्र निन्दा प्रशंसा परिदेवना आशीर्वाद आदिके हैं परन्तु सभीमें भक्तिभाव देखा जाता है. उपरोक्त पांच बिन्दुओं द्वारा वेदके मुख्य दो अंग; मन्त्र एवं विधि में भक्तिके अंगोका निरूपण किया है.

(कर्मसाधना और भक्तिसाधना के बीच रहा मौलिक प्रभेद)

कर्ममें भक्ति ही यदि दृष्टिगोचर होती है तो उसे वेदमें तात्पर्यवृत्तिमात्रसे क्यों स्वीकारा जाता है? महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्ति गोप्यधर्म है. अतः वेदमें कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग के अंगके रूपमें भक्तिका निरूपण करते हुए भक्तिको छुपाया गया है. जबकि गीता एवं भागवत में भक्तिके स्वरूपको उद्घाटित करते हुए कर्म एवं ज्ञान को भी भक्तिके अंग बता दिये है. कर्मविशिष्ट यज्ञरूप भगवान्‌का निरूपण वेदके पूर्वकाण्डमें किया गया है, ज्ञानविशिष्ट ब्रह्मका निरूपण वेदके उत्तरकाण्डमें किया गया है, जबकि कर्मज्ञानविशिष्ट स्वरूप भगवान् गीता एवं भागवत में निरूपित हुआ है. मुख्य प्रभेद अतएव भक्तिमार्ग एवं कर्ममार्ग में यही दिखलाई देता है कि कर्ममार्गमें देवता कर्मके अंगरूप होते है. यज्ञहेतु सम्पादित द्रव्य यज्ञार्थ होता है. यज्ञ देवताके लिये होता है. जबकि देवता जीवको फल प्रदान करने हेतु होते है. अतः देवताओंका उपयोग जीवके लिये कर्ममें बताया गया है, जबकि भक्तिमार्गमें जीव भगवदर्थ होता है, भगवान् जीवके लिये नहीं. इसी आत्मीयताके भावको जागृत करनेके लिये ही भक्तिमार्गमें दानका प्रकार न स्वीकारते हुए सर्वस्वके समर्पणका सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है; जिसके स्थानपर कर्ममार्गमें तो देवताको उद्देश्य बना कर द्रव्यका त्याग/दान किया जाता है.

पुराणोंमें वेदधर्मका अतिदेश किया गया है. भागवतमें भक्तिका निरूपण भी विविध प्रकारोंसे किया गया है. यथा कपिलदेवजीने देवहूतिजीको भक्तिका उपदेश त्याग/वैराग्यकी प्रधानतासे दिया जबकि भगवान्‌ने उद्धवजीको जो उपदेश दिया उसमें सभी साधनोंका अन्तिम लक्ष्य भक्तिकी सिद्धि है यह बताया, जिसमें भक्तिके होनेपर भी ज्ञान वैराग्य तप योग आदि सभीकी व्यर्थता बताते हुए यह कहा है कि भक्तिसे ही सभी फलसिद्धि हो जायेगी, अन्यसाधनोंकी अपेक्षा ही नहीं है. भागवतवर्णित भक्तिकी इन विविध शैंङ्को समझनेके लिये भागवतके उपक्रम एवं उपसंहार में उद्धृत वचनोंपर दृष्टिपात करना चाहिये. ‘‘धर्मः प्रोज्झितकैतवो अत्र परमो निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु शुभदं तापत्रयोन्मूलनं श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैर् ईश्वरः सद्यो हृदि अवरुध्यते अत्र कृतिभिः शुश्रुषुभिः तत्क्षणात्’’ ‘‘कथाः इमास् ते कथिताः महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषां विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभोः वचोविभूतिः नतु पारमार्थ्यम्’’ (भाग.पुरा.१।१।२,१२।३।१४) भागवत निरूपित भगवान्‌का स्वरूप एवं भगवान्‌की दशविध लीलाएं सृष्टिको भगवद्रूप बताते हुए जीवके हृदयमें लीलात्मक सृष्टिके स्वरूपको हृदयारूढ़ कराती है कि जिससे भक्ति ज्ञान-वैराग्यनिरपेक्ष सिद्ध हो. अत: दशविध लीलाओंके अन्तर्गत भगवदितर सभीके चरित्र विवेचनका मुख्य प्रयोजन वैराग्यकी विवक्षा है. अन्यथा बिना भक्तिका ज्ञान-वैराग्य एवं सृष्टिको ब्रह्मरूपतया जान लेना तो मुक्त्यर्थ साधन सिद्ध हो जायेगा, भक्त्यर्थ नहीं.

भक्तिभावरहित प्राप्त हुआ ज्ञान तो मिथ्या बोधके प्रति भी प्रेरित कर सकता है. जैसे अहं ब्रह्मास्मिका ज्ञान होनेपर ज्ञानी जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें आत्मातिरिक्त सभी पदार्थोंको निवृत्त करनेकी आकांक्षा रखते हुए देहादि सभी पदार्थोंको मिथ्या मानने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप लीलार्थ प्रकट सृष्टि एवं स्रष्टा स्वयं भी मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे. भक्तिसिद्धि हेतु यद्यपि ज्ञान ही प्रथम सोपानतया स्वीकृत है, परन्तु फलप्राप्त होनेपर वह ज्ञानका फल है या भक्तिका फल; इसका

निश्चय कैसे होगा? भक्ति एवं ज्ञान मेंसे ज्ञानमात्रका चयन किया जाये तो बिना भक्तिका ज्ञान तो शोभायमान नहीं माना जाता. अतः स्वतन्त्रभक्ति फलसाधिका अवश्य होती है परन्तु बिना भक्तिके कर्म और ज्ञान फलसाधक नहीं रह जाते, यथा देवताके प्रति भक्तिके अभाववश कर्म लौकिक क्रिया मात्र रह जाते हैं, परिणामवश निष्फल सिद्ध होंगे. अतः फलसाधक भक्ति ही मानी जायेगी, ज्ञान कर्म नहीं.

ब्रह्मके सत् चित् एवं आनन्द धर्मोका भी विभाजन जब सृष्टिके आदिकालमें होता है तब भी तीनों धर्म विभक्त हो जानेपर भी लीला प्रयोजनतया आनन्दगुणधर्म आविर्भूत सदंश एवं चिदंश में निहित रहता होनेसे सदंशसे प्रकट कर्म, चेतनासे प्रकट ज्ञानमें, प्रियतासे प्रकट भक्तिको प्रयोजिका/अन्तर्निहित माननी ही होगी. अतः आनन्द भले ही तिरोहित धर्म हो तथापि जागतिक वैषयिक सुखकी पृष्ठभूमिमें भी उसी ब्रह्मानन्दका अंश कार्य करता है. विषयसुख आत्मसुख ब्रह्मात्म्यैक्यसुख आदि सभी सुखोंमें एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके मौलिक ऐतदात्म्यका ही अनुभाव होता है. यही भक्तिका औपनिषदिक फॉर्मेट् है. अतः क्योंकि प्रकट हुए द्वैतमें अद्वैत अन्तर्निहित है, भक्ति-भजनीय एवं भक्त का त्रैविध्य ब्रह्माद्वैतमें बाधक सिद्ध नहीं होता है. इसी अद्वैतबोधवश भक्तद्वारा किया गया समर्पित पदार्थोंका उपभोग अलौकिक भोग माना जाता है, जो भक्तिसाधक है. अतः भागवतवर्णित सभी लीलाएं अन्ततः भगवान्के स्वरूपमें जीवको अनुरक्त करने हेतु ही प्रयोजित हुयी हैं. भगवान्के अनुग्रहका अनुभव जीवको यद्यपि सहसा नहीं होता परन्तु धीरे-धीरे भक्तिका अनुभाव प्रकट होनेपर कृपाका अनुमान होने लगता है. भागवतवर्णित लीलाओंके प्रभेदवश यह भी स्पष्ट है कि भगवान्के अनुग्रहके भी विविध प्रकार होते हैं जिसके परिणामस्वरूप भक्तिके भी विविध प्रकार देखे जा सकते हैं. परन्तु अन्ततः तो आत्मरमणशील भगवान्की अंशीरूपिणी आत्मरतिका अंशात्मना प्रकटरूप भक्ति है. अनुग्रह

अतएव जीवोद्देश्यक सिद्ध हुआ, जबकि भक्ति परमात्मोद्देश्यक सिद्ध होगी. इसी अनुग्रहजन्य भक्तिको महाप्रभु भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें निरूपित करते हुए आज्ञा करते हैं कि हृदयस्थ बीजभाव ही रुचि प्रेम आसक्ति व्यसनादि अवस्थाओंमें पर्यवसित होता है जोकि अनुग्रह रूपी बीजभावके दृढ़ीकरणकी प्रक्रिया है.

वेदनिरूपित सच्चिदानन्द ब्रह्मकी आत्मरति ही अंशात्मना विषयरतिसे ले कर आत्मरति पर्यन्त अनेकानेक रूपोंमें प्रकट होती है. परन्तु अंशात्मिका इसी रतिको भजनानन्दरति या ब्रह्मानन्दरति बननेके लिये भगवान्‌के अनुग्रहकी अपेक्षा रहती है. चाहे वह मर्यादामार्गीय जीवके ऊपर होता अनुग्रह हो, चाहे पुष्टिमार्गीय जीवके ऊपर होता अनुग्रह हो. जैसे ब्रह्म एकमेवाद्वितीय होनेपर भी अनेक रूपोंमें प्रकट होते है, जैसे सत्ता चेतना एवं प्रियता गुणधर्म स्वरूपत: एक होनेपर भी अनेकभावापन्न होते हैं उसी तरह भगवत्कृपा भी अनेकानेक रूपोंमें जीवोंके अधिकारानुसार प्रकट होती हैं जिनका विशद् निरूपण प्रभुचरणने 'भक्तिहेतुनिर्णय' ग्रन्थमें किया है.

भक्तिका उपादान आत्मरति है और निमित्तकारण अनुग्रह है. भगवान् द्वारा जीवमें स्थापित आत्मरतिमें जब जीव स्वरूपस्थ होता है तब वह कृतार्थ होता है. आत्मरति भी विषयासक्ति मुक्त्यासक्ति आदि अनेकानेक फॉर्मेट्‌में (रूप) कार्यरत होती है. इन सभीमेंसे जीव जिस किसीमें अधिकारानुसार एवं वर्णानुसार स्वरूपस्थ होता है उसीके द्वारा उस जीवका उद्धार होता है, अन्यथा लीलास्थित रूपमें बना रहता है. अत: विभिन्न अनुग्रहोंके फॉर्मेट्रके अनुसार ही आत्मरतिकी उद्धारकताके भी विभिन्न फॉर्मेट्र देखे जाते है.

अवतार एवम् उद्धार; दोनों ही विरुद्धार्थक शब्द है. उद्धारसे तात्पर्य है ऊपर उठना, जबकि अवतरणसे तात्पर्य है नीचे आना.

जैसे भगवान् द्वारा होती उद्धारकताके अनेक रूप है उसी तरह बन्धकताके भी अनेक रूप हैं. ज्ञानवैराग्यजनित भक्ति, ज्ञानवैराग्यरहित भक्ति, ज्ञानवैराग्यसहित भक्ति आदि अनेक प्रकार देखे जाते हैं.

भगवान् जीवका उद्धार जब अपने रूपसे प्रकट करते हैं तब रूप द्वारा होनेवाले उद्धारमेंसे माहात्म्यज्ञान एवं वैराग्य की अपेक्षा भगवान् नहीं रखते हैं. भगवान्के स्वयम् अवतीर्ण हो जानेपर सभी नियम सस्पॅन्ड हो जाते है क्योंकि अपनी सभी शक्तियोंके साथ भगवान् प्रकट होते हैं. अतएव कृष्णके प्राकट्यकी लीला 'निरोधरूपा' कही गई है. यद्यपि भगवान् कभी शक्तियोंके साथ होते हैं तथा कभी शक्तियोंको अप्रकट रखते हुए भी होते हैं. अवतरणके कन्सॅप्टमें ही विरुद्धधर्माश्रयता छूपी हुई है, जो सर्वत्र विद्यमान है उसका अप्रकट स्थानपर प्राकट्य कैसे सम्भव होगा? तथापि भगवान् तिरोहित स्थानपर प्रकट होते हैं. ग्राहकशक्ति एवं ग्रहणशक्ति के इन्टरॅक्शनूसे ही प्राकट्य एवम् अप्राकट्य की क्रिया होती है.

वेद भागवत गीता पुराणान्तर में भक्तिके प्रतिपादनकी शैली भिन्न-भिन्न है. भागवतमें निरूपित भक्ति ज्ञानवैराग्यजनित नहीं अपितु ज्ञानवैराग्यजनिका है. उपनिषद् एवं पुराणान्तरों में ज्ञानवैराग्यजन्य भक्तिका निरूपण किया गया है जो मुक्तिप्रदायिका है. उस भक्तिके द्वारा होती उद्धारकतामें अनुग्रह भी तदनुसारी ही होता है. परन्तु भागवतमें निरूपित उद्धारमें भगवान्का रूप प्रकट होता है, जिसमें ज्ञान-वैराग्यको प्रकट करनेकी आवश्यकता ही नहीं है. रूपद्वारा होनेवाले उद्धारमें अन्यकी आवश्यकता ही नहीं है. निरुपाधिक भक्तिमें अनुग्रह भी निरुपाधिक होता है, सोपाधिक भक्तिमें अनुग्रह भी सोपाधिक ही होता है. भगवद्रूप द्वारा उद्धार शुद्धपुष्टिजीवोंका होता है, भगवत्कथा द्वारा उद्धार मिश्रपुष्टिजीवोंका भी होता है; एवं भागवतीय कथारूप साधन सेवाके अनुकल्परूप है.

अनुग्रह भी तोष दया कृपा आदि फॉर्मेट्में होता है. अनुग्रहके इन प्रकारोंके कारण प्रकट होती भक्तिमें भी प्रभेद देखे जाते हैं. अनुग्रहके इस ढांचेमें ही भक्ति ढलती होनेसे उसी आकारको धारण करती है, अतः भेद देखे जाते है. भक्तिका निरूपण वेदके पूर्वकाण्ड उत्तरकाण्ड वेदांग पुराण स्मृति आदि सभी शास्त्रोंमें यद्यपि प्राप्त अवश्य होता है, तथापि वे सब भक्ति एक ही प्रकारकी नहीं है. इन प्रभेदोंमें विवेकदृष्टिका होना आवश्यक है भक्तिके स्वरूप निर्धारणार्थ. जैसे कर्मके अन्तर्गत निरूपित भक्ति अंगरूपा है जिसमें प्रधानता अंगीकी है अंगकी नहीं, अतः वह पुष्टिभक्ति नहीं है. उसी तरह पुष्टिके अन्तर्गत भी भक्तिजन्य भगवद्रूपके अधिकारी मिश्रपुष्टि जीव होते है, जबकि रूपजन्यभक्तिके अधिकारी शुद्धपुष्टिजीव होते है. ये सब अवान्तरप्रभेद भक्तिके हैं जिन्हें एक नहीं समझा जा सकता.

कृष्णावतारके समय भगवान्ने कंस द्वारा भेजे गये असुरोंको भी मोक्ष प्रदान करते हुए उनका उद्धार अपनी अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यके द्वारा किया. सबका उद्धार करनेका सामर्थ्य भगवान्का है. भगवान्के इस स्वातन्त्र्यको स्वीकारे बिना भगवान्के स्वरूपको नहीं समझा जा सकता है. कार्यतया प्रकट होती भक्ति भले ही विभिन्न प्रकारकी हों तथापि उन सभीमें रही हुयी भगवान्की उद्धारकशक्ति एक ही है. पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्ति मिश्रपुष्टिभक्ति आदिमें आत्मरतिका अविच्छिन्नभेद है, विच्छिन्नभेद नहीं, जहाँ भेद स्वाभाविक नहीं है ऐच्छिक है. भगवान् अपनी विभिन्नशक्तियों द्वारा जीवोंका पोषण करते हैं, एवं भगवान्की तरह भगवान्की शक्तियोंमें भी बहुभवन सामर्थ्य है जिनका उपयोग जीवोंके अधिकारानुसार भगवान् करते हैं.

(भक्तिहेतुनिर्णयग्रन्थमें प्रतिपाद्यविषय)

अन्यविचारकी परम्परा एवं ब्रह्मवादीय दृष्टिमें भेद यह है कि विविधताके प्रति सहिष्णुदृष्टि उपनिषत् प्रदान करता है जबकि अन्यधर्मोमें

एवम् अनेकानेक विचार परम्पराएं उतनी सहिष्णुदृष्टि नहीं निभा पाती. ब्रह्म स्वयं ही सृष्टिके प्रति निमित्त एवम् उपादान कारण होनेसे अनेकतामें एकताकी दृष्टि उपनिषद् देता है. जबकि ईश्वरको कारणतया न स्वीकारते हुए, कर्तामात्रतया स्वीकारनेके कारण एकत्वकी दृष्टि पनपती नहीं है. जैसे सृष्टिके सभी नाम-रूप-कर्म अनेक होनेपर भी एक है उसी तरह पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्ति आदि भक्तिके भी विविध प्रकारोंके प्रभेद जो निरूपित हुए हैं उनका भी प्रयोजन असहिष्णुवृत्ति प्रकट करनेके लिये नहीं है, अपितु विवेकके उद्बोधनार्थ है. भगवान् द्वारा होती पुष्टिमें भी स्वभावानुपाती एवं सामर्थ्यानुपाती पुष्टिके भेद देखे जाते हैं जिनमेंसे स्वभावानुपाती पुष्टिके अधिकारी पुष्टिजीव बताये गये हैं; लीला भगवान्का स्वाभाविक धर्म होनेसे. सृष्टिमें प्रत्येक कर्म ज्ञानेच्छाप्रयत्नसे जन्य होते हुए भी सम्पूर्ण सृष्टिकार्यका उद्गम तो भगवान्की स्वतन्त्र अनायासेन क्रियमाण चेष्टारूप लीलाका ही परिणाम है. **‘‘अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टा लीला’’** (सुबो.१।१।१७) अतः भक्ति भले ही भगवान्के आनन्द गुणधर्मसे जन्य हो, तथापि उसमें ज्ञान एवं क्रिया अवान्तरधर्मतया अंग बनते ही है क्योंकि क्रियाका तिरोधान स्नेहमें सम्भव हो, परन्तु स्नेहमें क्रियाका तिरोधान सम्भव नहीं है.

अतएव प्रभुचरणने भगवद्धर्मरूप याग दान आदि धर्मोंको भक्तिके हेतु माननेका विकल्प पूर्वपक्षतया उपस्थापित किया है. **‘‘दान-व्रत-तपो-होम-जप-स्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिः विविधैः च अन्यैः कृष्णे भक्तिः हि साध्यते’’** (भाग.पुरा.१०।४७।२४) यद्यपि वर्णाश्रमाचार, वैदिक कर्म, ज्ञान आदि भक्तिके मुख्य हेतु नहीं है, एवं आवश्यक नहीं है तथापि उनका समुच्चय भक्तिके साधनोंमें महाप्रभुको मान्य है. महाप्रभुजी श्रीगोपीनाथजी एवं प्रभुचरणों के वचनोंपर दृष्टिपात करनेसे यह विवेक प्रकट होता है. प्रारम्भिक अवस्थामें देहाभिमान होनेपर उन धर्मोंका आचरण किया जाय, एवं देहाभिमान निवृत्त हो जानेपर उन धर्मोंका निवृत्त हो जाना भी मान्य है. शास्त्रविधिका त्याग करते हुए स्वच्छन्दाचरण भी दोषरूप

बताया गया होनेसे धर्मत्यागपूर्वककी की गई भक्ति भी वेदनिन्दारूप अधर्म ही सिद्ध होगी जिसका परिणाम हीनयोनि आदिमें जन्म होना बताते हुए भक्तिमें प्रतिबन्धक ही बताया गया है. अत: अवस्थाभेदानुसार धर्मपालनपूर्वक भक्ति एवम् अवस्थाविशेषमें धर्मत्याग आदिमें विवेक रखना ही आवश्यक है.

समस्या इस पक्षमें यह उत्पन्न होती है कि शास्त्राज्ञाके पालन एवं दुर्वृत्तिरहित भी अनिच्छया हो जाते शास्त्राज्ञाके उल्लंघनमें विवेक कैसे रखा जाये? समाधानतया तीन पक्ष विचारणीय है.

१. ब्रह्म स्वयं निर्गुण होनेके कारण जैसे प्रकृतिके गुणोंसे पर है वैसे जो जीव वेदप्रतिपादित साधनोंका अनुसरण करते हुए निर्गुण अवस्थाको प्राप्त कर लेता है, वह भी उन गुणोंके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है. अत: जैसे ब्रह्मज्ञानी सभी गुणोंसे निवृत्त हो जानेपर अध्यासमूलक कर्तव्योंसे मुक्त हो जाता है वैसे भक्त भी स्नेहकी चरमावस्थापर पहोंच कर अध्यासग्रस्त नहीं रह जाता होनेसे सभी बन्धनोंसे मुक्त हो जानेके कारण स्वच्छन्दाचारी नहीं कहलाया जा सकता है.

२. ज्ञानी या भक्त में प्रारम्भिक अवस्थामें यदि शास्त्रविरुद्ध आचरण दिखलाई दे तो या तो उनपर कृपा नहीं हुयी है ऐसा माने या फिर कोई चर्षणी जीव मार्गमें आ गया है ऐसा समझा जाये. एक अन्यकल्प यह भी है कि सगुण होनेसे जीवके लिये शास्त्राज्ञाका अनुसरण आवश्यक है, परन्तु भगवान् निर्गुण एवं स्वतन्त्र होनेसे नियमका बाध करते हुए उनका उद्धार करनेका सामर्थ्य भगवान्में तो स्वीकारना ही होगा.

३. शास्त्रविहित साधनों द्वारा उद्धार भी जब कृपानिरपेक्ष नहीं है तब साधनोंके ऊपर अवलम्बन रखनेवाले जीवका उद्धार भी बिना

कृपा मान्य नहीं. तब मुख्यता तो कृपाकी ही मानी गई. अतः भगवात्कृपा एवं धर्माचरण का नियतसाहचर्य नहीं है क्योंकि भगवान्‌ने अपने अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यके उपयोग द्वारा जीवोंका उद्धार बिना धर्माचरणके किया ही है.

जैसे मिश्रपुष्टिजीवके अन्तर्गत गुणज्ञादि भेदोंसे पुष्टिजीवमें मर्यादामिश्र प्रकार सोचे गये है उसी प्रकारसे मर्यादामार्गके मुख्यकल्पके अन्तर्गत भी पुष्टिके अवान्तरप्रभेद सम्भव है. अतः इन सभी प्रभेदोंका विचार करते हुए बिना धर्माचरणकी अपेक्षा रखे भगवान्‌के साक्षाद् अनुग्रहके द्वारा भगवान् द्वारा प्रदत्त भक्तिको प्राप्त करनेवाले शुद्धपुष्टिजीव भी है इनका निरूपण प्रभुचरण ‘भक्तिहेतुनिर्णय’ ग्रन्थमें करना चाह रहे हैं. अतः यह महाप्रभुजी एवं श्रीगोपीनाथजी के वचनसे संगत ही है, विरुद्ध नहीं. मिश्रपुष्टिजीव साधनमिश्रित होनेसे, उनके द्वारा होती भक्तिमें अन्यसाधनोंकी अपेक्षा रहती है. किन्तु शुद्धपुष्टिजीव साधनमिश्र न होनेसे उनके द्वारा होती भक्ति एवं भगवान्‌का उनपर हुआ अनुग्रह भी भिन्न है, जो सर्वसाधननिरपेक्ष है. महाप्रभु ऐसी शुद्धपुष्टिभक्तिको दुर्लभ बता रहे हैं. अतः शास्त्रविहित कर्म ज्ञान वैराग्य धर्मसहित होती भक्ति मिश्रजीवोंके लिए साधनरूप है, परन्तु शुद्धपुष्टिभक्तके हेतु आवश्यक नहीं है. अतः लेशमात्र भी विरोध न हो कर भगवान्‌के अनुग्रहकी विविधताके अनुसार जीवोंमें प्रकट होती भक्तिके प्रभेदोंमें विवेकदृष्टि रखते हुए कर्तव्यनिर्धारण करना ही अपेक्षित है.

भगवान् द्वारा निर्मित सृष्टिमें भगवद्रूप अनेकानेक नाम-रूप एवं कर्म स्थित हैं. अतः ourness के साथ साथ otherness भी आदरणीय एवं स्वीकरणीय है. otherness बहोत प्रकारसे समझी जा सकती है :

Logical Otherness

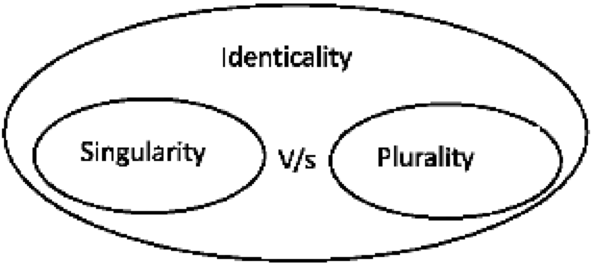
Identicality
Singularity
V/s
Plurality

Metaphysical Otherness

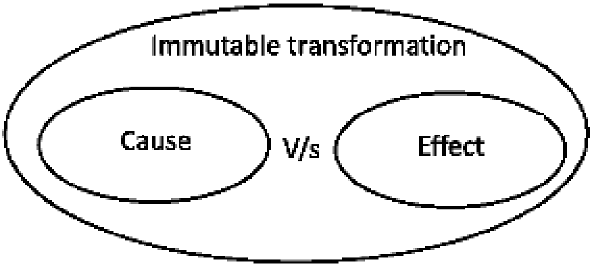
Immutable transformation
Cause
V/s
Effect

Theological Otherness

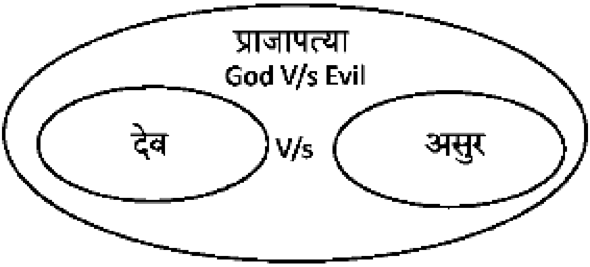
प्राजापत्या
God V/s Evil
देव
V/s
असुर

Ethical Otherness Karayita

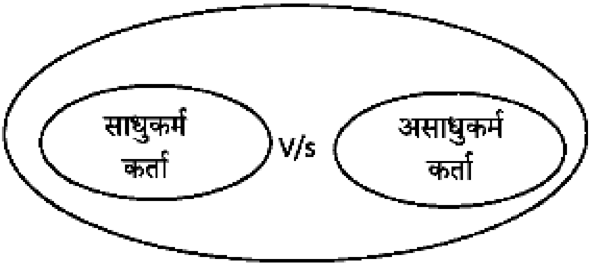
साधुकर्म कर्ता
V/s
असाधुकर्म कर्ता

Devotional Otherness

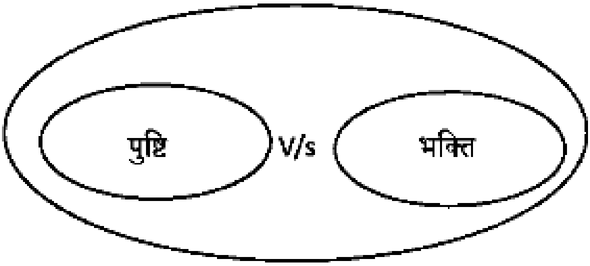

Sectorial Otherness

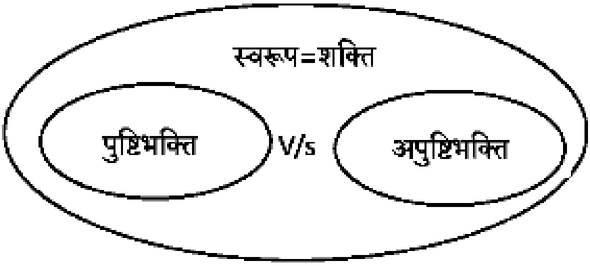
स्वरूप=शक्ति
पुष्टिभक्ति
V/s
अपुष्टिभक्ति

1. **Logical otherness** :
   singularity, plurality
2. **Metaphysical otherness** :
   cause effect
3. **Theological otherness** :
   god, evil
4. **Ethical otherness** :
   साधुकर्म कर्ता, असाधुकर्मकर्ता
5. **Devotional otherness** :
   पुष्टि, भक्ति
6. **Sectorial otherness** :
   पुष्टिभक्ति, अपुष्टिभक्ति.

उपरोक्त सभी परस्पर विरुद्ध प्रकारोके बाहर एक बड़ा वर्तुल ब्रह्मवादमें प्राप्त होता ही है क्योंकि ब्रह्म ही सभी विरुद्धधर्मोंका आश्रय है. यथा देव एवं दानव परस्पर विरुद्ध होनेपर भी प्रजापतिसे ही प्रकट हुए हैं. **"द्वया ह वै प्राजापत्या: देवाश्च असुराश्च"** (बृह.उप.१।३।१) तथैव कार्य एवं कारण भी परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अविकृतपरिणामके अन्तर्गत एक ही सिद्ध होते हैं. अत: मूल उद्गम देखनेपर तो सभी प्रभेद निरस्त हो कर मूल ब्रह्मकी बहुभवनेच्छाके अन्तर्गत एकत्वेन मान्य हो जाते हैं. ब्रह्मके माहात्म्यज्ञानके महावृत्तमें सभी भेद-उपभेद subclass बन जाते हैं.

(द्र.आलेखपत्रान्तर्गत भक्तिहंसग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार वेदके पूर्वकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड में निरूपित तत्त्व ब्रह्म है. पूर्वकाण्ड विधिनिषेधरूप धर्म प्रतिपादक वेदविभाग है. श्रीशंकराचार्यजीके मतानुसार ब्रह्म सर्वथा अवाच्य होनेसे वाणी निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है, किन्तु महाप्रभुके

मतानुसार ब्रह्म सर्वथा अनिर्वचनीय नहीं है, अपितु प्रकट एकपादमें वचनीय है, एवं त्रिपादमें अनिर्वचनीय. "**चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुः ब्रह्मणाः ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचा मनुष्याः वदन्ति**" (ऋक्.संहि.१।१६४।४५) अतः ज्ञानकाण्ड निरूपित वेदविभागमें ब्रह्मको जब बांधा न जा सकता हो, तब पूर्वकाण्ड प्रतिपादित विभागमें निरूपित विधिनिषेध ब्रह्मके लिए कैसे हो सकते हैं? अतः उन्हे मनुष्याधिकारक मानने होंगे, एवं ब्रह्मको तो इन सभी सीमाओंसे परे ही स्वीकारना होगा.

अतः प्रभुचरणद्वारा प्रतिपादित भक्तिहंस ग्रन्थके मंगलाचरणमें आप आज्ञा करते हैं कि भगवान् मन्त्र विधि अर्चनादि से अस्पृष्ट हो कर रमणशील हैं, एवं वेदप्रतिपादित विधियोंमे बंध कर फलप्रदायकता तो भगवद्विभूतिस्वरूप देवताओमें देखी जाती है, ब्रह्ममें नहीं क्योंकि विधि-निषेधका बन्धन सगुण जीवोंके लिए है, निर्गुणावस्थाको प्राप्त हुए जीवोके लिए एवं ब्रह्मके लिए नहीं है. देवता भी सभी सगुण होनेसे कर्मविभाग प्रतिपादित विधि-निषेधकी व्यवस्थामें बंध कर जीवो द्वारा किये गए कर्मोंके फलस्वरूप उन्हें लौकिक किंवा मुक्ति आदि फल प्रदान करते हैं. अतः ग्रन्थप्रोक्त मंगलाचरणसे यह स्पष्ट होता है कि जिस भक्तिको यहां प्रभुचरण प्रतिपादित करना चाहते हैं, वह भक्ति साधनाश्रित भक्ति न हो कर साधनोंके मिश्ररूपोंसे रहित शुद्धभक्ति है, जिनके अधिकारी भी साधनावलम्बनरहित शुद्धपुष्टिभक्त व्रजभक्तादि ही है. अब यहां शंका यह उपस्थित होती है कि प्रभुचरण भक्तिहंस ग्रन्थमें 'भक्ति'शब्दसे व्याख्यायित भक्तिको ही लक्षित कर रहे हैं, किंवा भक्तिके अनेकानेक रूपोंको भी?

हंस जैसे नीर एवं क्षीर में विवेक कर पाता है, उसी तरह स्वतन्त्रभक्ति, मर्यादाभक्ति, पुष्टिभक्ति, कर्मज्ञानमिश्रितभक्ति, ज्ञान-वैराग्यजन्यभक्ति आदि भक्तिके अनेकानेक प्रभेदोंको भी लक्षित करते

हुए प्रभुचरणोंने शुद्धपुष्टिभक्तिको इन सभी प्रकारोंसे भिन्न सिद्ध करते हुए भक्तिके शुद्धतम रूपका निरूपण भक्तिहंस ग्रन्थमें किया है. शास्त्रप्रतिपादित भक्तिके जैसे वैदिक सन्दर्भका विचार किया गया तथैव पौराणिक तान्त्रिकादि प्रकारोंका भी विचार प्रस्तुत प्रसंगमें प्रासंगिक बनता है.

(पुराणप्रोक्त भक्तिके लक्षणका विमर्श)

महाप्रभु भागवत तृतीयस्कन्धकी सुबोधिनीमें आज्ञा करते हैं कि भगवदाज्ञासे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य विष्णुस्वामी आदिने भक्तिमार्ग (प्रकट) किये है, जिनमेंसे अन्य सभी मार्ग सगुणभक्तिमार्ग हैं, जबकि महाप्रभुद्वारा उपदिष्ट मार्ग निर्गुणभक्तिमार्ग है. उपरोक्त वचन द्वारा अन्यमार्गोंको भी मान्य करनेके कारण कई लोगोको यह भ्रांति हो जाती है कि विशिष्टाद्वैतकी तरह महाप्रभुको भी द्वैताद्वैत मान्य है. किन्तु महाप्रभुको मान्य तादात्म्यवादमें स्वाभाविक अद्वैत मान्य होनेपर भी ऐच्छिक द्वैत अमान्य नहीं है. अतः जैसे तादात्म्यवादमें अद्वैत स्वीकृत है, तथैव भगवदिच्छासे प्रकट द्वैत भी स्वीकृत होनेसे भक्तिके भी अनेकानेक प्रकार भगवान्‌की इच्छासे ही प्रकट हुए होनेसे अमान्य नहीं हैं.

(द्र.भाग.सुबो.३।२९।७-२७)

महाप्रभु भक्तिके भेदोपभेदको प्रतिपादित करते हुए आज्ञा करते हैं कि फलाशासे की गई भक्ति, अर्चनपरक कर्मरूपा भक्ति, मोक्षकी इच्छासे की गई भक्ति आदि अनेकानेक भक्तिके प्रकार हैं, किन्तु ये सभी प्रकार उत्तम एवं पुष्टिभक्तितया स्वीकृत कदापि नहीं हैं. यहां ऐच्छिक भेदको सत्य/पारमार्थिक मानते हुए सगुण स्वभावके जीवो द्वारा होती भक्तिके राजसी, तामसी प्रकारोंका भी उल्लेख किया गया है एवं अभेदको स्वाभाविक मानते हुए चतुर्थी निर्गुण भक्तिका भी निरूपण किया गया है. यहां भेदबुद्धिवशात् सगुणाभक्तिके मुख्य ३ एवं अवान्तर ९ प्रकार स्वीकारते हुए निर्गुणा भक्तिका दसवां प्रकल्प निरूपित हुआ है. सगुण अवस्था किंवा सगुणभावसे रहित होनेपर

तो निर्गुण जीव द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य, अर्चन, शास्त्रविधि, दान, तप आदि भी निर्गुण ही होते हैं. अतः अर्चनकी क्रिया निषिद्ध किंवा निन्दित नहीं है, अपितु यदि वह सगुणभावसे की जाए तो निन्दित बन जाती है. उसी प्रकारसे "भगवान् शास्त्रीय विधिसे अस्पृष्ट हैं" इस उक्तिसे भी प्रभुचरणका यही तात्पर्य है कि यदि कृपावलम्बी न हो कर साधनावलम्बी भक्त हो जाये, तो भगवान् उन सभी साधनोंसे सर्वथा अप्राप्य एवं अस्पृश्य हैं, क्योंकि ब्रह्म विधिके अधीन नहीं है किन्तु यदि उन्हीं शास्त्रीय विधियोंका अनुसरण अपनी वर्णाश्रमीय अहंता-ममताको छोड कर भगवद्दास होनेकी अहंतासे किया जाये तो वे भी समर्पित हो जानेसे सगुण न रह जा कर अलौकिक ही हो जाते हैं. अतः कौनसी क्रियामें भक्ति अंगी न रह कर अंगरूप बन जाती है, एवं किस क्रियामें भक्ति अंगी बन कर सभी क्रियाओंको अंगरूप बना लेती है, इनमें परस्पर विवेकबुद्धिका होना आवश्यक है.

Legal petition 5 main parts :

1) Facts of the case.
2) Question of law.
3) Ground.
4) Averment.
5) Prayer-conclusion.

उपरोक्त पांचो अंगोका समावेश प्रस्तुत आलेखमें भी किया गया है.

१. Facts of case 'prologue' (उपक्रम) है कि जिसमें प्रमुख विचारणीय विषय प्रस्तुत किया गया है कि भक्ति प्रयोजन है या लीला है. भक्तिका उपादानकारण आत्मरति है जिसकी लीला भक्ति है. अतः भक्ति भगवान्‌की सृष्टि रूपी रूपलीलामें प्रयोजन न हो कर लीला है, परन्तु नामलीलामें भक्ति प्रयोजनतया आ रही है.

२. Question of law यहां यह है कि वेद पुराण तन्त्रादि के अनुसार भक्तिके भी कुछ formats हैं.

३. अपने विचारका ground यहां यह है कि भक्तिके प्रकार अनेक होते हुए भी otherness को soft कैसे की जाए.

४. Averment अर्थात् प्रतिज्ञातया प्रतिपादित वाक्य यहां अब विचारणीय बिन्दुतया आ रहे हैं.

५. आलेखपत्रके उपसंहारतया लिखित मंगलाचरण है.

यहां विचारणीय पक्ष दो हैं : प्रथम तो यह कि वेदोक्त भक्तिका प्रकार ज्ञानांग हो चाहे कर्मांग हो, भक्तिके elements तो उनमें हैं ही. कर्म एवं ज्ञान को यदि अंगी बना लिया जाए, तो भक्ति अंग बन जाएगी. भक्तिको अंगी बनाते हुए कर्म एवं ज्ञान का भक्तिमें समावेश किया जाए, तो भक्तिकी मुख्यता हो जाएगी.

पुराण द्वारा प्रतिपादित भक्तिको अंगी बनाते हुए अन्य सभी साधनोंको अंगरूप बताये गए हैं. भक्तिमें फलमुखयोग्यता कृपाद्वारा आती है.

प्रभुचरण भक्तिहंसमें आज्ञा करते हैं कि भगवान् तन्त्र, शास्त्र आदिकी विधियोंसे अस्पृष्ट हो कर बिराजते हैं. इस विधानके कारण स्वमार्गीय भक्तिके साधनसम्बन्धी शंका उपस्थित होती है कि तन्त्रादि साधन एवं मन्त्रों का विनियोग पुष्टिमार्गीय सेवामें किया जाए या न किया जाए? क्या इनका विनियोग सेवामें करनेपर वह मर्यादामार्गीय हो जाएगी या पुष्टिमार्गीय मानी जायेगी? क्योंकि विधि एवं मन्त्र विभूतिपरक होते हैं, पुरुषोत्तमपरक नहीं. तन्त्रयुक्तिके स्पष्ट होनेपर इस शंकाका समाधान सम्भव है. जैसे गुणोपसंहार एक तन्त्रयुक्ति है या वेदमें 'आत्मा' शब्द परमात्मवाची है, जीवात्मावाचक नहीं. ये सब तन्त्रयुक्ति हैं.

महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भागवतमें सर्वत्र कृष्णका ही निरूपण

किया गया है, जहां अभिधावृत्तिसे कृष्ण न प्रतीत होते है वहां भी तात्पर्यवृत्तिसे कृष्ण प्रतिपादित हुए हैं. भागवतकी Specific requirement श्रवण-कीर्तन-स्मरणकी क्रियाकी है. सेवाके कल्पमें जैसे तनुवित्तादिकी समर्पणात्मिका क्रिया है, तथैव कथापक्षमें श्रवणादि क्रियाएं हैं. सेवाको भक्तिमें culminate करनेके लिए सिद्धान्तप्रतिपादित मर्यादामें सेवाकी क्रिया करनेसे भक्ति दृढ़ होती है. क्रियामें सिद्धान्तमर्यादाका उल्लंघन होनेपर उस अनैतिक क्रियाकी असर तज्जनित भक्तिमें भी देखी जाती है.

भक्तिकी व्याख्यामें महाप्रभु "**माहात्म्याज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोधिको स्नेहः**" को बताते हैं. यह व्याख्या पुराण तन्त्र एवं स्वमार्गीय साम्प्रदायिक भक्तिके format में कैसे justify होगी, यह विचार अब यहां प्रसक्त है. महाप्रभुने षोडशग्रन्थोमें सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, एवं साधनप्रकरणमें उन सिद्धान्तोकी इतिकर्तव्यता बताई है. अतएव दोनों ही ग्रन्थोमें प्रतिपादित सिद्धान्तकी एकवाक्यता ध्यानमें रखते हुए साम्प्रदायिक भक्तिका स्वरूप समझा जा सकता है.

(द्र.तेषां दोषम् आह...आलेखपत्र.पृ.सं.८२)

महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भगवद्भजन भगवन्मार्गानुसार करना चाहिए. धर्मार्थकाम आदि त्रिवर्ग परायण हो कर की जाती भक्ति भी पुरुषार्थपर्यवसायिनी होगी, भक्तिपरक नहीं. भजनमें दूसरी क्रिया यह है कि भजन सर्वभावसे करना चाहिए. देहसे ले कर ईश्वरपर्यन्त सभी भावोंसे सेवा करनी चाहिये. भावात्मिका इतिकर्तव्यता sentimental aspect है behavioural नहीं. कर्मतया एवं ज्ञानतया भजन करनेपर वे फलसाधक नहीं होंगे. कोई भी कार्य भगवान्से distract हुए बिना किए जाये, तो कर्म समर्पित होनेसे भक्तिसाधक होते हैं, distract हो कर की जाती कोई भी क्रिया भजनौपयिक नहीं होती. भक्ति भगवद्गुणाश्रित होती है. भगवान्में भक्तियोगके दृढ़ हो जानेपर अन्य

सभी पदार्थोंमें वैराग्यबुद्धि हो जाती है. इस प्रकार वैराग्य भक्तिजनित है, भक्ति वैराग्यजनित नहीं है.

उन सेवाकी सभी क्रियाओंका परिणाम भक्तिवृद्धिमें आता है. प्रारम्भिक क्रियाएं प्रेमात्मिका नहीं होती. किन्तु यदि उनकी सैद्धान्तिक integrity maintain की जाए तो वही क्रिया भक्तिमें culminate होती है. अतः तनुवित्तजासेवा प्रेमपूर्विका नहीं है पर सैद्धान्तिक मर्यादामें की जाए तो भक्तिमें परिणत होती है. अतः श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि यद्यपि नवधाभक्ति भक्तिसाधक है किन्तु उनका अनुष्ठान यदि विभिन्न मनोभावोंसे किया जाए तो भक्तिसाधक नहीं भी रह जाती. उनके प्रकारोंका विवेचन करते हुए प्रभुचरण आज्ञा करते हैं -

पुरुषार्थपर्यवसायिनी बुद्धि होनेपर नवधाभक्ति रूपी भगवल्लीलागान एवं सेवा भी भक्तिसाधक नही रह जायेगी.

त्रिवर्गकामनासे नवधाभक्ति करनेपर भक्ति कर्ममार्गीया बन जाती है.

अर्थकामना सहित भक्ति करनेपर लौकिकी क्रिया हो जाती है.

वृत्तिके लिए भक्ति रूपी सर्वश्रेष्ठ साधनका दुरुपयोग करनेपर पापाचरण हो जाता है.

संन्यासाश्रमके अन्तर्गत नवधाभक्तिका अनुष्ठान ज्ञानमार्गीय हो जाता है.

मोक्षसाधक तन्त्रादि साधनोके अन्तर्गत की जाती नवधाभक्ति उपासनामार्गीय हो जाती है.

साम्प्रदायिक दीक्षाग्रहणपूर्वक की जाती नवधाभक्तिकी क्रिया 'प्रावाहिकी भक्ति' कहलाती है.

प्रेमकी सिद्धिहेतु की जाती भक्ति मर्यादाभक्ति है जिसे महाप्रभु मिश्रपुष्टिके अन्तर्गत वर्गीकृत करते हैं.

स्नेहोत्पत्त्यनन्तर स्वव्यसनके कारण की जाती भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थरूपा है जो शुद्धपुष्टिभक्ति है.

उपरोक्त सभी प्रभेद प्रभुचरण भक्तिके साधक साधनोंके रूपमें होती भक्तिके बता रहे हैं, न कि माहात्म्यज्ञानपूर्वक होती सुदृढ़ सर्वतोधिक भक्तिके.
(द्र.आलेखपत्र अन्तर्गत संकलित सिद्धान्त बिंदु - क,ख,ग,घ/पृ.८५ से ८९)

उपरोक्त भक्तिके साधनोंका निरूपण महाप्रभुने जीवकी अवस्थाभेद एवं सामर्थ्यको देखते हुए किया है जो इतिकर्तव्यतया षोडशग्रन्थ एवं साधनप्रकरण में उपदिष्ट हैं. मुख्य साधनरूपा तनुवित्तजा सर्वसमर्पणात्मिका सेवा, अनुकल्पतया प्राप्त भागवत पठन, तीर्थाटन, तन्त्रोक्त पूजाप्रकारसे सम्मिलित होनेकी आज्ञा, कथापक्ष, स्वमार्गीय आत्मीय वैष्णवके साथ की जाती परिचर्या, गुरुसेवा आदि सभी साधनोंका अंगीकार मुख्य शुद्धपुष्टिभक्ति अन्तर्गत न करते हुए महाप्रभु, श्रीगोपीनाथजी एवं भक्तिहंस-भक्तिहेतुनिर्णय ग्रन्थद्वयमें प्रभुचरणोंने भी साधनरूपा मिश्रपुष्टिभक्तिके प्रकारोके अन्तर्गत ही किया है कि जिस अवस्थामें हम सभी अभी हैं. अतः भक्तिहंसनिरूपित शुद्धपुष्टिभक्तिका प्रकार भी स्वमार्गीय है, एवं उतनी उत्तम अवस्था तक न पहोंचे हुए हम सभी जीवोंके मिश्रपुष्टिके अन्तर्गत उपदिष्ट साधन भी अनुसरणीय ही हैं. इस प्रकार षोडशग्रन्थ साधनप्रकरण साधनदीपिका भक्तिहंस एवं भक्तिहेतुनिर्णय ग्रन्थ अन्तर्गत सभी साधन परस्पर सर्वथा संगत हैं, विसंगत कदापि नहीं.

“**माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोधिको स्नेहः**” (त.दी.नि.१।४२)को महाप्रभु भक्तिका लक्षण बता रहे हैं, एवं प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् तन्त्र विधि एवं शास्त्र से अस्पृष्ट है. अतएव यह उपस्थित होता है कि भक्तिका लक्षण ही जब तन्त्रोक्त हो तब भक्तिके इस फॉर्मेट्में भगवान् रमण करते हैं या नहीं. महाप्रभुजी निबन्धमें भक्तिकी इस व्याख्याको वेदके साथ जोड़ रहे है. महाप्रभु आज्ञा करते हैं “**...तत्त्वमस्यादिकं तथा**” (त.दी.नि.१।४१) वेदवाक्य

आत्मस्वरूप बोधनार्थ है. एवं सृष्टिके स्वरूपका जो निरूपण वेदमें किया गया है वह **भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थ** है. वेदके तैत्तिरीयोपनिषद्में ब्रह्मवल्ली एवं आनन्दवल्ली में दोनों ही पक्षोंका विस्तृत निरूपण किया गया है. "**स: अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति...तस्माद् वा एतस्माद् वा आकाश: सम्भूत:...**" (तैत्ति.उप.२।१) आदि श्रुतिवचनोंमें ब्रह्ममेंसे अविकृत परिणामतया प्रकट होनेवाली सृष्टिका निरूपण किया गया है. ब्रह्ममेंसे होनेवाला सृष्टिका प्राकट्य इवॉल्युशन् (उत्क्रान्ति) न हो कर इन्वॉल्युशन् (अन्त:क्रान्ति) है क्योंकि ब्रह्म ही जगत्का उपादान एवं निमित्त कारण है.

एक शब्द म्यूटेशन् भी है परन्तु अपना कन्सॅप्ट् यह है कि जो नाम-रूप-कर्म ब्रह्ममें उपस्थित है उन्हें ही ब्रह्म प्रकट करता है. उन्ही तिरोहित गुणधर्मोंका क्रियान्वित होना आविर्भाव है और अक्रियान्वित होना तिरोभाव है. ब्रह्मके इन्वॉल्वमॅन्ट्को बताते हुए वेद पुन: कहते है कि "**अन्योऽन्तर: आत्मा प्राणमय:...**" (तैत्ति.उप.२।२) अर्थात् प्रकट होनेके बाद भी सृष्टिके विभागमें भगवान् अन्त:स्थित बिराजते हैं जिसके कारण ब्रह्ममें पुरुषरूपता आती है. "**पुरि शेते इति 'पुरुष:**'" इस प्रकार ब्रह्म एवं परमात्मा दोनों ही पक्षोंका निरूपण उपनिषद् करता है.

भृगुवल्लीमें एक अन्यपक्ष प्रतिपादित हुआ है "**भृगु: वै वारुणि:, वरुणं पितरम् उपससार अधी: भगवो 'ब्रह्म' इति, तस्मा एतत् प्रोवाच, अन्नं प्राणं चक्षु: श्रोत्रं मनो वाचम् इति, तं ह उवाच**" (तैत्ति.उप.३।१) भृगुने वरुणसे ब्रह्मके स्वरूपविषयक जिज्ञासा प्रकट की तब ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करते हुए उपनिषद् कहता है कि "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते...**" (तैत्ति.उप.३।१) जिससे ये सबकुछ प्रकट हुआ है, जिसमें यह सब स्थित है उसकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है. तदुपरान्त अन्न प्राणादि को ब्रह्मरूप बताये गये है. चक्षु श्रोत्र वाणी

आदि सब क्रमश: उत्पन्न होते हैं जिनका अंगीकार मनके अन्तर्गत किया गया है. अत: उन्हे भी ब्रह्मरूप बताते हुए उपनिषद् कहता है **''मनो 'ब्रह्म'इति व्यजानात्... विज्ञानं 'ब्रह्म'इति व्यजानात्''** (तैत्ति.उप.३।४-५) आधिभौतिक बाह्य आवरण अन्नका है, आध्यात्मिक आवरण भीतर मनका है एवं आधिदैविक इनरमोस्ट् सर्कल् विज्ञान एवं आनन्द का है. इस प्रकार भृगुवल्ली एवं ब्रह्मवल्ली में अविकृत परिणामवाद निरूपित हुआ है. उपादानमें कार्यके प्रकट होनेपर विकार आ सकता है परन्तु कर्तामें नहीं आता. अत: अविकृत होनेसे अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता भी स्वत: निरूपित हुयी है.

ब्रह्मता = यतो वा इमानि भूतानि...

अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचम् इति

अन्नं प्राणं चक्षुः	**श्रोत्रं मनो**	**वाचम्**
Imminent	Indirect	Verbal
Emperical	Conceptual	Scriptural
Percept	Concept	Metaphysical
Physical	Psychological	**विज्ञान+आनंद**
आधिभौतिक	**आध्यात्मिक**	**आधिदैविक**

''यतो वा इमानि भूतानि...'' (तैत्ति.उप.३।१) उपनिषद्वाक्यमें अविकृतता और निमित्तता स्पष्ट है परन्तु ब्रह्मकी कर्तृता स्पष्ट नहीं हो रही है. अत: आलेखमें अभिन्नकर्त्रुपादानता कही गई है जिसका तात्पर्य है कि सृष्टिके प्रति कर्ता एवं उपादान भी एक ही है

जिसे उपनिषद् मकड़ीके उदाहरणसे समझाता है. **“यथा उर्णनाभिः सृजते गृह्णते च”** (मुण्डो.उप.१।७) ब्रह्मके कर्ता होनेके ज्ञानसे माहात्म्यज्ञान होता है एवम् आत्मत्वेन ब्रह्मको जाननेसे आत्मरति प्रकट होती है, जो मिल कर भक्तिके रूपमें परिणमित होते हैं. **“सुदृढसर्वतोधिको स्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभिः”** (सुबो.१।१।१) वैदिक ज्ञानके गौण एवं मुख्य दो प्रकार हैं. भगवान्‌के कर्ता होनेका ज्ञान गौण है, और आत्मत्वेन ब्रह्मका ज्ञान मुख्य ज्ञान है. अतः आत्मत्वेन ब्रह्मको जान कर भक्त्याश्रयपूर्वक होनेवाली भक्तिसे भगवान् अस्पृष्ट नहीं है. इस प्रकार वेद तन्त्र पुराण गीता महाप्रभुजी श्रीगोपीनाथजी एवं प्रभुचरणों के वचनोंमें एकवाक्यता सिद्ध होती है. महाप्रभुने इस प्रकार **“एवं सर्वं ततः सर्वं सः इति ज्ञानयोगतः, यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिः उत्तमः, प्रेमाभावे मध्यमः स्याद्, ज्ञानाभावे तथा आदिमः, उभयोरप्य अभावेतु पापनाशः ततो भवेत्”** (त.दी.नि.१।१०१-१०२)में तन्त्रोक्त लक्षणको ही ब्रह्ममें समन्वित करते हुए पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदमें प्रतिपादित उत्तम मध्यम एवं कनिष्ठ भक्तिके प्रकारोंको लक्षित किया है, भक्तिहंस प्रोक्त शुद्धपुष्टिभक्तिका नहीं.

(शाण्डिल्यनारदभक्तिसूत्रोक्त भक्तिलक्षण तथा भेदोपभेद)

भगवान्‌में होनेवाली परानुरक्ति ‘भक्ति’ कहलाती है. भगवान्‌के विषयमें ज्ञान प्राप्त करना भक्ति नहीं है अपितु प्रेमभक्ति है. जब विभाव अनुभाव संचारिभाव प्रकट होते हैं तब भक्ति रसताको प्राप्त करती है. भक्ति केवल भावरूपा होनेपर रसरूप नहीं होती. उसका जब अनुभाव प्रकट होता है तब वह रसरूपा होती है. संघातवादकी तरह सब मिल कर एक नया पक्ष प्रकट होता है. महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **“संहितैः उपचितैः अवयवैः गुप्तो अवयवी प्रकटी क्रियते”** (सुबो.२।१।२४) भगवान् बुद्ध संघातोंको विभक्त करते हुए शून्यको सिद्ध करते हैं जबकि महाप्रभु सभी पदार्थोंको संश्लिष्ट करते हुए ब्रह्मकी पूर्णताके प्राकट्यकोसिद्ध करते हैं.

जैसे ज्ञानको कृतिकी अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार शुद्धभक्तिको भी ज्ञान एवं क्रिया की अपेक्षा नहीं होती है. भक्ति प्रमेयरूपा है जिसमें प्रमाणरूप पुराण एवम् इतिहास है. कर्मज्ञानसे संयुक्ता भक्ति अन्यदेवपरक होनेसे गौण भक्ति होती है. जबकि शुद्धभक्ति कर्मज्ञानादिसे व्यतिरिक्त स्वतन्त्र भक्ति है. भक्तके द्वारा प्रारम्भिक अवस्थामें होनेवाली गौणभक्ति भी परन्तु मुख्या भक्तिके अंगरूपा स्वीकारी जा सकती है. नारदभक्तिसूत्रोक्त मुख्या भक्ति भी व्रजगोपांगनाओंकी ही बताई गई है. इस प्रकार नारदभक्तिसूत्र एवं महाप्रभु द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंमें एकवाक्यता एवं परस्परानुरूपता सिद्ध होती है. (द्र.आ.पत्र.पृ.सं.९४-९५)

(अन्यआचार्यों द्वारा विचारित भक्तिके स्वरूपका तुलनात्मक विमर्श)

१. श्रीशंकराचार्यजी : भगवद्भजनपरायण भक्त गीतोक्त प्रकारानुसार अर्थार्थी ज्ञानी आर्त एवं जिज्ञासु होते हैं. परन्तु श्रेष्ठ भक्ति तो ज्ञानी द्वारा की जानेवाली भक्ति है. परन्तु ज्ञानीभक्त एवं भजनीय आत्माका आराधनाकालमें संराध्यभाव एवं संराधकभाव के भिन्न होनेके कारण द्वैत हो जाता होनेसे अद्वैत खंडित हो जायेगा. श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि द्वैत नहीं है क्योंकि एक भक्तिकी उपाधिसे भजनरत है, दूसरा भजनीयकी उपाधिसे भजनरत है. इतना ही भेद है अन्यथा तो अद्वैत ही है.

२. श्रीभास्कराचार्य : ब्रह्मको ग्रहण कर पाना असम्भव है क्योंकि ब्रह्म निर्गुण अव्यक्त निरुपाधिक है. परन्तु संराधना द्वारा ब्रह्म अवश्य ही दृश्य है. (संराधना=भक्ति) जो योगी इस प्रकार भगवान्को भजता है वही युक्ततम है.

३. श्रीरामानुजाचार्य : प्रिय ब्रह्मका अतिशय अनुध्यान जो व्यसनदशापन्न हो जाय जिसके द्वारा ब्रह्म गृहीत होता है वही भक्ति है. कमलनयन भगवान् ही सर्वतोधिक प्रिय हैं ऐसा अनुभाव ही भक्ति है.

४. **श्रीअभिनवगुप्त :** फलाभिलाषारहित भगवद्भजन करते भक्तको देख कर अभक्त जब यह प्रश्न उपस्थित करता है कि ऐसे भजनसे क्या लाभ? तब उसे देख कर भक्त उद्विग्न हो जाते है एवम् उस प्रश्नका उत्तर भी नहीं देते. यही महेश्वरके प्रति होती निरुपाधिक भक्ति है. महेश्वरकी यह शक्ति जिसमें अन्तःस्थित है, उसीके हृदयमें ऐसी भक्ति प्रकट होती है.

५. **श्रीमध्वाचार्य :** प्रत्येक कार्य भक्तिहेतु हैं एवं भक्ति मोक्षार्थ है. मुक्तोंके लिये भक्ति नित्यानन्दस्वरूपिणी है. अभेदके ज्ञानसे अप्रीति होती है एवं भेदज्ञानसे प्रेम.

६. **श्रीमधुसूदन सरस्वती :** सर्वेश भगवान्में जब भगवान्के धर्मोके कारण मनकी वृत्ति धारावाहिक रूपसे लग जाती है, तब वही 'मानसिक धर्मभक्ति' कहलाती है. (महाप्रभुके मतानुसार 'मानसी' भक्तिका अनुभाव है, भक्ति नहीं है क्योंकि भक्ति तो आत्मरति है जो माहात्म्यज्ञानसे अनावृत्त हुयी हे)

७. **श्रीरूपगोस्वामी :** निरभिलाष हो कर कर्मज्ञानसे आवृत्त न हो एवं जिसमें कृष्णका आनुकूल्येन अनुशीलन हो वही भक्ति है.

८. **श्रीउदयनाचार्य :** श्रीउदयनाचार्य भी द्वैतवादी हैं. अतः न्यायदर्शनके मतानुसार सुख दुःख इच्छा प्रयत्न बुद्धि आदिको वे आत्माके गुणतया स्वीकारते हैं. न्यायदर्शनका यह सिद्धान्त है कि कोई भी ज्ञान विशेष्यता एवं प्रकारता से उपपन्न होता है. अतः वे कहते है कि भगवान्को अपने आराध्यतया जानना ही भक्ति है. भगवान्की प्रसन्नताका विचार ही भक्ति है.

(उपसंहार)

''भक्तभावविभावित....स्वात्म्यरत्याविष्कृता''. (भूमिका पृ.९८) वेद

पुराण तन्त्र एवम् अन्य आचार्यों द्वारा प्रदत्त भक्तिकी व्याख्याओंमें भगवान्‌की आत्मरतिकी बहुभवनता दृष्टिगोचर होती है. भक्तद्वारा विभावित भगवान्‌की आकृतिमें विविधता है क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं ही अपने अंशरूप जीवोंका विविधमार्गोंमें वरण किया होनेसे उनके भाव भी भिन्न-भिन्न है. वरणलक्षण जो भक्तिका हेतु है उनके चिन्तनमें भक्तिके ये प्रकारभेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं. विभिन्न आचार्योंके चैत्यवपुमें स्थित भगवान् स्वयम् अपनी ही विभिन्न गति भी प्रकट कर रहे हैं; अर्थात् भगवान्‌की आत्मरतिके आविष्करणके ही ये विभिन्न प्रकार हैं.

भक्तिहंस ग्रन्थमें प्रभुचरण श्रीगुसांईजीने शुद्धपुष्टिभक्तिके स्वरूपको स्पष्ट करने हेतु कर्मज्ञानादिसे मिश्रित भक्तिके स्वरूपको भी समझाते हुए उन्हें शुद्धपुष्टिभक्तिसे भिन्न बताया है. शास्त्रीय मन्त्र तन्त्रोक्तविधि गोपालमन्त्र आदिका सेवामें होता विनियोग परन्तु उससे निषिद्ध नहीं हो जाता एवं ना ही मर्यादाभक्तिरूप माना जा सकता है. भक्तके भावमें मुक्त्याकांक्षा लौकिकासक्ति आदिके मिश्रित हो जानेपर उसके द्वारा होती पुष्टिमार्गीय सेवाकी क्रिया भी अशुद्ध ही हो जायेगी जैसे साम्प्रतकालमें प्रचलित पुष्टिसेवाका वृत्त्यर्थ प्रकार. भावके शुद्धि होनेपर जैसे भक्तके सभी लौकिक कार्य समर्पित है वैसे कर्तव्यतया प्राप्त होते वैदिक कर्म भी समर्पित होनेसे पुष्टिभक्तिके संवर्धक सिद्ध होंगे. इस विषयमें आलेखपत्रके अन्तर्गत संकलित आचार्यत्रयीके वचन प्रमाणरूप हैं जिनमें सर्वथा एकवाक्यता ही प्राप्त होती है. प्रभुचरण श्रीगुसांईजीका प्रस्तुत ग्रन्थद्वयान्तर्गत भक्तिस्वरूपके निरूपणका हेतु भी इन्ही भावभेदोंको लक्षित करना है कि जिनमें पुष्ट्यनुरूपता एवं वैपरीत्य आ जानेसे पुष्टिभक्ति एवं पुष्टिपुरुषोत्तम का मूलस्वरूप दूषित हो सकता है.

आभिमुख्यम् ।

श्रीमदाचार्यचरणाश्च तत्सम्प्रदायश्च ।

विजयन्तेतमामनुग्रहैकसुग्रहसमग्रस्य परावरप्रपञ्चनिरुपाधिकशेषिणः क्षराक्षरातीतस्य भगवतः श्रीमत्पुरुषोत्तमस्य वदनाधिदेवतावतारा महाप्रभुचरणप्रभृतिप्रकृष्टतमपदपरम्परोपहूयमानपरमानुभावा 'उपासनादिमार्गातिमुग्धमोहनिवारकाः' श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणा यदङ्घ्रिसरोरुहसौरभसीकरास्वादव्युदस्तसमस्तरसान्तरवासनाः केपि समधिगतचरमजन्मानो महाभाग्यभाजः श्रीमति सकलोपनिषन्मधुकरीमुखरितपादारविन्दे भगवति व्रजेन्द्रनन्दने समुद्रिच्यमानेन व्यसनात्मकविशुद्धपुष्टिस्नेहेन समुपनतमपि परमं पुमर्थं न प्रेक्षन्ते नाऽभिरोचयन्ते नाऽभिनन्दन्ति च ।

सम्प्रदायसमर्थनश्च ग्रन्थसङ्गतिश्च ।

विजयन्तेतमाञ्च भगवन्निदेशबद्धादरतया 'भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृतां' तेषां स्वरूपतः श्रिया कीर्त्या कान्त्या च सर्वात्मनाऽप्यात्मसन्निभाः प्रभुचरणपदाविष्कृताशेषगुणकर्मोदया द्वितीयास्तनयाः श्रीमन्तो विट्ठलेशपादा यैः किल निजाविर्भावसमर्थनद्वारा भगवदभिप्रेतमनुरुन्धानैः समभिव्यक्तविविक्तभक्तिपदार्थप्रतिपादनपरः प्रणिन्ये प्रबन्धो भक्तिहंसो नाम ।

ग्रन्थप्रयोजनम् ।

एष च कलिकुहूनिबिडान्धकारेण निरालोके लोके विलीने च विवेकेऽनवधारितमार्गमेव साहसिकैर्यतः कुतोऽपि प्रवर्त्तितेषु दिङ्मोहक्षोभदीनेषु जीवेषु कृतानुग्रहैस्तैः कर्मज्ञानोपासनादिषु भक्तित्वाभिमाने तद्विषये च परमकाष्ठाप-

अवस्तुत्वाभिमतौ साधनफलाभ्यामात्मनोऽन्यथा प्रतिपत्त्या चौरत्वादात्मापहारित्वयावत्पापकारित्वादिप्रसक्तिं तया च सुरसर्गसमुच्छेदमसहमानैराविश्चक्रे ।

साम्प्रतिकी सम्प्रदायस्याऽवस्थितिः ।

इदानीमपि च कालकृतेन सहजभगवद्वैमुख्येन दुस्तरतरतिमिरतिरस्कृतविचारविलोचना भूयांस एव विचिकित्सन्ते च विप्रतिपद्यन्ते च विमुह्यन्ति च पुष्टिमार्गीयैरनुष्ठीयमानेषु भजनप्रकारेषु । किम्बहुना । साम्प्रदायिका अपि प्रायो नाऽवबुध्यन्ते च नाऽध्यवस्यन्ति च याथातथ्यमेषाम् । केवलन्तु दृढस्मरणेन वा सेवापद्धतिभिरेव वा कथमपि निर्वहन्ति यथासम्प्रदायं निजमनुष्ठेयम् । ततश्च प्रमाणामनपेक्ष्य प्रवृत्तानां प्रमादादिना कदाचिद्वैगुण्यमपि न किल नोपजायते सेवायाम् । व्यामोहश्च विपरीतभावनात्मकस्तथाविधानां नाऽतिदुर्लभो मार्गान्तरैः । परिम्लायन्ति च तुहिनोपहतानीव यस्मिन् कस्मिन्नपि वा विषयमिमं जिज्ञासमाने वदनारविन्दान्यमीषाम् । एवञ्च समुच्छेदपर्य्यवसायिन्येषा सम्प्रदाये विपदित्यभिव्यक्तमेतत् ।

साम्प्रदायिकाः प्रबन्धाश्च प्राप्तकालश्च ।

इत्थञ्च तेषां तेषां साम्प्रदायिकप्रबन्धरत्नानामन्वेषणसंशोधनसम्मुद्रणप्रकाशाध्ययनाध्यापनपरिशीलनादिनैव सम्भवत्परिहारा न पुनर्जीर्णशीर्णतरैरनिवारिताविरलनिपतत्पांसुपुञ्जैरावेष्टनैः कथञ्चिदाच्छन्नानां क्वचन कदाचन केनाऽपि कथमपि गृहकोणे विनिक्षिप्तानामनपेक्षितशीतातपवातवर्षाव्यपनयानां मत्कुणैश्च घुणैश्च स्वैरमभ्यवहारेणेति नैतद्विस्मर्य्यतां साम्प्रदायिकैः । विस्तीर्यताञ्च तेभ्यः 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मनो' भगवतो वदनवैश्वानरावतारैः 'स्मृतिमात्रार्त्तिनाशनैः' श्रीमदाचार्य्यचरणैः 'पितृप्रवर्त्तितपथप्रचारसुविचारकैः' श्रीमत्प्रभुचरणैश्च सामर्थ्यं यथा नाऽमी विस्मरेयुस्तदिदम् ।

प्रबन्धरत्नेषु चैतेषु श्रीमत्सुबोधिन्यादीनां विविधविषयविशदाशदासोपवर्णननिर्वर्णनीयरामणीयकत्वेऽपि निखिलग्रन्थान्तरोपजीव्यत्वेऽपि कथञ्चिद्भक्तिदौर्लभ्येऽपि च दीर्घतरेण कालेन पाठप्रवचनपरिशीलनविपरिलोपात्तथैव च स्वरूपतोऽपि दुरवगाहत्वदुरूहविशेषत्वादिना सर्वथाऽपि सुदुर्घटं यथावदवबोद्धुं तात्पर्य्यमित्यादितः प्रकरणान्वेषणादिकमेव परमं शरणम्'। विषयान्तरमसंस्पृश्य प्रतिपित्सितमेव यथावद्विविच्य प्रतिपादयितुमाबद्धपरिकराणि हि तानि सम्यगेव तदवगमयन्तीति । ततश्च महाप्रबन्धेष्वपि नात्यायासेन प्रवर्त्तितुं प्रगल्भेत मतिरिति ।

तानि पुनरिदानीं दुरुपलभानि सेवाविषयकाणि लब्धुमशक्यान्येव वा भाग्यवैभवेनाऽस्माकम् । किम्बहुना । उद्देशतोऽपि न तान्युदाहर्त्तुं प्रभवामः । भक्तिहंसस्त्वेव केवलः सुलभो योऽयमिदानीमुपह्रियते संस्कृत्याऽस्माभिः । सेवाकौमुदी तु प्रणश्यन्त्येवोपलब्धेति नेयमत्राऽपवादः । यथा चैतत्तथा तद्भूमिकायां स्पष्टम् । ततश्चाऽयमेव प्रकाश्यमानस्तिष्ठतां साम्प्रदायिकेभ्य इति तमिमं प्रकटीकुर्मः ।

ग्रन्थस्वरूपञ्च तदनुरूपा चेष्टा च ।

एषोऽपि च गूढतमस्य चाऽपूर्वतरस्य चाऽर्थस्य निर्वचनं विदधानः साभिप्रायसमस्तपदविन्यासश्चेति दुरवबोध एवाऽऽधुनिकैरिति बहुतरं कालमात्मानं व्यापार्य्य भूयसा प्रयासेनोपलब्धाभिः समयोजि व्याख्याभिस्तिसृभिः ।

व्याख्याश्च तत्प्रणेतारश्च ।

अत्र च प्रथमा भक्तितरङ्गिणी या किल श्रीमत्प्रभुचरणानां पञ्चमैरात्मजैः श्रीमद्रघुनाथचरणैः प्राणायि । अन्ये च तद्व्याख्याने तीर्थं स्वतन्त्रो विवेकश्च ये च तेषामेव तृतीयतनयानां श्रीमद्बालकृष्णचरणानां वंशे पञ्चमैः श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैर्व्यरचिषाताम् ।

(४)

व्याख्यानां दौर्लभ्यञ्चौपयिकत्वञ्च ।

एताश्च सुलभा इति नोपलब्धा अस्माभिः । किन्तु कृताभिमुख्या श्रीमदाचार्य्यचरणानां कृपादृष्टिरिति । यादृशः किल वस्तुतो भक्तिपदार्थस्तस्येदानीं तत्प्रसादादेव सिद्धिश्चाऽवगमश्चाऽपीति ।

यदाहुः प्रबन्धस्याऽस्य प्रथमेन मङ्गलश्लोकेन श्रीमत्प्रभुचरणाः—

“जयन्ति पितृपादाब्जरेणवो यत्प्रसादतः ।
भक्तिः प्राप्ता तदन्याध्वमोहाभावश्च पण्डितैः ॥” इति ।

तथा च विवेकः—

“प्रसादः पाण्डित्येऽपि हेतुः ॥” इति ।

सम्यगेव चाऽवबोधयन्त्येता एनम् । यदि तु नैता आसत्स्यन्त प्रबन्धतोऽस्मान्नाऽलप्स्यतैव किमपि फलम् । व्याख्यानैरपेक्ष्ये हि मन्दधियामाधुनिकानां तात्पर्य्यबुभुत्सायाः प्रयासमात्रेऽन्यथा प्रतिपत्तावपि वा पर्य्यवसानस्य सांसिद्धिकत्वात् । अथ कथमपि साम्प्रदायिकसंस्कारवशात्तदाशयलेशोपलम्भेऽपि सर्वांशतो यथावद्विविच्याऽनवगमेन प्रसादानुदयात् ।

एवञ्च योऽयमधिगमोऽस्माभिरेतासां यदपि चेदं सम्यक्संशोध्य मूलेन संयोज्य विस्पष्टतमैर्वर्णैः सम्मुद्र्य प्रविभक्तपदवाक्यप्रमाणावतरणप्रतीकानां सर्वतः सौलभ्यसम्पादनमुभयत्राऽपि तदनुग्रह एव निदानमिति नैतदविस्पष्टम् ।

संशोधनप्रक्रिया ।

अधिगमे चाऽऽसां यथाऽन्वभूयताऽस्माभिरायासः परमः संशोधनेऽपि ततो भूयिष्ठ एवाऽधिगतः सोयम् । अन्यतमाया अपि व्याख्याया यस्मिन् कस्मिन्नपि वा पुस्तके कस्याश्चिदपि पङ्क्तेः सुविशुद्धाया अनुपलम्भे तिमिरमिव

किमपि सर्वतो विजृम्भमाणं व्यामोहयत्महासमस्याकमिति । न चाऽपि सर्वत्राऽविशुद्धिमात्रमेव पङ्क्तीनां किन्तु पत्रपत्रार्द्धपरिसमाप्यानां प्रबन्धांशानामपि यत्र तत्राऽनधिगमः । तथा सति कथमिव तत्र व्यापारयत्वात्मानं तपस्विनी प्रज्ञेत्यहो प्रतिबन्धप्रचुराण्यभिप्रेतानि ।

एवमपि श्रीमदाचार्य्यचरणप्रसादसुधारसेन समुज्जीवितोत्साहा न न्यवर्त्तयाम व्यवसायतोऽस्मादात्मानम् । समशोधयामैव च प्रतिपुस्तकेभ्यस्तेभ्यस्तेभ्यस्तानि तान्यक्षराण्युद्धृत्य पत्रान्तरे च विनिवेश्य फलितमेव पाठं विवक्षितानुगुण्ये यथार्थमवधार्य्य । एकत्र यान्ययथार्थानि तान्येवाऽन्यत्र यथार्थानि तत्र च यान्ययथाभूतानि तान्येवाऽपरत्र समुचितान्यक्षराणीति ।

ततश्च प्रकारभेदेऽपि नेदमात्मकल्पितं किन्तु यथापुस्तकमेव संशोधनमिति स्फुटमेतत्तद्विदाम् । तत एव चाऽधस्तादुपन्यसनीयत्वेऽप्युपेक्षिताः पाठभेदाः । व्यर्थतराणां बहुत्वेन वस्तुभूतस्य चैकत्वेन तैरेव पत्राणां परिपूर्त्तेः । अनौपयिकाश्च ते ।

यत्र पुनस्तत्र तत्र पाठस्याऽविशुद्धत्वेऽपि चाऽनौचित्येऽपि च दैवात्कश्चिदुपगतो विशुद्धश्च समुचितश्च पाठस्तत्र स एव स्वीकृतो निवेशिताश्चाऽन्येऽधस्तात् ।

यत्र तु विशुद्धो वाऽविशुद्धो वा समुचितो वा विपरीतो वा यः कश्चनाऽपि नाऽधिगतस्तत्र प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रतिभातः सोऽयमङ्गीकृतः । विवृतश्चैतत्पाठभेदेषु । इदञ्च वर्णमात्रानुस्वारविसर्गव्यतिरेकेणेति द्रष्टव्यम् ।

क्वचिच्च सर्वत्राऽविशुद्धपाठोपलब्धावप्यनुष्ठितमेवम् । क्वचिच्च यथाधिगममेव पाठमवस्थाप्य स्फुटीकृतस्तेनाऽपरितोषः सहेतुकः पाठान्तरेषु ।

मूले भक्तितरङ्गिण्यां च व्याख्यानुरोधेनैव यावच्छक्यमभ्युपेतः पाठभेदो न पुनः स्फूर्त्यनुरोधेनैव । एतदपि च यथा तथा तत्र तत्र निवेदितमधस्तात् ।

यत्र पुनरशुद्धिदर्शनेऽपि न विशुद्धपाठस्फूर्तिरशुद्ध्यनवधारणेऽपि वा तात्पर्यानवगमेन भ्रान्ता मतिस्तत्र सन्देहचिह्नमेव विन्यस्तं न साहसमाश्रितम् । उदाहृताश्च तास्ताः पाठभेदाष्टिप्पण्याम् ।

तदेतदखिलमपि संशोधनसरणिमवेक्षितुकामैः पाठभेदेषु चक्षुषो विनिक्षेपे सुगममित्यलमत्र तदुदाहरणायासेन ।

न चैवमशुद्धिभूयस्त्वमेव केवलं प्रयासातिशये हेतुः किन्तु सर्वत्राऽपि विरामचिह्नानामन्यथाभावोऽपि । समुल्लसन्ते हि समुद्रिक्तश्याममलिमचाकचक्याः शुभ्रतरेषु पत्रेष्वन्तराऽन्तरा विन्यस्ताभिरारक्तरेखाभिर्वर्णावलय इत्यनभिज्ञमूर्धन्यैर्लेखकैः प्रबन्धविप्लवानपेक्षमेव यत्र क्वचन तान्येतानि प्रायोजिषत । ततश्च समपेक्षितानि दुरुपलभान्यनपेक्षितानि च सर्वतः सुलभानीति मुह्यत्येव मतिरिति । यथावत्प्रयुक्तत्वे हि तेषां सुखेन शक्यः समवबोद्धुं ग्रन्थः । विपर्य्यये पुनरनवस्थिता नेयमास्पदमनायासमासादयतीति ।

तदेवं क्लेशातिशयकूलङ्कषया निरन्तरमाकृष्यमाणानां वैयग्र्यस्य सम्भवात्परिशोधने क्वचिदालक्षितं स्खलितं नाऽत्यद्भुतमिति मर्षयेयुर्निसर्गसरलहृदयाः साम्प्रदायिकमहोदयास्तदेतदिति सुदृढोऽयमस्माकं विश्वासः । मुद्रणसम्भ्रमोऽपि च न किल न प्रमादबहुलः ।

पुस्तकानि च तेषां प्रदातारश्च ।

संशोधने चाऽत्र यान्यासादितानि पुस्तकान्यस्माभिर्येषाञ्च कृतानुग्रहाणामेतानि तद्यथा—

(१) भक्तिहंसः । मोहमयीस्थबृहन्मन्दिराधिपतिश्रीमद्गोकुलनाथगोस्वामिचरणमहोदयानाम् ।

(७)

(२) ,, तेषामेव ।

(३) ,, भुवनविदितवैदुष्यावदानानां श्रीमल्लाल्लूभट्टमहानुभावानां यः किल तत्कुल एव समुद्वाहितयाऽस्माकमनुजया श्रीमत्या यमुनया वितीर्णः ।

(१) भक्तितरङ्गिणी । (क) श्रीमद्भारतमार्त्तण्डानां पुस्तकालयस्था ।

(२) ” (ख) श्रीमद्गोकुलनाथगोस्वामिचरणमहोदयानाम् ।

(३) ” (ग) श्रीमद्भारतमार्त्तण्डानां पुस्तकालयस्था ।

(४) ” (घ) पण्डितप्रवरभट्टश्रीगोवर्द्धनशर्म्ममहोदयानां ये किलाऽस्माकं पितृव्यपादाः ।

(१) तीर्थम् । (क) श्रीमत्पितृव्यपादानाम् ।

(२) ” (ख) गोस्वामिप्रवरश्रीमन्नृसिंहलालजीमहाराजात्मजश्रीमद्गोवर्द्धनाचार्य्याणां यत्किल तदाश्रितैः प्रियसुहृत्प्रवरैः श्रीकल्याणजीशास्त्रिमहाभागैः प्रवितीर्णम् ।

(१) विवेकः (क) श्रीमद्भारतमार्त्तण्डपुस्तकालयस्थः ।

(२) ” (ख) यथोक्तः ।

(३) ” (ग) गोस्वामिप्रवरश्रीमन्नृसिंहलालजीमहाराजात्मजश्रीमद्गोवर्द्धनाचार्य्याणाम् । श्रीकल्याणजीशास्त्रिद्वारैव चोपलब्धः ।

प्रासङ्गिकम् ।

एतानि च द्वित्रेभ्योऽन्यत्र निखिलान्यपि पुस्तकानि सप्तदशशतकस्याऽन्ते वाऽष्टादशशतकस्याऽऽदौ वा लिखितानीत्यवगम्यते । परिणतानि पत्राणि विरलच्छाया च मषीति । संवत्सरलेखस्तु प्रायो नास्त्येव क्वापि ।

अभिमतार्थसिद्धिश्च तदाशासनञ्च ।

तदेवमायासशतमनुभूय समयातिपातमविगणय्य चिरमुत्सुकानां सुहृदां विलम्बासहनविक्षोभमनवधार्य्य सर्वाङ्गमनोहरोऽयं यथा स्यात्तथैव प्रयतमानैस्तत्रापि च श्रीमदाचार्य्यचरणपादारविन्दानुध्यानमात्रमेव बलमात्मनोऽवबुध्यमानैर्यथाशक्ति मनोरथानुरूपमेव संस्कृत्य प्रकटितः सम्प्रति भक्तिहंसोऽयमस्माभिः ।

एष च साम्प्रदायिकैः पठनपाठनादिप्रचारमात्मनः समधिगम्य यथावदवबोधयन्भक्तिपदार्थं प्रसादयतु तदीयानां चेतांसि निरस्यतु च कालबलेन मार्गान्तरैस्तद्व्यामोहं प्रतिक्षिपतु च तैस्तैरनधिकारादिशुद्धभक्तिस्वरूपमवगन्तुमनीशानैः कृतानधिक्षेपानित्याशास्महे ।

प्रमेयम् ।

प्रतिपाद्यं पुनरत्र परमकाष्ठापन्नस्य भगवत आत्मीयत्वेन तदङ्गीकारातिरिक्तसमस्तसाधनाप्राप्यत्वश्रुत्या तदनुग्रहैकलभ्यभक्तिमात्रोपलभ्यत्वम् । तत एव मन्त्रोपासनप्रभृतिविधिभिः स्वर्गादिवत्फलत्वेनाऽसम्बन्धः । सर्वदा सिद्धस्वरूपत्वाच्च यागादिवन्न विधेयत्वेन सम्बन्धः । भगवद्भजनमन्त्रोपासनयोः सर्वाधिकारकत्वतद्विरहाभ्यामुद्देश्यत्वेनाऽपि विभूतिरूपेण सम्बन्धात्साक्षात्तदभावः । मूलरूपस्य निखिलानर्थप्रत्यनीकत्वेन सर्वत्राऽपि ब्राह्मणाभिवन्दनीयत्वेन मन्त्राद्यनधीनत्वेन विभूतिरूपस्य च तद्विपर्य्ययेण महतो वैलक्षण्याद्भजनोपास्त्योः स्फुटतरो भेदः । नित्यकाम्याग्निहोत्रन्यायेन फलभेदनिबन्धनात्स्वरूपभेदात् साधनत्वोक्तेः भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलकत्वाच्च मन्त्रादेर्भगवदी-

यत्वेऽपि तत्सम्बन्धिन्याः पूजाया भक्तित्वमतः । मन्त्रजपादेरपि च साधनत्वोक्त्यैव न भक्तित्वम् । तेन च, कर्माङ्गतयाऽनुष्ठितविष्णुस्मरणादेर्भक्तित्वापत्त्या च, ज्ञानकर्मोपासनादीनां तत्तत्फलकारणीभूतानां भक्तेः सकाशाद्भेदस्य नाप्राप्तत्वाद्विभूतिपरत्वन्यूनत्वजघन्यत्वसिद्ध्या च, मार्गभेदेन श्रवणादीनामनेकविधत्वेन च, मन्त्रादेर्भगवदीयत्वेऽपि वा नवविधभक्तावर्चनस्योक्तावपि वा पूजायां भक्तिपदप्रयोग औपचारिकः । भक्तिपदशक्तिश्च स्नेह एव । स्नेहवशेन क्रियमाणानां श्रवणादीनां स्नेहमध्यपातित्वेन गङ्गाप्रवाहान्तःपातिबाह्योदकवद्वा प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन वा भक्तित्वम् । ततश्च कर्मणि विधिवत्स्नेहस्यैव भक्तिमार्गे भजनप्रकारनियामकत्वं स्नेहवताम् । अन्येषां च स्नेहवद्भिरुपदिष्टः प्रकार एव नियामकः । पित्रादिशिक्षयाऽविच्छिन्नबाल्यकृतसन्ध्यावन्दनादेः कर्मत्ववत्तदुपदेशानुसारेण तत्कृतेर्भक्तित्वस्य तन्मार्गसिद्धत्वात् । आधुनिकानां चोपदेष्टॄणां स्नेहरहितत्वेऽपि मूलाचार्य्याणां स्नेहशालित्वभगवदनुगृहीतत्वाभ्यां तदनुग्रहेण नाऽनुपपत्तिः काचित् । अशक्यविधानत्वाच्च प्रेम्णः प्रकाराणामविहितत्वेन तन्नियामकत्वं युक्तम् । श्रवणादिषु पुनर्योग्यत्वाद्विधिः । ततश्च सर्वमपि समञ्जसमिति ।

तत्सङ्ग्रहः ।

एतदेव च विचार्य्य वक्ष्यमाणमभिरूपपरिषत्परिगृहीतस्य समासव्यासविधेरनुपरोधमभीप्सन्तो ग्रन्थादौ मङ्गलान्तरेण सञ्जगृहुः श्रीमत्प्रभुचरणाः—

“मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः ।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तु सर्वस्वम् ॥” इति ।

प्रबन्धस्य सर्वाङ्गरमणीयत्वमपूर्वत्वञ्च ।

इदञ्च प्रत्येकमवयवं सर्वांशतो विविच्य मिताक्षरमपि बह्वर्थमविस्तृतमपि विशदं गभीरमपि प्रसन्नमुदात्तमप्युदारं तथा किलाऽत्रोपपादितं येन

सर्वलोऽपि युगपदास्पदीक्रियते केनाऽप्यननुभूतचरेण परितोषेण च प्रसादेन च समुल्लासेन च हृदयं जिज्ञासोः । अल्पप्रज्ञानां पुनरनवबोध इत्यन्यदेतत् ।

आक्षेप्ताऽपि च तथेह प्रतिक्षिप्तो यथा दुराग्रहग्रहग्रस्ततया तदनभिरोचयमानोऽपि किमपि कथमपि प्रतिवक्तुकामोऽपि न प्रभवति मोचयितुमेकान्ततः सक्तामात्मनस्तालुनो जिह्वाम् । किम्बहुना । स्फुटीकृतञ्चैतद्यदुत चिराय भक्त्यभिमानेन मन्त्रोपासनादिभिरेव वञ्चित आत्मा न पुनरंशतोऽपि सोऽयमबोधि भक्तिपदार्थमिति ।

एतदपि चाऽत्र मङ्गलादिना स्वत एव व्यक्तं यत्केनाऽपि नाऽन्येनाऽयमस्मगलश्चिररान्नाय पन्थाः किन्तु श्रीमदाचार्य्यचरणैरेव प्रकटीचक्र इति ।

ततश्च दीर्घतरेण कालेन तृषा निर्भिन्नकण्ठस्य सारङ्गशिशोः सोयं सलिलाभिषेको यत्किल भक्तिपदार्थानवगमेन विमुह्यतां भक्तिमार्गीयाणामस्माकं प्रबन्धस्याऽस्य सर्वात्मना संस्कृतस्य समुपलम्भ इत्यहो निरवधिः प्रमोदः ।

प्रतिपत्तिमोहः ।

बहवः किलेदानीमनुपलब्धिवशादनुपासितसाम्प्रदायिकपरिगतप्रज्ञा नेशते तदिदमवबोद्धुमस्मादृशः साम्प्रदायिका यदुत स्नेहात्मकभक्तिसिद्धये श्रवणादिनवकमनुतिष्ठतामस्माकं मर्य्यादामार्गीयत्वमेवाऽऽहोस्विद्भक्तिमार्गीयत्वं पुष्टिमार्गीयत्वं वेति ।

न तावन्मर्य्यादामार्गीयत्वम् । भक्तिमार्गीयाः पुष्टिमार्गीया इत्युभयस्य साम्प्रदायिकव्यवहारस्याऽस्माभिरपलपितुमशक्यत्वात् । न च भक्तिमार्गीयत्वम् । स्नेहाभावात् । ततश्च न पुष्टिमार्गीयत्वमपीति ।

तन्निरासः ।

तत्राऽयं निर्णयः प्रतिभाति । प्रबन्धेऽत्र भक्तिपदार्थं निरूपयितुं पुरुषोत्तमस्य तदेकोपलभ्यत्वं वदन्तः श्रीमत्प्रभुचरणा मन्त्रोपासनादिविधिविधिभिर्भक्ति-

दसम्बन्धं प्रतिज्ञाय तथाहीत्यादिना यतिष्यत इत्युपपत्तेरित्यन्तेन तत्तत्समस्तसंशयनिरसनपुरस्सरं समुपपादयन्तो निरपेक्षभक्तियोगफलस्य भगवतः प्राप्तीच्छया जीवस्य तत्र प्रवृत्तिर्वरणश्रुत्या विहन्येतेत्याशङ्कायां नैवमित्यादिना तदनुपपत्तेरित्यन्तेन पुरुषोत्तमार्थित्वमेव वरणफलमिति तेन वरणानुमाने विरोधाप्रतिसन्धानान्न प्रवृत्तिविघात इति समाधानमभिधाय वरणे चाऽस्तीत्यादिना सर्वमवदातमित्यन्तेन साधनसापेक्षत्वतन्निरपेक्षत्वाभ्यां यथायथं मर्य्यादापुष्टिभेदेन वरणद्वैविध्यं व्युत्पादयामासुः । एवञ्च साधनसापेक्षस्य तन्निरपेक्षस्य च पुरुषोत्तमार्थित्वं समानम् । तत्राऽऽद्यस्य तत्प्रकारकज्ञानपूर्वकमितरस्य तु ततोऽन्यथेत्यन्यदेतत् । ततश्च वरणे चेत्यस्याऽऽभासे व्रजस्थानां वरणकार्य्यपुरुषोत्तमार्थित्वं विनाऽपि स्वतस्तत्सम्बन्धो भक्तितरङ्गिण्यां य उक्तः स तत्प्रकारकज्ञानपूर्वकस्य तस्य तत्राऽभावमभिप्रेत्यैव न तु सामान्याभावाभिप्रायेणेति ज्ञेयम् । सम्बन्धस्याऽस्य स्नेहात्मकत्वेन तत्सत्त्वे तदर्थित्वं नास्तीत्युक्तेरसम्भवात् । "दुस्त्यजश्चाऽनुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसामि" ति "दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत" इत्यादेर्विरोधाच्च । न च नेदं तदर्थित्वं वरणकार्य्यमिति शक्यमभिधातुम् । महतो विप्लवात् । अतिप्रसङ्गाच्च । एवं सति तदर्थित्वेन व्रजस्थानां यथा भगवता भाववृद्धिर्व्यधायि तथैवाऽस्माकमपि स्वानुगृहीतानां तदर्थितयैव साधनेषु प्रवृत्तानां तामेव विधास्यति । यथा च भाववृद्धिपर्य्यन्तं तदर्थित्वेनैव तेषां पुष्टिमार्गीयत्वं स्नेहैकफलकत्वाच्च तस्यास्तत एव भक्तिमार्गीयत्वमपि तथैवाऽस्माकमपि साधनप्रवृत्तानामिति तदुभयव्याप्यत्वान्मर्य्यादामार्गस्य तदीयत्वे सत्यपि युक्तोऽयमुभयोऽपि व्यवहार इति । प्रत्यक्षो हि लोके कालिन्दीलोलकल्लोललीलारसमनुभवितुमनसस्तत्पथमुपतिष्ठमानायां गृहाभिमुखवर्त्तिन्यां वीथौ सञ्चरतोऽपि जनस्य तादृशाभिलाषवशेन कालिन्दीं गच्छामीत्यनुव्यवसायो व्यवहारश्च ।

तत एवाऽग्रे किञ्चेत्यादिना तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपित इत्यन्तेन भक्त्यतिरिक्तमार्गे तत्सम्बन्धं निरस्य भङ्ग्यन्तरेण पूजाविधौ तत्सम्बन्धशङ्कायामत्र

(१९)

वदाम इत्यादिना तथात्वं ज्ञेयमित्यन्तेन सर्वभक्तीनां स्वरूपभेदकथने प्रवृत्तैस्तैर्मर्य्यादाभक्तिस्वरूपोक्तौ "भक्तिमार्गे मर्य्यादाभक्तिरित्युच्यत" इति भक्तिमार्गव्याप्यत्वमभिदधे तस्याः ।

अग्रे च तेनेत्यादिना ज्ञापितं भवतीत्यन्तेन स्नेहे भक्तिपदशक्तिं तदतिरिक्ते च तत्प्रयोगस्यौपचारिकत्वं निर्णीय तथा सति पुष्टिमार्गीयेषु श्रवणादिष्वविशेष इत्याशङ्क्य स्नेहमध्यपातित्वेन न तत्र लक्षणेति "स्नेहवशेने"त्यादिफक्किकया समादधे । एवमपि गौणी नाऽपैतीति "भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य" इत्यादौ युगपद्वृत्तिद्वयविरोधं परिहरन्तश्च "साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वं भक्तिपदप्रवृत्तिनिमित्तं श्रवणादिषु भिन्नमि"ति पक्षान्तरमभ्युपजग्मुः । तथाच मर्य्यादाभक्तेः पुष्टिमार्गीयत्वं न चेत्स्नेहमध्यपातित्वाभावेन लाक्षणिकत्वे विद्यमाने "भक्त्याऽहमेकये"ति साधनसाध्यरूपां भक्तिमेकीकृत्य प्रवृत्ते वचने गौण्या युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः सुदुश्शकशङ्क एव स्यात् । ततश्च स्फुटमेव तस्यास्तदुभयव्याप्यत्वं प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन वृत्त्यन्तरे निरस्ते भक्तिपदस्य तत्राऽनौपचारिकत्वञ्च ।

तदग्रे च न चेत्यादिना भक्तिसाधनत्वोक्त्यंशेत्यन्तेन पदप्रयोजनादिकमुपपाद्य एवं सतीत्यादिना नाऽत्र लिख्यत इत्यन्तेन जातस्नेहानां भजनप्रकारेषु स्नेहस्य तदतिरिक्तानाञ्च स्नेहवद्भिः कृतस्योपदेशस्य नियामकत्वं स्नेहाभावेऽपि तदुपदेशानुसारेण कृतेर्भक्तित्वमेव नाऽन्यथात्वं प्रासङ्गिकञ्च प्रतिपादयाञ्चक्रुः । एवञ्च यथा नियामकस्य विधेरज्ञानेऽपि पित्रादिशिक्षया बालेन कृतस्य कर्मणः कर्ममार्गे प्रवेशस्तथा तादृशस्य स्नेहस्याऽभावदशायामपि तद्वदुपदेशानुसारेण क्रियमाणानां श्रवणादीनां स्नेहान्तःपातित्वमिति स्नेहस्यैवाऽभावे तदन्तःपातेन लक्षणानिरासः कथमुपपद्येत कुतश्च गौण्याऽस्वरस इति पूर्वत्र प्रसक्ता शङ्का प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन श्रवणादिषु भक्तिपदस्याऽनौपचारिकत्वेऽपि स्नेहव्याप्यत्वं न सिध्यतीति शङ्का च दत्तोत्तरा द्रष्टव्या । ततश्च सर्वथाऽपि युक्तस्तथा व्यवहार इति दिक् ।

श्रीमदाचार्य्यचरणाशयाऽयं प्रबन्धश्च ।

केचित्पुनः प्रबन्धस्याऽस्य प्रमेये श्रीमदाचार्य्यचरणाशयवैषम्यमाशङ्कन्ते । तदासुरावेशविजृम्भितम् । "उपासनादिमार्गातिमुग्धमोहनिवारकः" "भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्" "जयन्ति पितृपादाब्जरेणवः" "नमामि चरणं मुदा शरणमि" त्यादिभिः श्रीमत्प्रभुचरणैरेव स्वस्य तत्पथपथिकत्वप्रतिपादनात् ।

किञ्च । तत्त्वार्थदीपे सर्वनिर्णयप्रकरणे "कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये"ति साधनानि वदन्तस्तत्प्रकाशे श्रीमदाचार्य्यचरणा आहुः—

"सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्य्यवसायिनी । अन्यथा मनस्यन्यद्विधायाऽन्यथा करणे न फलसिद्धिरित्यभिप्रायेणाऽऽह—श्रीभागवततत्त्वज्ञमिति । जिज्ञासुः । न तु कौतुकाद्याविष्टः । भजनं सर्वभावेन । तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्त्तव्या । स च दुर्लभ इती"ति ।

तथाच सेवा च प्रमाणेत्यादिना यदत्र कथितं तदेव भक्तिहंसे "पूर्वमेवाऽनेकप्रमाणसिद्धत्वादि"त्यादिना सङ्गृहीतम् । जिज्ञासुरित्यादिना भगवत्सेवा कर्त्तव्येत्यन्तेन च यदत्रोक्तं तदेव "तद्रहितानां तु तद्भक्त उपदेश एवे" त्यनेन तत्रोपपादितम् । स च दुर्लभ इतीत्यनेन च यदत्र प्रतिपादितं तदेव "आधुनिकानामुपदेष्टॄणां स्नेहाभावेऽपी"त्यादिना विशदीकृतमिति नांऽशतोऽपि वैषम्यमित्यलं विस्तरेण ।

श्रीमद्बालभट्टप्रणीतनिर्णयार्णवद्वितीयतरङ्गादिदर्शनेन च विशिष्य दिदृक्षाऽपि शक्या सफलयितुम् ।

ऐतिहासिकम् ।

श्रीमत्प्रभुचरणादीनां प्रादुर्भावादिसमयस्तु स्फुट एवेति कृतं तद्विचारेण । तथाहि । नयनर्षीन्द्रियचन्द्रसम्मिते वत्सरे (१५७२) श्रीमत्प्रभुचरणानां

प्रादुर्भाव: । गजास्यदस्रनहिमकरगुणपरभ्रमाताङ्कसङ्कते च काले (१६११) श्रीमद्रघुनाथचरणानामाविर्भाव: । विद्यामुनिमहेश्वरैर्विशेष्ये च वर्षे (१७१४) श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणानां प्रादुर्भाव इति ।

आवश्यकम् ।

एवं किल यदत्रौपयिकञ्चाऽऽवश्यकञ्च तदिदमखिलमावेदितमस्माभिः । इदानीं पुनः संशोधने च प्रकाशने च तत्तत्पुस्तकप्रदानेन निरुपमं साहाय्यकमाहितवद्भ्यः प्रशस्यचरितेभ्यस्तेभ्यस्तेभ्यो वितीर्य्य सहस्रशो धन्यवादान् विरम्यतेऽस्मात्प्रासङ्गिकादिति शिवम् ।

अधिष्ठानम्—
शुद्धाद्वैतसिद्धान्तकार्य्यालयः,
बड़ा मन्दिर, भूलेश्वर,
बंबई.

प्रश्रयप्रणीताञ्जलिरावेदयिता—
भट्टश्रीबलभद्रशर्म्मा,
कविः, काव्यरत्नाकरः, कविचूडामणिः,
शुद्धाद्वैतभूषणः, कविरत्नञ्च.,

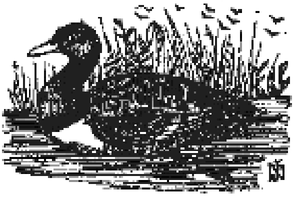

॥ अमृतवचनावली ॥

(१/क) ‘‘पाछे श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोर्वधनधरसों पूछें जो ‘‘महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी…सो हम कौनको अधिकार देके बीगार करें? तासों आपु कहो ताको अधिकारी (ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ‘‘हमहु कौंन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो! तासों तुम एक काम करों जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढ़ो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाको गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो.’’

(**श्रीगोवर्धननाथजी**, ८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

(ख) सो एक दिन एक वैष्णवने किसोरीबाईकों कछू सामग्री दीनी हती. तब किसोरीबाईने सिद्ध करिके श्रीठाकुरजीकों भोग समर्प्यों. ता दिन श्रीठाकुरजी आरोगवेकों पधारे नाहीं. तब किसोरीबाई मनमें बहोत खेद करन लागी. तब श्रीठाकोरजी बोले जो तेनें मेरेलिये सामग्री क्यों लीनी? सो हम कैसे आरोगे?

भावप्रकाश : यामें यह जताये जो औरकी सत्ता-सामग्री अपने श्रीठाकोरजीकों आरोगावनी नाहीं. और कछू वैष्णवपेतें ले के श्रीठाकुरजीकों विनियोग न करावनो. सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करें.

(२५२ वै.वार्ता, किसोरीबाई वा.प्र.२)

(२) जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो याकेलिए गोअन्कों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो. यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे.

(**महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य**.घरुवार्ता-३)

(३) …श्रीआचार्यजीको वैष्णवने आई कही, ‘‘महाराज! श्रीद्वारकानाथजी वैभव

सहित पधारे हैं.’’ ता समें श्रीगोपीनाथजी ठाड़े हते! (तब) श्रीगोपीनाथजी कहें ‘‘लक्ष्मी सहित नारायण पधारे हैं!’’ तब श्रीआचार्यजी कहे तब श्रीआचार्यजी कहें ‘‘वैभव ठाकुरको देखि के तिहारो मन प्रसन्न भयो है? (तब) श्रीगोपीनाथजी कहे, तिहारो कहाइके श्रीठाकुरजी की वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निरमूल नाश जायगो’’. तब श्रीआचार्यजी कहें ‘‘हमारो मारग तो ऐसोई है.’’

(**श्रीगोपीनाथप्रभुचरण,** ८४ वैष्णव वार्ता, दामोदरदास संभलवारेकी वार्ता).

(४/क) धनादिकी कामनाकी पूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको कर्ममार्गीय समझना चाहिये अपनी आजीविका चलानेकेलिये धनोपार्जनके रूपमें जो हैं उनको तो खेती-बाड़ी जैसे व्यवसायकी तरह ‘लौकिक कर्म ही कहना चहिये (धर्म-भक्ति सर्वथा नहीं). मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलका उपयोग करनेवालेको उसके मलकी सफाईसे अधिक गंगास्नानका फल मिलता नहीं है. इतना ही नहीं ध्यान देनेलायक बात यह है कि गंगा जैसी पवित्र नदिके जलका ऐसा घृणित कार्यकेलिये उपयोग करनेके कारण वह पापी बनता है इसी तरह प्रभुकी सेवा-कथाके माध्यमसे पैसे कमानेवालेको सेवा-कथाका कोई भी (धार्मिक-भक्तिमार्गीय) फल तो प्राप्त नहीं ही होता है प्रत्युत ऐसे अधम आचरणके कारण वह पापका ही भागी होता है.

(**श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण.** भक्तिहंस)

(४/ख) तब श्रीगुसांईजी आपु कहे : ‘‘जो हम कौनसे जीवको कहें, जो कौनसे जीवको बिगार करें! सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है! तासों श्रीगोवर्धनधरको अधिकार (ट्रस्टीपद) कौनकों देय? कौनको बिगार करें?...पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ‘‘महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी... सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाको अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढ़ो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो’’.

(**श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण,** ८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता प्रसंग-१०)

(५) अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी और उत्सवादि समयानुसार अपने वित्त अनुसार करने वस्त्रभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनो.

(**श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण** २४ वचनामृत)

(६) यहां भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होयवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोड़के दूसरो जगह (अर्थात् हवेलीनूमें, जैसे आजकल, भेट-सामग्री पधराके नित्य या मनोरथनकी झांकी कर लेनो वैष्णवनूने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो है वैसे) भगवत्सेवा करवेवालेनूकुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके हे.

(**श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी**, भक्तिवर्धिनीव्याख्या-२)

(७) जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करि कोडी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, ओर नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो "तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो!" या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई-आपुनी सेवा न भई-राजभोगको नागा माने, धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये-दुःखक्लेश न पाये.

(**श्रीहरिराय महाप्रभु**, भावप्रकाश ८४ वैष्णवनकी वार्ता-७६)

(८) पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोई दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अहंकार तो बढ़े ही है परन्तु ऐसी खरीदी भई सेवासु चित्त भगवानूमें कभी चोंट नहीं सके है. भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिकके रूपमें धनादिक लिये जावेपे तो, जैसे पंडा-पुरोहितनूकुं यज्ञ-यागादिको फल नहीं मिले है परन्तु यजमाननूकुं ही मिले है वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा

निष्फल बन जाय हे शंका: यजमान जैसे दक्षिणा दे के पुरोहितन्के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे है वैसे हो भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्में वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरह:अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई है? समाधान: या शंकाको ये समाधान जाननो जो कर्ममार्गमें ऐसो करनो विहित होवेसुं पुरोहितन्सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध नहीं होयवेसूं कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकारसूं (निज घरमें निज परिजनन्के सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही भगवत्सेवा करनी चहिये.

(**गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण,** सिद्धान्तमुक्तावली विवृतिप्रकाश-२)

(९) लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू भेट-सामग्री मिलि जाये ऐसे लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पाखंडी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे ऐसी रीतिसूं "मेरो लौकिक सिद्ध होय" ऐसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय है.

(**नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी महाराज,** सिद्धान्तमुक्तावली-टीका श्लोक १६-१७)

(१०) जो श्रीवल्लभकुल हैं वे तो आपुने सेव्यस्वरूपपें कैसो स्नेह राखत हैं जो एक ठौर द्रव्यकी ढेरी करो और दूसरी ठौर श्रीठाकुरजीकों पधरावो तो श्रीवल्लभकुल वा द्रव्यकी ओर देखेंगे हु नाहीं अरु श्रीठाकुरजीकों अतिस्नेहसों पधराय लेंगे. परि जो या कलिको जोव है वाकुं तो द्रव्य बहुत प्रिय है. तासों वो तो श्रीठाकुरजी सन्मुख हु नाहीं देखेगो अरु केवल वैभवकुं देखेगो अरु मोहित होय जायेगो.

(**नि.ली.गो.श्रीमद्दुजी महाराज,** ३२ वचनामृत वचनामृत-५)

(११) श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे सेवा आदि

विषयनूमें पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो जेसी कि परम्परा आज भी हे ही ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजनूके समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे.

(**गोस्वामी तिलकायत नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज, श्रीनाथद्वारा,**
डेक्लेरेशन मिति भाद्रशुक्ला पञ्चमी वि.सं.१९४८=ता.५-९-१८९३)

(१२)...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; और वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाय है. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वहां जो सन्मुखभेंट आवे हे, वाकुं कीर्तनीया-महावनीया ले जावे हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरो कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित है...हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरे हैं वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं धरें हैं फिर भी वो आभूषणनूमें वापरी जावे है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवेमें बहोत अनाचार होवे है. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे...वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे है.

(**नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज, राजनगर,** वचनामृत.४८४-८७).

(१३) महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिनूसूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चकि रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो नहीं जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण-वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हैं... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

(**नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी महाराज, अमरेली,** श्रीवागीशलालजीके आम-मुखत्यार:''अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक'' मुद्देपर

सन्१९०९-१०में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी)

(१४) जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यथार्थ उपदेश लोगनकुं देते हते; और मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणनूसूं हमने बहोत हद तक छोड़ दिये हें; या कारणसूं अधिकांश लोगनूमें साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार जानकारी बच गयी हे.

(**पञ्चमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी, कामवन** मुंबईके वैष्णवनकुं लिखित पत्र:'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित)

(१५) वकील: यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये; भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो ''मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे'' ऐसे आपको कहनो हे?

पू.पा.महाराजश्री: पुष्टिमार्गीय वैष्णवनूकेलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवेकी कोई प्रक्रिया नहीं हे. और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकुं साम्प्रदायिक मन्दिर नहीं कह्यो जा सके.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज सुरत** ''नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक'' विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी)

(१६) हमारा प्रमुख सिद्धान्त है 'असमर्पित त्याग'. उत्तम उपाय तो यही है कि घरमें जो भी रसोई बने वह प्रभुको भोग धरके बादमें ही महाप्रसाद लिया जाय.... जहां तक असमर्पितका त्याग नहीं होगा वहां तक बुद्धि अच्छी नहीं हो सकती. सानुभावता कब सिद्ध हो सकती है? जब हमारी बुद्धि निर्मल हो... आज हम हीरे (घरमें बिराजते सेव्य प्रभु) को परख नहीं सकते. सच्चे हीरेको जौहरी ही परख सकता है. स्थिति क्या है कि हम जूठे हीरेको सच्चा मानकर उसीके पीछे (हवेली-मन्दिरोंमें) दौड़ लगा रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीने तो निधिरूप सच्चा हीरा हमको दिया है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि ''दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमेश्वरम्''. भगवान्को पहचाननेकेलिये तो दिव्यता प्राप्त होनी चाहिये. दिव्यता ही आत्मबल है.... अतः

मेरा तो आप लोगोंसे साग्रह अनुरोध है कि आत्मबल प्राप्त करनेकेलिये अपना कुछ दैनिक नियम बनाईये. षोडशग्रन्थके पाठका नियम लीजीये.

(**द्वितीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज, इन्दौर-नाथद्वारा,** श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन भाग-२, वचनामृत ७, पृष्ठ.१२४)

(१७/क) और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टनूसूं जो नेग-भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे है. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग अरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो प्रसाद गायनूकुं खवा दियो. ये है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तनूको जा (सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी) प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यनूकुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित है.

(१७/ख) भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाको अंग है, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार-पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने (अपने घरमें) करो...गुरुघरनूमें मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध है. ग्रन्थनूके अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

(**नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज, मुंबई-किशनगढ़** (१७/क)"आचार्यो-च्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति" लेख.पृष्ठ.७, १७/ख.लेख 'श्रीवल्लभविज्ञान अंक ५-६ वर्ष १९६५में प्रकाशित वक्तव्य)

(१८/क) वैष्णवनूके पास जो भी परम पदार्थ है वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणनूके दिव्य सिद्धान्तनूके ऊपर अटल रहवेपर

ही जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ रहें तो वैष्णव-हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगवशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन आज बन्द भये हैं यासुं अब वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जावेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे है. मोकुं तो श्रद्धा है के या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो है.

(१८/ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं आगे बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण-दीक्षा कहें हैं तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन कहें हैं. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने है तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकार मिले हे. ब्रह्मसम्बन्ध लेवे वालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे... हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के घर 'घर' ही कहलावे हैं ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे है.

(१८/ग) श्रीआचार्यचरणके सिद्धान्तोंमें भगवत्सम्बन्ध और भगवत्सेवा को ही प्रधानता दी गयी थी. बादमें, परिलक्षित होता है कि, उसमें भी कुछ अन्तर आ गया....श्रीआचार्यचरणके और श्रीप्रभुचरणके, सेवक हम देख सकते हैं कि सभी प्रकारके हें. ऐसा नहीं है कि अमुक विशिष्ट व्यक्ति ही भगवत्सेवाकेलिये योग्य होता है और अमुक परिस्थितिमें ही भगवत्सेवा हो सकती हो ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है. अनेक प्रकारके जीव भगवत्सेवा करते थे. उनमें स्मशानवासी वेश्या आदिसे लेकर अच्छे विद्वान् ब्राह्मण भी थे आजके समयमें मुझे प्रतीत होता है कि हम उन चरित्रोंको भूल कर पीछेसे मुख्य बन गये ऐसे केवल भावात्मक रूपको ले कर बैठ गये हैं कि जो आज भी वैष्णवोंमें प्रचलित है....मैं मानता हूं कि चरित्रोंका विचार करनेमें सिद्धान्तोंकी आवश्यकता होती है.

(तृतीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज, कांकरोली (क) श्रीमत्प्रभुचरण प्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन मुंबईके पुष्टिमार्गीय

वैष्णवनूकी सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. (ख) बयान:मूर्तिवा कार्या.सहा.कमि. देवस्थानविभाग. खंड.उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५. (ग) श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन भाग-२, वचनामृत २०मुं पृष्ठ.१४६,१४९).

(१९) आज मोकुं अपने हृदयके उद्‌गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे मन्दिरनूमें मात्र द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थनूकी जड़ है. ऐसे मन्दिरनूके अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं है. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदिशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. ‘‘करत कृपा निज दैवी जीवनपर’’ या उक्तिमें ‘निज शब्दको प्रयोग कियो गयो है. दैवीजीव कहीं भी हो सके हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम ‘पुष्टि’को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हैं!... आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे वाकुं जिवानो चाहें हैं? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहो हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहमें सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरनूसूं कोई लाभ नहीं है क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; ओर जहां द्रव्य इकट्ठो होय है वहीं अनर्थ हो जावे है. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप याके कारण ही है.

(नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज, मुंबई-मद्रास ‘वल्लभविज्ञान’ अंक ५-६ वर्ष.१९६५)

(२०/क) जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हैं... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय (दोष) लगे है. जैसे गंगा-जमुना जलको उपयोग गुदप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके है, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(२०/ख) तन और वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही है अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो है के ‘‘तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा’’. मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक

है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके है. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यवसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे है. परन्तु वामें वित्त स्ववंको लगायो नहीं जावे है अतएव बजारके भावनूंकी घट-बढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं है... कोई बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके समझ ले है के बच्चा परीक्षामें पास हो ही जावेगो. इन दोनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं है क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्त दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें: एक दुकनदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगाके व्यापार शुरु करे सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रहके जब तन भी व्यापारमें लगावे है तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके ही विचार आते रहे हैं : अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं कैसे व्यापार बढ़े... अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये.

(**नि.ली.गो. श्रीगोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर :** (२०/क) 'सुधाधारा पृ.११४. (२०/ख) 'सुधाबिन्दु पृ.७३)

(२१) "अति धन्यवादार्ह हे कि आपने इतनी महेनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तनूंकूं कोर्टमें समझाये"-"हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयार हें".

(**नि.ली.गो.-श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज,**जामनगर, : गो.श्याम मनोहरजी(-पार्ला-किशनगढ़ कुं भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रनूंमें).

(२२/क) ट्रस्ट हवेली-मन्दिर यानि पुष्टिभावोंकी मीत :

भगवान्-स्वधर्म पूंजीसे बंधकर नहीं चलते; वे श्रद्धा और प्रेमपरवश होकर चलते हैं. आज जो (मन्दिरों-हवेलियोंके) ट्रस्टोंकी या न्यांसोकी प्रणाली चल रही है वह पूजीवादकी एक अभिनव दास्तां है जिसमें भगवान्, गाय, गुरु और धर्मानुयायिओं पर एकछत्र साम्राज्य करनेकी लालच समायी हुई है. इस तरहसे आदर्शका जामा पहने हुए इस धनलिप्सा और धनिकों की दास्तांमें वह प्रेम नहीं है जो एक अकिंचन भक्तके "रहिये मेरे ही महल अनत न जैये..." इस आत्मीयता भरे मीठे बैनोंमें झलकती

है. यह प्रेमभरा अनुनय है और आजका ट्रस्टी और सत्ता भगवान्को पूंजी या सत्ता के जोर पर यह कहते हैं कि "इस स्थानसे जरासा भी नहीं हिलना, ध्यान रखना, मैं तुम्हारा व्यवस्थापक, ट्रस्टी हूं, चाहो या न चाहो, तुमको मुझपर भरोसा करना ही होगा, समझे!" लोग समझते हैं कि यह धर्मरक्षाका ही एक सर्वश्रेष्ठ रूप है, किन्तु... इसमें भी प्राणोंकी उतनीही असुरक्षा है जो मौतसे कम नहीं...वल्लभाचार्यने ऐसे जकड़े हुवे ईश्वरको दामोदर माननेसे भी इंकार कर दिया.

ठाकुरजीको ट्रस्टमें पधरानेवालोंने ठाकुरजीको बेच दिया है :

...अच्छी तरह सोचो कि ऐसी कौन माता होगी जो अपने लड़केको धनकी लालचमें बेच दे; या कोई प्रेमी कभी भी प्रत्यक्ष तो क्या सपनेमें भी ऐसा करना तो दूर रहा, सोच या देख भी नहीं सकता, इस विषयमें एक कहानी याद आती है...एक बार रुपये पैसेवाली बांझ औरत (आधुनीक दर्शनीया वैष्णव और ट्रस्टी) ने एक गरीब (गोस्वामी गुरु) का बच्चा (ठाकुरजी) खिलानेके लिये लिया. कुछ दिनों बाद बच्चेकी मांने जो गरीब थी बच्चा मांगा तो अमीर औरतने कहा कि ये तो मेरा ही बच्चा है, तेरा नहीं है. जो तुझसे हो सके वह करले. बैचारी गरीब मां...न्यायकी मांग करने लगी...मगर सभी (वैष्णव,आमजनता,सरकार) लोग उस गरीबके खिलाफ गवाही देने चले आये.

इस तरह धनने ईमान खरीदा, भगवान् खरीदा और उस उन्मुक्त बालककी गुंजती किलकारियां हमेंश-हमेंश के लिये चुप हो गई. लोगोंने कहा कि अब भगवान् बोलते नहीं, हंसते नहीं, खेलते नहीं हैं. किन्तु यह आशा उससे की जा सकती है जो जीवित हो, किसीके प्यारमें बन्धा हो. फिर उस खूबसूरत बच्चेकी नुमाईश और प्रदर्शन करने लगा, जैसे बेबी मिल्कके डिब्बेका चित्र या मोडेलका चित्र होता है.

ट्रस्टीओं द्वारा की जाती सेवा पूतनाके प्रेमके समान है :

रोज यह सोचा जाने लगा कि इससे क्या आमद हुई, कितनी बिक्री हुई. और सभी व्यवस्थापक इसकी निगरानी करने लगे. जब कोई आता देखने तो उसे दुलार किया जाता. लोग समझते हैं कि यह प्यार है, भक्ति है. मगर था तो वह व्यवसाय ही, जिसका रूप पूतनाके प्रेमकी भांति सच्चाईको छिपा गया और भोली यशोदाने लाल उसे खिलाने

दे दिया.

मन्दिर-हवेलियां दुकान बन चुके हैं :

कितनी बिक्री हुई इसका हिसाब रखा जाने लगा धर्म और धर्मस्वरूप यह बालक भगवान् जो प्यारसे भक्तोंके लिये भोला बन गया था. लोगोंने उससे फायदा उठाया और कह दिया - यह सार्वजनिक ईश्वर है. उस सर्वशक्तिमानको स्वार्थका साधन बना दिया और जगन्नियन्तापर धननियन्ता शासन करने लगे. हालत यह हुई कि कौन उसको खिलाये-पिलाये? वह तो सार्वजनिक था!

मन्दिर-हवेलियोंके ठाकुरजी जड़ बन चुके हैं :

द्वारकाधीशको भी यह छूट थी कि वह विदूरके घर साग खा सकता था किन्तु यह तो नितान्त निष्क्रिय बन गया, केवल दिखावा मात्र!

...क्या यह सिद्धान्त किसी प्रियतमके लिये प्रियतमा या माता को मान्य होगा? किन्तु यह आज मान्य है और मान्य करना होगा. केवल पैसेकेलिये अपना दिल नहीं, दुनियाका दिल बहेलानेको, बारांगनाकी भांति, जिसमें हृदय नामकी कोई वस्तु रह नहीं सकती और है तो वह मानी नहीं जाती. सभीका अधिकार है उसपर, जैसे वह सम्पत्ति हो, जो चाहें खरीदें, जो चाहे प्रयोगमें लायें, जैसा चाहे वैसा करे! उसको करना ही होगा. कैसी अनोखी है यह भक्ति और प्रेम की परिभाषा! फिर भी स्वतन्त्रताका घोष किया जाता है! क्या यह ही वह भक्ति है जिसे श्रीवल्लभ "महात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह" कहते हैं? आज इस भक्तिका माहात्म्य ये ही है कि किस भगवान्के यहां कितनी आमद होती है!

ट्रस्ट मन्दिर पुष्टिप्रभुके लिये जेलखाना :

...अब कोई प्यारसे यह नहीं कह सकता कि मेरा बालक देरसे सोया है, जल्दी मत जगाना. सूरदासका पद भगवान्को जगानेकेलिये दुलार नहीं रहा, न कलेउके पदमें ममताका अनुनय है; यह तो कम्पलसरी ब्रेकफास्ट है जिसे समय पर कैदीकी तरह ईश्वरको करना पड़ता है. मानो एक जेलखानेमें उठने या खाने की घंटी बजी हो! ठाकुरजी बिक रहे हैं; मनोरथी-दर्शनार्थी भक्त नहीं ग्राहक हैं.

...श्रीवल्लभाचार्यने जीवनमें अपने कलेजेके टुकडे अपने आराध्यको कभी दूर नहीं होने दिया. आज वो बिक रहा है धनिकोंके हाथों और

जकड़ा है सरकारी शिकंजेमें, पब्लिक् पोलिसीके अंदर, और अब उसे म्युझियमकी शोभा बनानेका समय निकट आ रहा है.

धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्‌गर्ल्‌से भी बदतर है :

बेचारे धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्‌गर्ल्‌से भी बदतर है...भगवान्‌की सुंदर विनिन्दितमुक्ता-दंतपंक्ति बगला भगतोंको देखकर खिल जाती है. सदानन्द निरानन्द होकर इन ईमान खरीदनेवालोंके हाथों खुल्लेआम बेचा जा रहा है...सबको सहारा देनेवाला स्वयं बेसहारा होकर बैठा है अपने धनिक ग्राहकोंकी प्रतीक्षामें!

हवेली-मन्दिरमें देवद्रव्यका प्रसाद खाना मतलब नरककी टिकिट कटवाना :

धर्मशास्त्रमें जिस बुद्धिमान् ब्राह्मणको देवलकवृत्तिसे अधम माना गया है...आज उस देवलकवृत्तिका धन चटकारे लेकर वैष्णवसमाज खा रहा है. नाथद्वारेमें क्या चिज स्वादिष्ट है...ये ही विवेचन करता है...किन्तु मेरा कर्तव्य क्या है यह कभी नहीं सोचता. श्रीनाथजीमें अब धनिकोंका साम्राज्य है.

...नाथद्वारामें आजकल पैसा अधिक आ रहा है, क्योंकि वहां इन धनिकोंका साम्राज्य है. इनके दलाल श्रीनाथजीकी महिमा बढ़ाते हैं...गरीबोंकेलिये ठहरनेवाला भगवान् अब धनिकोंकेलिये ठहरता है.

श्रीवल्लभके आदर्शोंके स्मशान जैसें मन्दिर-हवेलियां :

भगवन्नाम भागवतसे अस्पतालोंकेलिये करोड़ोंकी रकम जमा होती है, और जामनगरमें आदर्श स्मशान भी है, किन्तु यहां तो स्मशानसे भी आदर्श गायब होता जा रहा है! शायद आदर्शका स्मशान है यह ट्रस्ट और सरकारी देवालय.

मन्दिरका प्रसाद खाया नहीं जा सकता है :

...वल्लभमतमें ये सिद्धान्तत गलत है ओर ऐसे देवस्थानोंका चढावेका प्रसाद भी नहीं खाया जा सकता. क्योंकि वहां देवलकवृत्ति ही प्रधान है.

दर्शन-मन्दिर धर्मप्रचारका माध्यम नहीं हो सकते :

जहां तक भगवत्स्वरूप या मूर्तिका प्रश्न है, धर्मप्रचार उनसे सम्बन्धित नहीं है और न उसे उचित कहा जा सकता है. क्योंकि भगवान्‌ने धर्मकी व्यवस्थाकेलिये वेदव्यासादि अनेक ज्ञानावतार और अंशावतार धारण करके

ही धर्मरक्षा की है. आजकी (सार्वजनीक हवेली-मन्दिरकी) व्यवस्था आचार्योचित और धार्मिक या भारतीय ही नहीं है तब वल्लभाचार्यसम्मत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता...हमारा इस विषयमें सुझाव है कि एक अलग व्यवस्था...करनी चाहिये जिससे वल्लभसिद्धान्तोंकी रक्षा हो सके. यदि ऐसी व्यवस्था नहीं कि जाती तो देवद्रव्य होता है. जिसका सेवन करनेसे आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नरकपात होगा.

नकली बैठके :

बैठकोंकी भावगंगा तो अब घरबैठे ही मनुष्यको पवित्र करने अपनी उत्ताल तरंगोसे सारे घर-बारको ही सराबोर करने लगी है!...८४ बैठकोंसे काम नहीं चला तो अब महाप्रभु श्रीवल्लभको मुसलमानोंके खेतोंमें अपनी झारी और अन्य चिन्ह प्रकट करनेको विवश होना पड रहा है!

(''हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन'' दिनांक. २५।२।८१)

(ख) श्रीवल्लभाचार्यने सेवाको खरीदनेकी बात नहीं कही है कि खरीद आओ रूपये देकर. नहीं! 'तनुवित्तजा'पदका अर्थ ही यह है कि वह समस्त पद है. जहां तन लगे वहीं धन लगे तब ही सेवा हुई. परन्तु धन लगे और तन न लगे तो सेवा हुई नहीं कहलाती है. (प्रथमेशवाक्सुधा-१, पृ.५९)

(ग)...''सेवाऽपि कायिकी कार्या'' यह नहीं कि पैसे दे दिये. पैसे देकर घरमें विवाहिता पत्नीको नहीं लाया जाता है, वैश्याको लाया जाता है. वेश्यासे घर नहीं बसता है यह स्पष्ट है. अतः साफ बात है कि भगवत्सेवा और वरण में पति-पत्नीका दृष्टान्त देते हैं कि जिनमें आत्मीय सम्बन्ध है. (प्रथमेशवाक्सुधा-१, पृ.७४)

(घ) भेंट भी आचार्यके सन्मुख ही होती है. प्रभुके सन्मुख भेंट नहीं होती है. देवलकवृत्तिसे बचनेकी विधि और वैदिक व्यवस्था को सम्हालकर रखना चाहिये अन्यथा बुद्धि बिगड़ेगी. ऐसा करनेसे पतन होता है, और हुवा है. (वहीं पृ.१७१)

वस्त्र-अलंकारोंमें मन अधिक जाता हो तो ऐसा साहित्य रखनेकी आवश्यकता नहीं है. ऐसा करनेसे लौकिक बठता है और धर्मभावना नष्ट

होती है...अतः वैभव बढ़ानेकी श्रीगुसांईजीने ना कही थी. और श्रीमहाप्रभुजीने नावको डुबोकर पुरुषोत्तमको ही घरमें पधराया था. (वहीं पृ.१८०)

(ङ) धर्म की परम्परा प्रदर्शनपर आधारित नहीं है पर एक यथार्थ जीवनका उज्ज्वल पक्ष है...कुनवारा और अन्य मनोरथों...का रूप आगे चलकर महाप्रभु श्रीवल्लभकी आचार-परम्परा और सम्प्रदायकी मर्यादा को आहत करनेवाला होगा जिसकी आज कल्पना भी की नहीं जा सकती है. (वहीं पृ.१९७)

(नि.ली.गोस्वामी श्रीरणछोडाचार्यजी प्रथमेश.)

(२३/क) प्रश्नः'देवद्रव्य कायकुं कहे हैं? 'देवद्रव्य'को मतलब देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होवे वाकुं 'देवद्रव्य कहे हैं. याही प्रकार गुरुकुं उद्देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय है....मन्दिरन्में ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यकुं और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्में 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके है; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही है. याही कारण वैष्णवन्कुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेवेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही है.

(२३/ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है यामें व्यक्तिगत स्वरूप निजी स्वरूप की ही बात है; और याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसो नहीं है. मन्दिरको निर्माण भी घर जैसो होवे है कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे है वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे है तथा वाकुं 'मन्दिर ही कहे है...

(नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय, सुरत, (क)'वैष्णववाणी अंक.३, वर्ष मार्च १९८३.(ख)'गुजरात समाचार अंक २५-५-९३में प्रकाशित)

(२४) पुष्टिमार्गकी आज उपेक्षा होती जा रही है. उसकी परम्परा ही अब टूटती जा रही है. इसके मूलमें यदि कुछ है तो वह है आजकी साधन-सम्पत्ति. वही हमारे संस्कार बिगाड़ रही है. अभी भी जिस घरमें

अलौकिक (प्रभु) सेवा होगी वहां पुष्टिमार्ग जरूर निभेगा. श्रीमदाचार्यचरणके मतानुसार गृहसेवा और अपने माथे बिराजते ठाकुरजीका अति स्नेहसे जतन करना ही सच्चे संस्कारका मूल है... श्रीगुसांईजीके समयमें छप्पनभोग जैसे मनोरथोंकी शुरुआत करनेके समय (उनमें) केवल लौकिकता ही बढ़ेगी ऐसी स्पष्ट सूचना दी गयी थी... आजकल... मंदिरोंका उपयोग यश-किर्ती प्राप्त करनेके लिये होने लगा है. मंदिरोमें प्राधान्य मनोरथोका होने लगा है. श्री(ठाकुरजी), गुरु तथा सेवाभावना का उपहास होने लगा है. जबसे मार्गीय सिद्धान्तोंका उपहास होने लगा है तबसे मंदिरकी उसके संचालकोंकी वृत्ति ही पलट गई है. आडंबर और यश को पुष्ट करनेकेलिये... दर-दर भटकनेकी स्थिति पैदा हो गयी है... इन सबका सच्चा उपाय इस कलिकालमें अपने सन्तानोंको जरूरी संस्कार अपने घरसे ही दिये जायें ये ही है.

...मंदिरोंका सम्पूर्ण व्यापारीकरण होने लगा है... सम्पत्ति... प्राप्त करनेकी लालच बढ़नेसे प्रभु(स्वरूपसेवा)को भी हम व्यापार स्वरूपमें परिवर्तित करने लगे हैं.

(जुलाई-२००७, पृ.६)

ठाकुरजीकी सेवा चोरकी तरह करनी चाहिये... सेव्यस्वरूपका मैं सेवक हूं उसका ढिंढोरा पीटना या उसका प्रदर्शन करना वह भी जीवके दैन्यमें विक्षेप उत्पन्न कर सकता है. ... अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें भी इतनी गुप्तता जरूरी है. ‘‘प्रीत हियेंमें राखिये प्रकट करे रस जाय’’ की रीतिसे तुम्हारे प्राणप्रेष्ठ तुमको जिस रसकी प्राप्ति करातें हैं उसे कभी भी प्रकट नहीं किया जा सकता है.

(सप्टेंम्बर-२००४, पृ.७)

आजतो श्रीनाथजी-नाथद्वारा, चंदबावा-कामवन और अन्य ठाकुरजीके दर्शन करते ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी भुला जाते हैं. पुष्टिमार्गमें तो ‘श्रीजी’का अर्थ ही अपनें माथे बिराजते ठाकुरजी होता है. जिसमें ‘तिरु’का अर्थ श्री और ‘पति’का अर्थ नाथ (यानि श्रीनाथ) ही होता है. अर्थात् अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीमें ही अपने सर्वस्वका दर्शन होना चहिये. उनको आरोगाया मतलब समस्त जगतको प्रसाद लिवा दिया ऐसा भाव सिद्ध होना चाहिये. यहां तो उससे उलटी गंगा बह रही है. अपने सेव्य ठाकुरजीमें सभी निधिस्वरूपोंके दर्शन होनेके बदले अब तो अरे,

यहां तक कि जीवमात्रमें अपन अपने ठाकुरजीका दर्शन करनेका विचार कर रहे हैं! और फिर बुद्धिकी चतुराई भी वापर रहे हैं कि सभीमें ठाकुरजीका अंश है इसलिये घरमें प्रभुकी सेवा करें या अन्योंकी करें एक ही बात है!! अतः अन्यसेवामेंसे सन्तोष लेना शुरु किया. इससे शरीर, पैसा, कीर्ति सबकी रक्षा हो और ऊपरसे परम भगवदीय कहलाने लगें!!! (सप्टेम्बर-२००७, पृ.७)

(**पंचमगृहाधीश.नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज,** कामवन-विद्यानगर, वैष्णवता-'सांचे बोल तिहारे', प्रकाशक: पं.पी.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज)

(२५/क) हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाको पालन कहां कर रहे हैं? अपने यहां गृहसेवा कहां (रह गयी) है? केवल मन्दिरनूमें दर्शनसूं क्या लाभ है? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है "कृष्णसेवा सदा कार्या" . यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनो तीन परिक्रमानूमें अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो के घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धत वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य है तुम अपने घरनूमें ठाकुरजीकुं पधराओ और सेवा करो.

(२५/ख) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी है "गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः" (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचरण करनो चहिये गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य है... अतः मेरो तो माननो यही है के आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवनुकुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये और धर्मग्रन्थनूको पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं के मन्दिरनूमें जाके... ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होवेवाली बात नहीं है प्रत्युत अपनी प्रणालीको भंग करवेवाली बात है.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी महाराज दहिसर-मुबई,** क-'वल्लभविज्ञान'. अंक ५-६ वर्ष १९६५, ख-'नवप्रकाश अंक ८ वर्ष ८)

(२६) क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेवे तकके अधिकारी नहीं हैं. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार है. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन है... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध है अपने सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हैं, उनकोही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके है. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावानूको उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय है; और कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमनूसूं विरुद्ध होवेके कारण बन्द कर देनो चहिये.

(**सप्तमगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी, कामवन** "श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना ता.१-२-५६")

(२७/क)...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियनूको भगवानूमें विनियोग होवे है... मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हैं सेवा अपनकुं अपने घरनूमें करनी है.

('वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष १९६५)

(ख) आज बहुत घरोंमें सेवा होती है, पर क्या हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि यह सेवा वास्तविक सेवा है? क्या आजकी सेवा "चेतस्तत्प्रवणं सेवा" (चित्तका प्रभुमें प्रवण हो जाना वह सेवा है) का अक्षरशः सार्थक स्वरूप है?

वस्तुतः हम खुद वल्लभवंशज गोस्वामी भी यह दावा नहीं कर सकते हैं कि आज हम वास्तविक सेवा कर रहे हैं. यह कहनेमें मुझको लेशमात्र भी संकोच नहीं हो रहा है, क्योंकि मैं दम्भका संरक्षण करना नहीं चाहता हूं, अतः स्पष्ट है कि यदि हम गोस्वामीओंमें सेवाकी और श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके पूर्ण परिपालनकी क्षमता होगी तो ही हमारे अनुयायी स्वयं सेवा और सिद्धान्त के परिपालनमें सक्षम हो पायेंगें, अन्यथा नहीं. क्योंकि हम गोस्वामी और वैष्णव एक ही तत्त्वके दो प्रकार हैं. वल्लभकुल बिन्दुसृष्टि है तो वैष्णव नादसृष्टि है. इस स्थितिमें श्रीमहाप्रभुजी

और श्रीगुसांईजी प्रभुचरण द्वारा की गयी आज्ञा वल्लभकुल और वैष्णव दोनोंकेलिये परिपालनीय है.

(पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी महाराज, बडौदा-सुरत, पुष्टिबोध भाग.१-२,वि.सं.२०३४)

(२८/क) प्रश्न : आज चल रहे जो डिस्प्युट हैं वामें कितनेक सिद्धान्त चर्चित हो रहे हैं जैसे कि नये मन्दिर नहीं खोलने, ट्रस्ट-मन्दिर नहीं बनाने, ठाकुरजीके नामपे द्रव्य नहीं लेनो, ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने तथा बिना समजे-सोचे कोईकु ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देनो, इन सब विषयमें आपको अभिमत क्या है?

उत्तर : देखो मन्दिरकी जहां तक स्थिति है तो ये बात सत्य है के पुष्टिमार्गीय प्रकारसुं मन्दिर तो मात्र एक ही है; ओर सब घरकी स्थिति हती ...आज मन्दिर जितने हैं अथवा जिन स्थाननकुं अपन मन्दिर समझे हैं वो स्थान... वाकु अपन मर्यादापुष्टि मन्दिर कह सके हैं पुष्टिमन्दिर नहीं पुष्टिको प्रकार तो मात्र गृहसेवामें ही है.

('आचार्यश्रीवल्लभ', ऑगस्ट१९९४,अंक.५, पुष्टिमार्ग-वर्तमान.प्रश्न-उत्तर.४,पृ.७)

(ख) आजसे डेढ़सो वर्ष पूर्व, श्रीमहाप्रभुके समयसे तब तक, पुष्टिमार्गमें भगवन्मन्दिर खोलनेकी प्रणाली नहीं थी. प्रत्येक वैष्णवके घर-घर भगवत्सेवा हो उसका आग्रह रखा जाता था. वैष्णव अपने घरमें श्रीठाकुरजीके स्वरूपको सेव्य कराकर पधराकर गुरुघरकी प्रणालिका अनुसार सेवा करते थे. (व्रज मोंहे बिसरत नांही, पृ.१४०-१४१)

(ग) खेतमें भरे हुवे जलको पी नहीं सकते... वो अनाज तो पैदा कर सकता है. वो अपने पेट भरनेका साधन मात्र करता है. वो किसी दूसरेके ओर उपकारका नहीं होता है... अपना पेट पालनेकेलिये भगवद्गुणगान करते हैं वो उस प्रकारके होते हैं कि जैसे खेतमें भरा हुवा पानी होता है. पद्मनाभदासजो... आचार्यचरणके निबन्धका श्लोक समझाने पर ही उन्होंने अपनी पौराणिक वृत्तिको छोड़ दिया!... अपने मकानमें बरतन धोनेके पनाले हैं उसमें जो जल जाता है वो एक गड्ढेमें इकट्ठा हो जाता है... वो पानी तो केवल गंध ही मारता है... भगवद्भाव होते हुवे भी जिनके

स्वभावमें दुःसंगके द्वारा दोष उत्पन्न हो जाता है ऐसे मनुष्य उस गंदे गढ्ढेके समान बन जाते हैं कि जिसमें पानी भरा हुवा तो होता है लेकिन वो पानी किसी उपयोगका नहीं होता. वो भरा हुवा पानी केवल दुर्गन्ध पैदा करता है... पांचवे (भगवद्‌गुणगान करके अपनी आजीविका चलानेवाले नीच वक्ताओंके भाव) गटरके समान दुर्गन्धयुक्त...अस्पृश्य होते है. (जलभेद प्रवचन, वड़ोदरा)

(**तृतीयगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज,** कांकरोली-वड़ोदरा)

(**२९**) श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के दुनियामें भटक्ते रहेते अपने मन-चित्त(कुं) श्रीठाकुरजीके सङ्ग जोडिके विनकी तनु-वित्तजा सेवा करनी. तनुवित्तकी सेवा अर्थात् स्वयं उपार्जित अपने धनसों अपने ही घरमें श्रीठाकुरजीकी अपने ही शरीरसों सेवा करनी सो.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी, वडोदरा-कांकरोली** 'वल्लभीयचेतना', ऑक्टोबर१५ २००२,पृ.४)

(**३०**) जो घरमें रहकर प्रभुकी सेवा करते हैं वे स्वयं तो कृतार्थ होते ही हैं किन्तु उनके परिवारके परिजन भी कृतार्थ होते हैं. ...सभी इन्द्रियसे अन्तःकरणसे भजनानन्दका अनुभव घरमें रहकर श्रीठाकुरजीकी सेवासे होता है. ...इसलिये घरमें आचार्य श्रीगुरुचरणसे पुष्ट करके श्रीठाकुरजी पधराओ और समयको सेवामय बनाओ. ...श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं तो घर घर नहीं रह जाता, वह प्रभुकी क्रीडाका स्थल बन जाता है... नन्दालयकी लीलाका स्थल बन जाता है.

...मुकुन्ददास...रामदास सांचोरा...किशोरीबाई...जीवनदास...इन महानुभावोंने...श्रीनाथजी तथा घरके श्रीठाकुरजीमें भेद नहीं समझा.

...श्रीठाकुरजी अपने निधि अर्थात् सर्वस्व हैं. ...ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम श्रीनन्दराजकुमारको श्रीमहाप्रभुजीने हमारी गोदमें पधराकर हमें भाग्यशाली बनाया है. यह अलौकिक निधि(धन) देकर हमें धन्य बनाया है. इससे बड़ा दूसरा कौनसा फल हैं!

...जो सांसारिक कामनासे श्रीठाकुरजीका भजन अर्थात् दर्शन स्मरण सेवा करता है उसे क्लेश ही हाथ लगता है. ...इसी तरह जो अपने

माथे श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं उन्हें हम चाहे जैसे नये-नये पुष्टिमार्गीय मनोरथ करके सामग्री सिद्ध करके लाड़ लड़ा सकते हैं परन्तु यह अधिकार किसी दूसरे ठिकाने थोड़ी मिल सकता है. अतः ‘‘घरके ठाकुरके सुत जायो नन्ददास तहां सब सुख पायो’’.

श्रीनाथजीको भी देवालयकी लीला छोड़कर नन्दालयकी लीला करने हेतु श्रीगुसांईजीके घर पधारना पड़ा. ‘‘व्याजं लौकिकमाश्रित्य श्रीविट्ठलेशगृहे अगमत्’’. अतः श्रीनाथजीका यह पाटोत्सव ही मुख्य माना गया है जो फाल्गुन कृष्ण सप्तमीको आता है.

अतः घरके ठाकुरजीका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है. कोई पत्नी अपने पतिकी सेवा न करे, उसके गुणगान ही करती रहे... तो क्या पति सन्तुष्ट होगा? इसी प्रकार... जो सेवा न करे, कृष्ण-कृष्ण गुणगान करते रहते हैं, परन्तु सेवा स्वधर्मसे विमुख रहते हैं वे हरिके द्वेषी हैं (विष्णुपुराण) सेवासे सेव्यको सन्तोष मिलता है यही वैष्णवका स्वधर्म है.

(**पू.पा.गो.श्रीगोकुलोत्सवजी महाराज, इन्दौर-नाथद्वारा,** २५२ वैष्णव वार्ता, खंड-२ की भूमिका पृ.१५-३६)

(३१/क) गो.श्रीहरिरायजी : जरा ध्यानसे सुनें... ‘‘तत्र अयम् अर्थः लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि’’ स्पष्ट सुनें, ‘‘सम्पादकत्वात्’’... लाभ-पूजार्थ यत्न करता है जो सेवा करके, जब वो लाभ-पूजार्थ प्रयत्न करता है तो वो उपधर्म हुवा; देवलकत्व आदि जो दोष हैं वो उसमें प्रविष्ट होंगे ...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् यह खास ध्यानमें रखना कि जिस स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा की गयी हो उस स्वरूपकी भी लाभ अथवा पूजा केलिये यदि सेवा की जाती है तो सेवा करनावाला देवलक(पापी बन रहा है...

गो.श्रीहरिरायजी : और उपधर्मत्व होता है... और ये निषिद्ध है...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : इस स्थितिमें गुरु अपने लाभ अथवा पूजा केलिये शिष्यसे कुछ भी ठाकुरजीकेलिये मांगता है तो वह... शास्त्रनिषिद्ध होनेसे... दान होनेसे देवद्रव्य होनेसे उपयोग करने योग्य नहीं होता है.

गो.श्रीहरिरायजी : हां बिलकुल... ये तो बिलकुल स्पष्ट है... ‘स्ववृत्तिवाद’से भी स्पष्ट होता है.

(‘पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा विस्तृत विवरण पृष्ठ १६४,१९३)

(ख) श्रीमदाचार्यचरणने "तत्सिद्धचै तनुवित्तजा" यह कहा है. कारणके दो अलग अलग व्यक्ति तनुजा वित्तजा करते हैं तो मानसी सिद्ध नहीं होती... इसी अभिप्रायको समझानेकेलिये आचार्यचरणने 'तनुवित्तजा' यह समस्तपद कहा है...वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषों द्वारा की गई ऐसी तनुता-वित्तजा सेवाएं मानसीकी साधक नहीं होती यही अभिप्राय बतानेकेलिये तनुवित्तजा समस्तपद कहा गया है. अन्यथा तनुवित्तजा न कह कर तनुजा वित्तजा ही कहते... यदि दो अलग-अलग व्यक्ति तनुजा और वित्तजा करें तो दोनों सेवाओंकी एक संयुक्त अवस्था तनुवित्तजा नहीं बन पाती. अतएव मानसी सिद्ध नहीं होती.

(ग) जहां तक लाभपूजार्थत्वका सवाल है तो वह तो किसी भी कोटिका भक्त करेगा तो देवलक ही होगा...यदि कोई स्वलाभपूजार्थ दर्शन-मनोरथ-महाप्रसाद आदि करता है तो अवश्य देवलक है...**अन्यके घरमें, अन्यके वित्तसे, अन्यके ठाकुरजीके भोगका महाप्रसाद लेना घोर सिद्धान्तविरुद्ध है.**

(घ) अब रहा सवाल ट्रस्टकी इन्कम और प्रोफिट यानी आय और लाभ का, तो ट्रस्टके आय-लाभ हम नहीं लेते. उलटा भगवत्शास्त्रोक्त सर्वलाभोपहरण न्यायसे ट्रस्टका सारा लाभ भगवदर्थ या गो-ब्राह्मणार्थ लगा देते हैं. ... हमारें प्रभुको नित्यनेगभोग हम स्ववित्तजासे अरोगाते हैं.

(ङ) पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये श्रीभागवतकथा करके वृत्ति करना निषिद्ध है.

(**पु.सि.सं.शि.पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज, जामनगर,** अनिर्दिष्टपृष्ठसंख्याक 'तत्सिद्धचै तनुवित्तजा')

(३२) अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो है कि गुजरातके एक गांवमें...अपने सम्प्रदायके ही दो मन्दिर हैं और मन्दिरन्की दीवार भी एक ही है; परन्तु...इतनो लोकार्थित्व समाजमें उत्पन्न हो गया है...सवेरो होते ही चन्द्रमाजीवाले वैष्णव बालकृष्णलालको जो मेवा होवे है वो चन्द्रमाजीमें ले जावे हैं और बालकृष्णजीवाले जो वैष्णव होवे हैं वो चन्द्रमाजीको जो मेवा और प्रसाद होवे है वाकु बालकृष्णलालजीमें ले आवे हैं! ऐसी जबरदस्त होंसातोंसी वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है के मानों एक-दूसरेके संग स्पर्धा करते होवें. ऐसो ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण

जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व और क्या हो सके है!... ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फजीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे है. भागवतमें भी लिख्यो है के ''गुर्जरे जीर्णतां गताः'' भक्ति गुजरातमें आके बूढ़ी हो गई है. अन्धानुकरण बढ़ा हो तो वह गुजरातमें बढ़ा है ... अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा ... और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तों के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता है तो ... गुजरातमें.

(**पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी, सुरत** ''पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा दि.१०-१३जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई विस्तृतविवरण'' पृ.३१७-३१८)

(३३) प्रश्न : अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर न कहके 'हवेली क्यों कह्यो जावे है?

उत्तर : सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेककु व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय है. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माता को पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है. वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलीनूकी तरह जैसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द रूढ़ हो गयो होवेसूं प्रयोग कियो जावे है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक-देवस्थान जैसो वो मन्दिर नहीं है.

(**पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी महाराज, सुरत** 'पुष्टिने शीतल छांयडे पृ.सं.१५७-१५८)

(३४) श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरन्की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु वामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती... प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोई मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे है वाकुं मन्दिरकी आरतीके घंटानाद सुनाई पड़े हैं. सेवा करवेकुं बैठी भई वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती ऐसेमें आरतीके घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके है क्या? **यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय है.**

(पू.पा.गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी, वडोदरा ‘वैष्णवपरिवार अंक.जून ९०)

(३५) तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा एक ही व्यक्ति करे तब कहीं जाकर वह मानसीको सिद्ध करती है. केवल तनुजा करली या केवल वित्तजा करली तो अहन्ता-ममता दूर नहीं होगी. ... कैसे? मैं आपको एक उदाहरण देता हूं... जो घरसेवा करते हैं उनकेलिये तो को प्रश्न नहीं है. लेकिन यदि कोई वित्तजा सेवा करेगा तो समझ लीजीये कि उसने मन्दिरमें भेंट दी, मनोरथ किया. उसकी आप रसीद लेंगे... तब आप कहेंगे “मैने सेवा लिखायी है”. आप कहते हैं “मैने सेवा लिखायी है” तब अहन्ता कहां दूर हुई? अब आप मेहताजीसे क्या मांगोगे? “ये मेरी रसीद है मेरा प्रसाद लाओ”. तो देखीये अहन्ता-ममतामें हम और बंध गये. तो ऐसी सेवा संसारको दूर नहीं करेगी. संसारमें बांधेगी... केवल यदि हम वित्तजा करते हैं तो हमारे अहंकारको बढाते हैं. और अहन्ता दूर न होगी ममता दूर न होगी तो मानसी कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि सभी बन्धनका मूल अहन्ता-ममता ही है.

(पू.पा.गो.श्रीद्वारकेशलालजी महाराज, कामवन-सुरत सिद्धान्तमुक्तावली प्रवचन भरूच जनवरी २००५)

(३६) पुष्टिमार्ग गुप्त है दिखावाकेलिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के बीच आन्तरिक सम्बन्ध दृढ करवेको मार्ग है... दोनोंके संबंध ऐसे होने चहिये कि कोई तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के

साथ क्या सम्बन्ध है याकुं दूसरे कोई व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या है? प्रशंसा पावेकुं स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं? ये तो सभी कुछ बाधक है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी, अमरेली-कांदीवली** 'पुष्टिनवनीत' पृ.१२)

(३७) चित्त भगवत्प्रेममें परिपूर्ण होइ जाव, पूर्णत: भगवान्में लगि जाय, तन्मय अरु तल्लीन होइ जाय है. तब परासेवा होत है. याकों मानसी सेवा कह्यो जाय है. याके सङ्ग मनुष्यकों शरीरसों हु सेवा करनी चहिये... तनुजा सेवासों शरीरकी शुद्धि होत है. अहन्ता-अहंपनेंको नाश होत है. धनसों करी जाती सेवा 'वित्तजा'सेवा है. वासों ममता-मेरोपेनेंको नाश होत है. अहन्ता अरु ममता एक-दूसरेके सङ्ग जुडे भये रहत हैं तासों तनुजा अरु वित्तजा सेवा एकसङ्ग करनी चहिये यामें प्रधानता तनुजा सेवाकी है. केवल धन दे देवेसों सेवा होत नाहीं है वासों तो (चित्तमें) राजसी वृत्ति होत है.

(**षष्ठगृहाधीश पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी वडोदरा** श्रीमद्भगवद्गीता पुष्टिदर्शन पृ.१२५)

(३८/क) "श्रीमहाप्रभुजी वल्लभाचार्यजीके पुष्टिसम्प्रदायमें दो दीक्षाएं दी जाती हैं. दोनों दीक्षाओंका प्रयोजन और तत्पश्चात् कर्तव्य का भी विचार बहुत आवश्यक है. केवल शिष्येषणासे प्रेरित होकर शिष्य बनानेकेलिये दी जाती दीक्षासे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है. जो भगवत्सेवा करनेकेलिये तैयार नही है उसको कदापि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनी नहीं चाहिये. परन्तु श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंमें यदि निष्ठावान् है तो उसे केवल नामदीक्षा लेनी चाहिये और अन्याश्रयका त्याग करके श्रीकृष्णका आश्रय दृढ करनेकेलिये प्रयत्नशील होकर नामसेवारत रहना चाहिये. परन्तु ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेके बाद श्रीकृष्णकी सेवा करनी अनिवार्य है.

श्रीकृष्णकी सेवा भी श्रीमहाप्रभुजीद्वारा दिखलाई गयी रीतिके अनुसार ही हो सकती है. अपने घरमें अपने परिवारके सदस्योंके साथ अपने ही द्रव्यसे भगवत्सेवा करनी चाहिये. किसीको द्रव्य देकर अथवा किसीसे द्रव्य लेकर की जाती सेवा वह भगवत्सेवा तो कदापि नहीं ही है परन्तु श्रीमहाप्रभुजीका

द्रोह होनेसे गुरु-अपराधसे ग्रसित बनाकर आरुढपतित बनाती है और इस भक्तिमार्गसे भ्रष्ट करती है. आजीविका चलानेकेलिये की जाती व्यावसायिक सेवासे तो चांडालके समान हीन देवलक बन जाते हैं. अतः भगवत्सेवा अपने घरमें अपने द्रव्य और तनसे ही की जा सकती है.

सेवाकी ही तरह भगवत्कथा-कीर्तन भी स्वयं अथवा निष्काम भगवदीयोंके साथ करने चाहिये. व्यावसायिक कथाकारोंको द्रव्य-दक्षिणा देकर अथवा लेकर करायी जाती कथा राखमें घी होमनेके तुल्य है. ऐसी कथा, पारायण, कीर्तन अथवा सप्ताह पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तसे सर्वथा विरुद्ध हैं. अतः सेवा और कथा दोनों द्रव्य देकर अथवा लेकर करनेसे किसी भी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति किसी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है. हां, बहिर्मुख अवश्य होते हैं.

(ख) "अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे" व्रजाधिपका सेवन करनेवाले हम मुक्ति नहीं मांगते हैं फिर भी पुष्टिमार्गी वैष्णव भागवत सप्ताह बैठाकर अपने पितृओंको मोक्षके मार्गपर भेजते हैं! पितृमोक्षार्थ भागवत सप्ताह, कोई एकसो आठ! कोई एक हजार आठ!... अपने पितृ तो गोलोकमें जाते हैं! उनको वापिस मोक्षमें क्यों भेजते हो!... भागवत सप्ताह पूरी हो जानेके बाद माला पहेरामणी (सौराष्ट्रकी एक वैष्णव परम्परा) की जाती है और कहते हैं कि अब गोलोक धाम... अब गोलोक धाममें भेजना है मतलब यह हुवा कि पितृओंको यहां से वहां सिर्फ धक्के हि खिलवाने हैं! हमारा कोई ध्येय ही निश्चित नहीं है!! हमने श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थोंको खोला नहीं है उसका यह दुष्परिणाम है कि जिसे हमारे पूर्वजोंको भुगतना पड़ रहा है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी, जुनागढ**, श्रीयमुनाष्टक प्रवचन राजकोट २००६)

संयुक्तघोषणापत्र : सुप्रिमकोर्ट

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर,

यह स्पष्टतम शब्दोंमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है.... अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें.... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें "बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु".

हस्ताक्षर कर्ता:

गो शरद अनिरुद्धजी (मांडवी-हालोल)
गो किशोरचन्द्र (मांडवी-जुनागढ)
गो अजयकुमार श्यामसुंदरजी (मद्रास)

गो मनमोहन (मुंबई)
गो श्यामसुन्दर मुरलीधरजी (बोरीवली)
गो हरिराय कृष्णजीवनजी (मुंबई)
नि.ली.गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
गो वल्लभलाल श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो हरिराय श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर)
नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीषजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर)
गो व्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)
गो राजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो विजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो योगेश्वर मथुरेश्वरजी (वडोदरा-सुरत)
गो रघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)
गो देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल-अमदावाद)
गो नवनीतलाल श्रीगोविंदलालजी (कामवन-भावनगर)
गो मुरलीमनोहर श्रीव्रजाधीशजी (दहिसर)
नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी श्रीगोकुलनाथजी (मुंबई-नासिक)
गो रमेशकुमार श्रीगोपीनाथजी (मुलुंड-नासिक)
गो कल्याणराय (कन्हैयाबावा (वीरमगाम-अमदावाद)
गो योगेशकुमार (मुंबई)
गो व्रजप्रिय मुरलीधरजी (बोरीवली)
गो नीरजकुमार श्रीमाधवरायजी (मुंबई-नासिक)
गो शरद्‌कुमार (शीलूबावा श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
गो चन्द्रगोपाल (चंदुबावा श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
नि.ली.गो.श्रीनृत्यगोपालजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
पत्रद्वारा सम्मतिः
नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी श्रीगोविंदरायजी (सुरत)
नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)
पञ्चमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लभविद्यानगर)
नि.ली.गो.श्रीगोविंदलालजी (कोटा)

गो.श्रीअनिरुद्धलालजी श्रीद्वारिकेशलालजी (मांडवी-हालोल)
गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)
गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
गो.श्रीविट्ठलनाथजी श्रीव्रजभूषणलालजी (चापासेनी-जूनागढ-जामनगर)
गो.श्रीहरिरायजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
गो.श्रीव्रजरत्नजी श्रीव्रजभूषणलालजी (नडीयाद-जामनगर)
गो.श्रीनवनीतलालजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जूनागढ-जामनगर)
गो.श्रीबालकृष्णजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जेतपुर-जामनगर)

(**"महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशज गोस्वामीओंका संयुक्त-घोषणापत्र"** १९८६ पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्त विवरण पृष्ठ.४९-७८, फोटोकोपी देखें : सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्तप्रकाशन, सन.२००८)

॥ सिद्धान्तवचनावलीके अंश ॥

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिलें तो... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह सेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनो प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता... वह... यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता (गोस्वामी-मुखीया-ट्रस्टी) को वेतन-तनुजासेवामुल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव = दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामुल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा

की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हो और भक्त हो ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित: श्री ठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पानेके लिये भी भजन (सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी?...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-समाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके विना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ़्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धतम नरकको पानेवाले सहज आसुरी जीव हैं.

(पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश, हस्ताक्षरोकी फोटोकॉपी देखें: सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्त प्रकाशन, २००८)

सम्मतिमें हस्ताक्षर करनेवाले गोस्वामी महानुभाव :

गो.श्रीअनिरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी (मांडवी-हालोल)
गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ़)
गो.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)
गो.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (इचलकरंजी)
गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)
पंचमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लविद्यानगर)
गो.श्रीगोपिकालंकारजी श्रीवल्लभलालजी (राजकोट-माणावदर)
चतुर्थपीठाधीश गो.श्री.देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल)
गो.श्रीद्रुमिलकुमार मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
गो.श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी (कामवन-सुरत)
गो.श्रीनवनीतलालजी गोविन्दरायजी (कामवन-भावनगर)
गो.श्रीमथुरेशजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)
गो.श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी (वेरावल)
गो.श्रीरघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)
गो.श्रीरघुनाथजी रमेशकुमारजी (मुलुंड-नासिक)
गो.श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (राजकोट-मांडवी)
गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (उपलेटा-पोरबन्दर)
गो.श्रीराजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो.श्रीवल्लभलालजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
गो.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनजी (गोकुल-अहमदावाद)
गो.श्रीविजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो.श्रीविट्ठलनाथजी लालमणीजी (कोटा-मुंबई)

गो.श्रीव्रजरायजी रणछोडलालजी (अहमदावाद)
गो.श्रीव्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अहमदावाद)
गो.श्रीव्रजेशकुमार चन्द्रगोपालजी (कडी-अहमदावाद)
गो.श्रीशरदकुमार (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)

संयुक्तघोषणापत्र : अमदावाद

आज फेरि वो समय आयो है वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतनूकुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत अर्थ करि रहे हैं. लोगनकूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं. दैवीजीवनूके सङ्ग घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यनूने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करिके मुम्बईमें ... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो ... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावनूने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती ... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेनूने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके सङ्ग विनने करे भावानुवादके मुद्दानूपे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती ... समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दानूकी स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुतः एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दानूके विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके सङ्ग सहमत होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (=भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्‌को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्‌को ही भगवद उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों 'दत्तापहार'को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थनूसों ही सर्व निर्णय होइ सकत है अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(''संयुक्तघोषणापत्र:अमदावाद'', मिति फाल्गुन सुदि.७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२, देखें : पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्तविवरण १९९३)

हस्ताक्षर:

नि.ली.गो श्रीव्रजरायजी-श्रीनटवरगोपालजी महाराज (अहमदाबाद)
पू.पा.गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी महाराज (अहमदाबाद)
च.पी.पू.पा.गो.श्रीदेवकीनन्दनजी (गोकुल)
पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीराजेशकुमारजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीजयदेवलालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीमथुरेशजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीकन्हैयालालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अकाम सर्वकामो वा ...	(भाग.पुरा.२।३।१०)	६९
अक्षरादपि च उत्तम...	(भग.गीता १५।१८)	६०
अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम...	(मैत्रा.उप.६।३६)	२५,४५
अजायमानो बहुधा विजायते...	(तैत्ति.आर.३।१२।२)	४८
अथ तत्र भवान् किं...	(भाग.पुरा.२।६।४१-४३,)	भू.६१
अथ यो गृहमेधीयान्...	(भाग.पुरा.३।३२।१,१६-१८)	६१
अथातो भक्तिजिज्ञासा...	(शाण्डि.भक्तिसूत्र.१।१।१)	७६
अदीक्षितस्य वामोरु...	(नार.पुरा.उ.भाग.२२।६०)	२३
अधिकारम् आधिकारिकम्...	( )	५९
अनन्यचेताः सततम्...	(भग.गीता ८।१४)	५८
अनन्याः चिन्तयन्तो माम्...	(भग.गीता ९।२२)	५८
अनर्थो उपशमं साक्षाद् ...	(भाग.पुरा.१।७।६)	४०
अनिमित्ता भागवती भक्ति...	(भाग.पुरा.३।२५।३३-४४)	भू.५१
अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा...	(भाग.सुबो १०।४४।५८)	भू.९५
अन्तवत्तु फलं तेषाम्...	(भग.गीता ७।२३)	५९
अन्वायश्च अनेकशब्दत्वम्...	( )	७८
अभ्यंगोन्मर्दनादर्शदन्त...	(भाग.पुरा.११।२७।३५)	८४
अयं वै पुरो भुवः...	(शतपथब्रा.८।१।१।४-५)	२६,२७
अर्चति गायति कृपायति...	(निरु.निघ.३।१४)	भू.४६
अर्थम् इच्छन् ऋषि...	(बृह.देव.१।६)	भू.४८
अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान्...	(साध.दीपि.१०८)	भू.७३
अहं भक्तपराधीनो ही...	(भाग.पुरा.९।४।६३)	४२
अस्ति भाति प्रियं रूपं...	(दृग्दृ.विवे.२०)	भू.५५
अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे...	(भाग.पुरा.१।७।७)	५
अहं त्वदस्मि मदसि त्वमेतद्...	(तैत्ति.ब्राह्म.१।२।१।२०)	भू.४८
अहन्यापृतं निशि शयानम्...	(भाग.पुरा.२।७।३१)	५४

आचार्यमेव हरये...	(भाग.पुरा.११।२।४७)	६८,६९,७०
आत्मारामो अनया वृत्या...	(भाग.पुरा.११।११।१७)	६६,६७
आत्मैव इदम् अग्रे आसीत्...	(बृह.उप.१।४।१-३)	भू.६२,१७
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्...	(तैत्ति.उप.२।९)	भू.६८
इतरेतरजन्मानो भवन्ति...	(निरु.निघ.ऋज्वर्थां.७।४।५)	भू.४८
इति पुंसा अर्पिता विष्णौ...	(भाग.पुरा.७।५।२४)	२४
इति मां यः स्वधर्मेण भजेद्...	(भाग.पुरा.११।१८।४४)	२
ईशितव्यम् अनपेक्ष्य नेश्वरो...	(संक्षे.शारी.३।१८८)	भू.५२
उत्तमः पुरुष तु अन्य...	(भग.गीता १५।१७)	६०
उद्यतस्यहि कामस्य प्रतिवादो...	(भाग.पुरा.३।२२।१२)	४८
उपसद्भिः चरित्वे...	(द्र.शा.भा.२।३।२४)	३८
उत्पन्नः तल्लक्षणार्थो...	(ब्र.सू.३।३।३०)	भू.१००
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो...	(श्रीरामताप.उप.७)	३७
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्...	(श्वेता.उप.४।८-१०)	भू.७८
ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च...	(तैत्ति.उप.१।९)	२५
एक कथम् अनेकधा सृष्टिं...	(त.दी.नि.प्र.१।४०-४२)	भू.४३
एकया उक्त्या पुष्पवन्तौ...	(अम.को.१।४।१०)	८०
एवं धर्मै मनुष्याणाम् उद्धव...	(भाग.पुरा.११।१९।२४)	४९,७२
एवं य पूजयेत माम्...	(भाग.पुरा.११।२७।५३)	५७
एवं सततयुक्ता ये भक्ता...	(भग.गीता १२।१)	६०,८२
एवं सर्वं तत सर्वं स...	(त.दी.नि.प्र.१।१०१-१०२)	भू.९१
एष उ एव साधु कर्म...	(कौषी.ब्रा.उप.३।८)	१८
कथा इमास् ते कथिता...	(भाग.पुरा.१२।३।१४)	भू.५१
कर्तुं ईप्सिततमं कर्म...	(पाणि.सू.२।३।२)	भू.६३
कश्चिदेव हि भक्तो हि...	(पु.प्र.मं.४)	भू.५६
काचिद् भगवत सिद्धि...	(सुबो.२।९।१४)	भू.५४
किं पुन ब्राह्मणा पुण्या...	(भग.गीता ९।३३)	४१
किं बहूक्तेन भगवान्...	(पु.स.ना.२५३-२५५)	भू.१००

कुसुमं कोशातक्या विकसति...	( )	८१
कूटस्थो अक्षर उच्यते...	(भग.गीता १५।१६)	६०
कृष्ण केशावतार...	( )	३३
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्...	(भाग.पुरा.१।३।२८)	३३,३४
कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टि...	(त.दी.नि.यो.३।६।२)	भू.५६
केवलेन हि भावेन गोप्यो...	(भाग.पुरा.११।१२।८)	९,५९
को नु राजन् इन्द्रियवान्...	(भाग.पुरा.११।२।२)	३०
क्रीडार्थम् आत्मन इदं...	(भाग.पुरा.८।२२।२०)	भू.५३
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा...	(भग.गीता ९।३१)	३७
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य ...	(त.दी.नि.प्र.२।२२७)	भू.८५
तदभावे स्वयं वापि ..	(त.दी.नि.प्र.२।२२८-२२९)	भू.८७
पुष्प् विकसने...	(पा.धा.पा.३३२४)	८०
‘भक्ति’पदस्य प्रत्ययार्थ प्रेम...	(त.दी.नि.प्र.२।९२)	७८
‘भज’इत्येष वै धातु सेवायां...	(गरु.पुरा । ।)	भू.६४
चतुर्विधा भजन्ते मां जना...	(भग.गीता ७।१६)	७०
चत्वारि वाक्परिमिता ..	(ऋक्संहि.१।१६४।४५-४६)	भू.७४
चन्दनोशीरकर्पूरकुम्कुमा...	(भाग.पुरा.११।२७।३०-३१)	८४
जन्मान्तरसहस्रेषु तपो...	(द्र.सुबो.१०।८।१९)	२
जायस्व म्रियस्व...	(छान्दो.उप.५।१०।८)	११
ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं...	(त.दी.नि.१।१४)	७
तं भजेद्...	(गो.पू.ताप.उप.४९)	८७,८८
तथा तथा पश्यति...	(भाग.पुरा.११।१४।२६)	६५,६६
तद्वान् आसाम् उपधानो मन्त्र...	(पा.सू.४।४।१२५)	२६
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या...	(भाग.पुरा.१०।३।३७)	५८
तपो न कल्को अध्ययनं न कल्क...	(महाभा.१।१।२५६)	६४,६५
तस्माद् निराशिषो भक्ति...	(भाग.पुरा.११।२०।३५)	४०
तस्माद् भारत सर्वात्मा...	(भाग.पुरा.२।१।५)	८८
तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य...	(भाग.पुरा.११।२५।३१-३२)	भू.५१

तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य ... (भाग.पुरा.११।२०।३१-३४) १०
तस्मात् सेवा बुधैः... (गरु.पुरा.३।२१८) भू.८३
तस्य ह वाव श्रद्धया ... (भाग.पुरा.५।३।१) ५७
तान् न उपसीदत हरे... (भाग.पुरा.६।३।२७) १९
तिस्रएव देवता उक्तं... (निरु.निघ.दैव.का.७।२) भू.४६
ते एते साधव साध्वि... (भाग.पुरा.३।२५।२४-२५) ७१
ते न अधीतश्रुतिगणा... (भाग.पुरा.११।१२।७-८) ९
ते प्राप्नुवन्ति मामेव... (भग.गीता १२।४) ६०
ते होचु उपासनम् एतस्य... (गोपाल.पूर्व.१।४) ३७
तेषां दोषम् आह 'भेददृष्ट्या... (सुबो.३।३२।१३-२३) भू.८२
तौ इमौ वै भगवतो हरे अंशौ... (भाग.पुरा.४।१।५९) ३३,३४
त्रिभिः गुणमयै भावैः... (भग.गीता ७।१३-१४) भू.६८
त्रेधा तन्दुलान् विभजेद् ये... (तैत्ति.संहि.२।५।५।२) ५६
दत्तं दुर्वाससं सोमम्... (भाग.पुरा.४।१।१५) २४
दान-व्रत-तपो-होम-... (भाग.पुरा.१०।४७।२४) २,४८
दाराः पुं भूम्नि... (अम.को.३।५।२) ८२
दीक्षाहीनो नरो मृत... (नार.पुराणे.२२।६०) २३
देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं... (द्र.संस्कारदी.पृ.२५७) ४०
देवत्वञ्च पितृत्वञ्च यमस्य... (स्क.पुरा.२।४।९।४१) ३९
देवभक्तिः इतरस्मिन् ... (शां.भ.सू.१७-२४, ५६-५८) भू.९३
देवात्मसम्पद् पुंस भक्ति... (साध.दीपि.१४-४०) ८९
देवानां गुणलिंगानाम्... (भाग.पुरा.३।२५।३२) ८८
देवान् देवयजो यान्ति... (भग.गीता ७।२३) ५९
देवो असुरो मनुष्यो वा... (भाग.पुरा.७।७।५०) २
देशान् पुण्यान् आश्रयेत मद्भक्तै... (भाग.पुरा.११।२९।१०) ८४
द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो... (भाग.पुरा.२।५।१४-१७) भू.७७
धिया विशुद्धया दध्यौ... (भाग.पुरा.४।७।१८) ५७
न अयम् आत्मा... (कठोप.१।२।२३, मुण्डकोप.३।२।३) १९,२६

न अलं द्विजत्वं देवत्वम्... (भाग.पुरा.७।७।५१-५२) ४३,८२
न अहं वेदैः न तपसा... (भाग.गीता ११।५३) ४२
न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति... (भाग.पुरा.३।२५।३४) ७५
न कर्हिचिद् मत्पराः ... (भाग.पुरा.३।२५।३८) १९
न माता न पिता तस्य... (भाग.पुरा.१०।४६।३८) भू.४७
न युज्यमानया भक्त्या भगवति... (भाग.पुरा.३।२५।१९) ७१
न रोधयति मां योग... (भाग.पुरा.११।१२।१) १२,४२,५६
न साधयति मां योगो... (भाग.पुरा.११।१४।२०) ४२
नहि देहभृता शक्यं कर्म... (साधनदीपि.१५-२२) भू.६६
नाभिः अपत्यकामो अप्रजया... (भाग.पुरा.५।३।१) ५७
निरोधस्तु लोकवेद... (नार.भ.सू.८-१०,२५-२६,३८,५६,७१,८२) भू.९४
नैष्कर्म्यमपि अच्युतभाववर्जितं... (भाग.पुरा.१।५।१२) भू.५२
परस्परविरोधे हि न... (न्या.कुसु.३।८) २५
परात्तु तच्छ्रुते... (ब्र.सू.२।३।४१) १८
परिहाप्यापि वेदांस्त्रीन्... (वै.गृ.सू.१।२६६) २३
पाण्डुरमृत्पानीयमेव शुन तक्रम्... ( ) ४४
पुनश्च कथयिष्यामि... (भाग.पुरा.११।१९।१९) ७२
पुष्टि स्वार्था परार्था... (त.दी.नि.यो.३।६।१३) भू.५६
पुष्ट्या विमिश्रा सर्वज्ञा... (पु.प्र.म.१६) भू.७०
पूजादिषु अनुराग पाराशर्य... (ना.भ.सू.१६-२१) भू.९४
पोषणं तदनुग्रह... (भाग.पुरा.२।१०।१४) भू.५८,१२
प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना... (भाग.पुरा.११।२७।५२) ४४
प्राणभृतः उपदधाति... (शतपथब्रा.८।१।१।१) २६,२७
प्रीयते अमलया भक्त्या हरि... (भाग.पुरा.७।७।५२) ३
प्रेम्णोपदेशश्रवणात् प्रपत्ति प्रेमकारणम्... (साध.दीपि.१४) भू.८९
भक्ति अस्य भजनं तद्... (गो.पू.ता.उ.१।३) ८७,८८
भक्तिः त्वयि उपयुज्येत... (भाग.पुरा.११।११।२६) ६६,६७

भक्ति स्वतन्त्रा शुद्धा... (त.दी.नि.प्र.२।१९६) भू.७२
भक्तियोगं स लभते... (भाग.पुरा.११।२७।५३) २,४९,८३
भक्तियोगश्च योगश्च मया... (भाग.पुरा.३।२९।३५) ७५
भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर... (भाग.पुरा.३।२९।७-२७) भू.८०
भक्त्या अहम् एकया... (भाग.पुरा.११।१४।२१) ४३,७८,८२
भक्त्या तुतोष भगवान्... (भाग.पुरा.७।९।९) ३,४३
भक्त्यातु अनन्यया शक्य... (भग.गीता ११।५४) ४२
भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति... (महाभा.तात्प.नि.भाग.१।११७) ३
भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं... (भाग.पुरा.५।६।१८) ११
भवता उदाहृत स्वामिन्... (भाग.पुरा.११।१४।२) ६५
भूमिरापोऽनलो वायु... (भग.गीता ७।४-१०) भू.५३
भेद: पारमार्थिक इति... (सुबो.३।२३।३७) ७९
मत्कर्मकृद् मत्परमो... (भग.गीता ११।५५) ५८
मदर्थे अर्थपरित्याग... (भाग.पुरा.११।१९।२३) ४८
मदर्पणं निष्फलं वा... (भाग.पुरा.११।२५।२३) ६३
मद्गुणश्रुतिमात्रेण... (भाग.पुरा.३।२९।११) ८८
मन्त्रा: नानाप्रकारा स्यु... (बृह.देव.१।३४-३९) भू.४९
मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो... (पाणिनीयशिक्षा.५२) ३३,३५
मन्त्रोपासन-वैदिकतान्त्रिक... (भक्तिहं.२) भू.७७
मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्... (भाग.पुरा.११।२६।२४) भू.६८
मयि आवेश्य मनो ये मां... (भग.गीता १२।२) ६०
मयि सञ्जायते भक्ति... (भाग.पुरा.११।१९।२४) ७२
मय्यावेश्य मनो ये माम्... (भग.गीता १२।२) ३१
मल्लिंगमद्भक्तजनदर्शन... (भाग.पुरा.११।११।३४) ६६
महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसाम्... (भाग.पुरा.५।१४।४४) ७५
माहेश्वरपुराणानि... (पराशरोपपुरा.३।११) ३३
मां यजन्तो अध्वरै युक्ता... (भाग.पुरा.१०।७३।२१) ५५,५७
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य... (भग.गीता ९।३२) ३०

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन... (भाग.पुरा.११।२७।५३) ४४
मासम् अग्निहोत्रं जुहोति... (कात्या.श्रौ.सू.४।२६) ३८
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ... (त.दी.नि.१।४२) ८८
मूलं कृष्णो ब्रह्म च... (महाभा.आदिप.१।१।१०२) ३३,३४
मृत्वा पुन मृत्युम् आपद्यन्ते... ( ) ११
यः पूजयेत माम्... (भाग.पुरा.११।२७।५३) ४९
यं यं वापि स्मरन्भावं... (भग.गीता ८।६) ५९
यक्षे विभूती भवत तत्... (भाग.पुरा.१०।७२।३) ५६
यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण... (भाग.पुरा.१०।७०।४१) ५५,५७
यच्च दुःखं यशोदाया... (निरो.लक्ष.१) भू.९४
यतो वाचो निवर्तन्ते... (तैत्ति.उप.२।८-९) भू.७५
यत् कर्मभि यत् तपसा... (भाग.पुरा.११।२०।३२-३३) ४७
यथा अद्रिप्रभवा नद्य... (भाग.पुरा.१०।४०१०) ५८,७९
यथा अनुष्ठीयमानेन त्वयि... (भाग.पुरा.११।१७।२) २,६३
यथा भक्ति प्रवृद्धा स्यात्... (भक्तिव.१) भू.५७
यथा यथा आत्मा परिमृज्यते... (भाग.पुरा.११।१४।२६) ६४
यथा विक्रीतस्य गवाश्वादे... (भाग.पुरा.श्रीधरी.७।५।२३) ६२
यथाक्रतुः अस्मिन् लोके... (छान्दो.उप.३।१४।१) ५९
यदा भूतपृथग्भावम्... (भग.गीता १३।३०) भू.६१
यदा यम् अनुगृह्णाति भगवान्... (भाग.पुरा.४।२९।४६) १९
यद् न योगेन सांख्येन... (भाग.पुरा.११।१२।९) ९,५९
यद् वाचा अनभ्युदितं... (केनोप.१।४) भू.७५
यमेव एष वृणुते... (कठोप.१।२।२३, मुण्ड.उप.३।२।३) भू.५७,८,१९
यस्य अनुग्रहम् इच्छामि... (स्क.पुरा.१।४।१६।३०?) १२
यस्य पर्णमयी जुहू भवति... (तैत्ति.संहि.३।५।७।२) ३७
यस्य वेदश्च वेदी च... (कूर्मपुरा.२।२१।२७) २३
यस्य स्मृत्या च नामो... (श्रीविष्णुपूजास्तोत्र.४२) ४१
याम् इमां पुष्पितां वाचं... (भग.गीता २।४२) ६०

यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति...	( )	४५
यावद् देहो अयं तावद्...	(सुबो.३।२८।२)	भू.६५
येऽपि अन्यदेवताभक्ता...	(भग.गीता ९।२३)	४३
येतु अक्षरम्...	(भग.गीता १२।३)	६०
यो यो यां यां तनुं भक्तः...	(भग.गीता ७।२१)	४३
यो वा अयथादेवतम् अग्निं...	(तैत्ति.संहि.५।७।१)	भू.४७
यो वै भूमा तत् सुखं...	(छान्दो.उप.७।२४-२५)	भू.५४
योगाः त्रयो मया प्रोक्ता...	(भाग.पुरा.११।२०।६)	५२,५५
रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्त...	(त.दी.नि.प्र.२।१७-२०)	भू.७६
वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपने...	(भाग.पुरा.११।२७।३२)	८४
विशिष्टरूपं वेदार्थ फलं...	(त.दी.नि.प्र.२।२२०-२२२)	भू.७१
विश्वदेवाः उपांशु यष्टव्या...	( )	५७
विष्णुरुपांशु यष्टव्यः...	( )	५६,५७
वेदैश्च सर्वै अहमेव वेद्य...	(भग.गीता १५।१५)	२४
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा...	(भाग.पुरा.११।११।३७)	६६
वैष्णवतन्त्रवचनात् 'माहात्म्यज्ञान...	(भाग.सुबो.१।१।१)	भू.९१
वैष्णवानि पुराणानि...	(पराशरोपपुराण.३।१४)	३३,३४
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं...	(भ.व.२-४)	भू.८४
शिष्य ते अहं शाधि मां प्रपन्नम्...	(भग.गीता २।७)	भू.६८
शेष परार्थत्वात्...	(मीमांसासूत्रवृत्ति न्या.बि.३।१।२)	भू.५०
श्रद्धा अमृतकथायां मे...	(भाग.पुरा.११।१९।२०)	१,४
श्रवणं कीर्तनं विष्णो...	(भाग.पुरा.७।५।२३)	२४
श्रिया पुष्ट्या गिरा...	(सुबो.१०।३६।५५)	भू.५८
श्रीकृष्णः स्वात्मनः...	(गायत्रीव्या.१-३)	भू.१०१
श्रुतिस्मृती ममैव आज्ञे य...	(वाधूलस्मृति.१९५)	भू.६७,६,८६
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा...	(विदुरनीति.२)	भू.६३
श्रोतव्यो मन्तव्यो...	(बृह.उप.२।४।५)	२४
स इममेव आत्मानं द्वेधा...	(बृह.उप.१।४।१)	भू.६३

स द्वितीयम् ऐच्छत्...	(बृह.उप.१।४।३)	भू.८०
स वै नैव रेमे...	(बृह.उप.१।४।३,शत.ब्रा.१४।४।२।४)	१७
संशयात्मा विनश्यति...	(भग.गीता ४।४०)	५१
सएव भक्तियोगाख्य...	(भाग.पुरा.३।२९।१४)	७७
सएव हि जगत्कर्ता तथापि...	(त.दी.नि.१।७७)	भू.७८
सकृदेव प्रपन्नो य तव...	(गरु.पुरा.१।२१९।११)	७३,७४
सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयो...	(त.दी.नि.१।२९-३०)	भू.६४
सत्वेव सौम्य इदम् अग्रे...	(छान्दो.उप.६।२।२-३)	भू.५३
सत्संगलब्धया भक्त्या...	(भाग.पुरा.११।११।२५)	६६,६७,८३
सम्बन्धिनस्तु ये जीवा...	(पु.प्र.म.२२-२५)	भू.७०
सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रिया...	(पु.प्र.म.८-१०)	भू.५९
सर्वं कर्माखिलं पार्थ...	(भग.गीता ४।३३)	११
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्...	(ब्र.सू.१।२।१)	२४,३०
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं...	(भग.गीता १८।६६)	भू.६८
सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्य...	(ब्र.सू.३।३।१)	२४,३०
सर्वस्य वशी सर्वस्य इशान...	(बृह.उप.४।४।२)	२९,३०
सर्वाणि रूपाणि विचित्य...	(तैत्ति.आर.३।१३।२)	भू.९३
सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति...	(कठोप.१।२।१५)	२४,२९
सर्वेषाम् आत्मजो हि...	(भाग.पुरा.१०।४६।४२)	भू.४७
सर्वेषु वर्णेषु तथा आश्रमेषु...	(क्रमदीपिका.१।४)	३६
सविशेषणे हि विधिनिषेधौ...	(लौ.न्या.सा.१५७)	१५,१६
सा परानुरक्ति ईश्वरे...	(शां.भ.सू.१-१९)	भू.१२,७६
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य...	(भाग.पुरा.३।२९।१३)	७७
सुदृढ सर्वतोऽधिकस्नेहस्तु...	(सुबो.१।१।१)	भू.५२
सृष्ट्यादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्ति...	(भाग.सुबो.१।१।४)	भू.६३
सो अकामयत बहु स्यां...	(तैत्ति.उप.२।६)	१६
स्नेहो भक्ति इति प्रोक्त...	(द्र.त.दी.नि.१।४२)	७६
स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा...	(त.दी.नि.२।२३१-२३२)	भू.५९

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्…	(भाग.पुरा.१०।२।३१)	८६
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्…	(भाग.पुरा.११।२०।३३)	४७
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धिं…	(भग.गीता १८।४५-४७)	भू.६०

* * *